प्रकाशकीय

जिन शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक, समता विभूति, विद्वद् शिरोमणि, समीक्षण ध्यान योगी, बाल ब्रह्मचारी, चारित्र चूड़ामणि, आचार्य प्रवर श्री १००८ श्री नानालालजी म. सा. का निर्ग्रन्थ परम्परा के सन्तों में विशिष्ट स्थान और महत्त्व है।

आज से ६४ वर्ष पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया सं. १९७७ को मेवाड़ के दांता ग्राम में आपका जन्म हुआ। १९ वर्ष की अवस्था में सं. १९९६ में संसार के प्रति निर्मोही बनकर, आन्तरिक वैराग्य भाव से आपने शान्त क्रान्त द्रष्टा स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. के पास जैन भागवती दीक्षा अंगीकृत की। सं. २०१९ में माघ कृष्णा द्वितीया को आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

अपने आचार्यत्व काल में आपने धर्म और अध्यात्म, जीवन और समाज के नानाविध क्षेत्रों में समता दर्शन के रूप में युगान्तरकारी चिन्तन प्रस्तुत किया। समता दर्शन का ही क्रियात्मक रूप प्रतिफलित हुआ धर्मपाल प्रवृत्ति के पल्लवन एवं प्रसरण में। इस प्रवृत्ति के माध्यम से मालवा क्षेत्र के अस्पृश्य कहे जाने वाले बलाई जाति के हजारों लोगों को व्यसनमुक्त एवं सुसंस्कारी बनाने में आपके सदुपदेशों की अदम्य प्रेरणा रही है।

आज चारों ओर हर क्षेत्र में विषमता व्याप्त है। आर्थिक विषमता को तो वैज्ञानिक साधनों के माध्यम से अधिक उत्पादन कर एवं रोजगार के अधिकाधिक साधन सुलभ कर, आय के स्रोत बढ़ाकर मिटाया जा सकता है पर जब तक मानसिक विषमता बनी रहती है तब तक सारे बाहरी साधन कारगर सिद्ध नहीं होते, विषमता ज्यों की त्यों बनी रहती है। फलितार्थ यह कि सम्यक् दृष्टि एवं समता-दर्शन का विकास होने पर ही विषमता से मुक्त हुआ जा सकता है।

सम्यक् दृष्टि एवं समता-दर्शन के विकास के लिए समीक्षण ध्यान का अभ्यास जरूरी है। परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानेश ने इन वर्षों में समीक्षण ध्यान पर विशेष बल दिया है। समीक्षण का अर्थ है—सम्यक्

प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना, निरीक्षण करना। 'सम'+'ईक्षण' इन दो शब्दों के मेल से 'समीक्षण' शब्द बना है। 'सम' का अर्थ है— समता अथवा सम्यक् और 'ईक्षण' का अर्थ है देखना। अतः समीक्षण का तात्पर्य हुआ अपनी ही वृत्तियों को सम्यग्रीत्या समभावपूर्वक निश्चित रूप से देखना। इस अभ्यास-क्रिया से द्रष्टाभाव का विकास होता है जो सुख-दुःख, यश-अपयश, मान-अपमान, लाभ-हानि, जीवन-मृत्यु में समता-भाव स्थापित करता है। आचार्य श्री के प्रवचनों में इस समता भाव पर विशेष बल रहता है।

आचार्य श्री जैन आगमों और शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान् होने के साथ-साथ गूढ़ व्याख्याता भी हैं। जैनेतर धर्म और दर्शनों का भी आपका गहरा अध्ययन है। यही कारण है कि आपके प्रवचनों में भारतीय-दर्शन की समग्रता का बोध होता है।

समता दर्शन और व्यवहार, पावस प्रवचन भाग १ से ५, नव-निधान, ताप और तप, आध्यात्मिक आलोक, आध्यात्मिक वैभव, शान्ति के सोपान, प्रेरणा की दिव्य रेखाएं, प्रवचन-पीयूष, मंगल-वाणी, जीवन और धर्म, अमृत-सरोवर आदि पुस्तकों में आपके महत्त्वपूर्ण प्रवचन संकलित-सम्पादित हैं।

'समीक्षण धारा' नाम से यह नया प्रवचन-संग्रह आपके हाथों में सौंपते हुए हमें प्रसन्नता है। इसमें आचार्य श्री के सं. २०३९ के अहमदाबाद चातुर्मास के २४ प्रवचन संकलित हैं। इसका सम्पादन पं. र. श्री ज्ञान मुनिजी ने किया है और परिष्कार आदि में डॉ. नरेन्द्र भानावत का सहयोग मिला है। इसके संकलन में अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ के मंत्री श्री पीरदानजी पारख का विशेष श्रम रहा है। इसके प्रकाशन में श्री फतेचन्दजी कोठारी ने अपनी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती सम्पतदेवी की पुण्य स्मृति में आर्थिक सहयोग प्रदान किया है। अतः हम इन सबके प्रति आभारी हैं।

आशा है, इन प्रवचनों के पठन-पाठन से जीवन एवं समाज में समीक्षण धारा का विकास होगा।

—गुमानमल चौरड़िया
संयोजक, साहित्य समिति
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

११ अगस्त, १९८४

दो शब्द

आधुनिक युग का प्रत्येक मानव मेण्टल टेनसन से ग्रस्त नजर आ रहा है। तनाव मुक्ति के लिये अथक क्रियान्विति में कोई कमी नहीं रखी है जीवन का हर क्षण, हर पल, हर क्रिया-सुख की खोज में ही लगी हुई है। भौतिक विज्ञान की अकल्पित उन्नति में भी मूलभूत हेतु सुख की समीहा ही रही हुई है, जिस अभिप्सा के पीछे मानव ने गगनाङ्गन की परिक्रमा की। भू-गर्भ में पैठ की। जीवन के हर मोड़ पर सुख की खोज की, तथापि कोई आसार नजर नहीं आए। हाँ, यह अवश्य हुआ फुटपाथ पर रहने वाला मानव गगन-चुम्बी महलों में चला गया। फर्श पर सोने वाला, मखमली कालीनों पर सोने लगा। फल–फूल खाकर जीवन निर्वाह करने वाला छप्पन-भोग खाने लगा। वल्कल भी जहाँ नसीब नहीं थे, वहाँ आज आधुनिक परिधान में सज गया। भौतिकता की इस घुड़दौड़ ने उसे निश्चित ही बाह्य रूप से सजाया और संवारा है। किन्तु इस सजावट के पीछे उसे बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा, बहुत बड़ी क्षति सहन करनी पड़ी। परिणाम स्वरूप आजतक उसका अन्तरंग रूप निखर नहीं पाया। जिस चैन की साँस, भौतिकी सजावट के बिना आदिम युग में लेता था। गहरी निद्रा, अंग-अंग ताजगी भर देती थी। फुट-पाथ का निवास और फर्श का शयन भी सुख की अनुभूति कराने वाला था। वहाँ आज भौतिकता ने उससे सब कुछ छीन लिया। गगन-चुम्बी महलों में करोड़ों की सम्पत्ति को लेकर चलने वाले श्रेष्ठीवर्यों को मखमली कालीन पर भी नींद नहीं आती। काम्पोज की गोलियाँ लेकर भी उचट पड़ते हैं। वैचारिक तनाव ने उसके अनन्तर के जीवन को क्षत-विक्षत कर डाला है। जिस विनाश के कगार पर खड़ा वह आर्तनाद कर रहा था–शान्ति के लिए, सुख के लिए। उसी कगार से वह अशान्ति के गर्त में कूद पड़ा है। कगार पर तो आर्तनाद की ही अभिव्यक्ति थी, किन्तु अब दुःखों का अशान्ति का किंवा विषमता का भयानक ज्वाला-मुखी फूट पड़ा है। जिसमें झुलस-झुलस कर उसने अपनी भीतरी क्षमा, शान्ति, मानवता की भव्य सजावट को राख बना डाली। आज वह अशान्ति की जिस गहराई में उत्तर गया है; जिसमें इस कदर ओत-प्रोत हो गया है। यही नहीं जिस पंकिल में इतना अधिक फंस गया है कि उससे उभरना, बाहर निकलना असंभव तो नहीं दुसाध्य अवश्य है।

उस भयानक गर्त से निकलने के लिये उतना ही सशक्त अवलम्बन चाहिये। कच्चे तारों के सहारे उभर पाना कभी सम्भव नहीं है, ऐसी विकट स्थिति में भी मानव का चिन्तन यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में गतिमान नहीं हो पा रहा है। अन्धेरे में निशाना साधने की तरह ही उसकी अथक: अविराम गति भी निर्थक जा रही है।' जब तक गति में मोड़ नहीं आयेगा। विचारों में संशोधन नहीं होगा, सशक्त अवलम्बन नहीं पाएगा। तब तक एक जन्म नहीं दो जन्म नहीं, अनन्त जन्मों, एक शताब्दि नहीं, दो शताब्दि नहीं अगणित शताब्दियों के अतीत में चले जाने पर भी वह उसी स्टेज पर रहेगा, जिस स्टेज पर आज है। वल्कि आज की स्टेज से गिरावट सम्भावित है, किन्तु उन्नति तो पदमपि—संभावित नहीं।

अन्तरंग की क्षत-विक्षत सजावट को सुसज्जित करने के लिये शक्ति के प्रवाह को अन्त: में प्रवाहित करना होगा। शक्ति के बाह्य प्रभाव ने ही तो शान्ति का प्रलयकारी रूप उपस्थित किया है। अब इस बाह्य प्रवाह को अन्त: में प्रवाहित करना होगा। अन्तरंग का भू-गर्भ बहुत विशाल और व्यापक है। अगनित गुफाएं-प्रतिगुफाएं हैं। यदि गतिक्रिया लक्ष्यानुरूप न हो तो गुफा-प्रति गुफा में प्रवेश संभावित है। जिस गुफ से उभरना तथा पुन: लक्ष्यानुरुढ होना अतीव दुर्लभ है। लक्ष्यानुरुप अन्त: गति के लिये समर्थ निर्देशक और सशक्त अवलम्बन यदि इस भौतिकता की चकाचौंध में कुछ है तो प्रभु महावीर का शासन और उसके विचरण करने वाले समता विभूति आचार्य श्री नानेश की आगमिक सिद्धान्त पर प्रतिपादित समीक्षण ध्यान साधना की मौलिक पद्धति।

अनन्त आकाश का सीमा बन्धन नहीं किया जा सकता पोद्-गलिक अनन्तात की वाचिक अभिव्यक्ति संभवित नहीं। लोकान्तता की उपलब्धि दैनिक दौड से भी संभवित नहीं। अन्तरंग की असलियत, व्यक्ति भौतिकता की दौड़ से भी संभवित नहीं। लेकिन ज्ञाता एवं भाव संभवित है। एक ही स्थान से अनन्तता का ज्ञान एवं किया जा सकता है। जीवन की गहराईयों में उतर कर अनंत, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति को शाश्वत् रूप से व्यक्त किया जा सकता है। अनन्त, अनंत-अनंत शक्ति का स्रोत, -अनंत स्रोत बाहर नहीं, भीतर ही हैं। अनन्तता तक गति नहीं विज्ञप्ति हो सकती है। इस विज्ञप्ति के लिये समीक्षण साधना

पद्धति को समझना होगा। इसका मूल बीज तो बहुत प्राचीन है, तीर्थंकर काल से चला आ रहा है। स्वयं प्रभु महावीर ने इस समीक्षण द्वारा ही धर्म की मौलिक व्याख्या व्याख्यापित की थी। किन्तु इस मूल बीज को विशाल वृक्ष का रूप कैसे दिया जाय ? कैसे विकसित किया जाय। इस पद्धति से अपरिचित जनता के लिए, वह एक अभिनव ध्यान साधना पद्धति बन गई है। समीक्षण साधना की गहराई में उतरने के लिए आचार्य प्रवर "समीक्षण ध्यान प्रयोग विधि" के नाम से प्राथमिक भूमिका जनता के समक्ष रख चुके हैं।

उस ध्यान साधना का साकार रूप हमारे जीवन में कैसे आ सकता है। हमारे जीवन की हर कार्य प्रणाली समीक्षण अनुरंजित कैसे हो सकती है। हमारा हर दृष्टिकोण समीक्षक कैसे बन सकता है? हमारा हर विचार समीक्षण अनुरंजित कैसे हो सकता है। इस बात का स्पष्टीकरण किया– आचार्य प्रवर ने ऐतिहासिक वर्षावास अहमदाबाद के प्रवचनों में।

उसमें जीवन की हर गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया गया है। जीवन की हर गुत्थी को विमोचित करने का प्रावधान रखा गया है। जीवन के हर तार को व्यवस्थित करने की रूपरेखा रखी गई है। जीवन का हर क्षण शान्ति-पूर्वक किस प्रकार व्यतीत हो; मेन्टल टेन्सन से मुक्ति एवं आत्म शान्ति किस प्रकार प्राप्त हो एतद् विषयक मार्मिक विवेचना प्रस्तुत की गई है।

आचार्य प्रवर की विवेचना बहुत ही तलस्पर्शी, सैद्धान्तिक सयुक्तिक, वैज्ञानिक एवं व्यवहारिक रही है।

प्रवचनों के सम्पादन में आचार्य प्रवर के प्रवेचित भावों को शब्दों की श्रृंखला में संयोजित करने का प्रयास किया गया है। कहीं स्खलना रह गई हो तो अध्येता भव्यों द्वारा योग्य सशोधन अपेक्षित है।

२१–१०–८३
शुक्रवार, भावनगर

"मुनि ज्ञान"

धर्मपरायणा श्राविका

स्वर्गीया श्रीमती सम्पतदेवी कोठारी

जैन-शासन के चार स्तम्भ हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु-साध्वी द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर श्रावक-श्राविकागण सद्गृहस्थ धर्म का सम्यक्रूपेण परिपालन करते हैं। श्रीमती सम्पतदेवी कोठारी एक आदर्श श्राविका थीं।

आपका जन्म सं० १९८१ में श्रावण कृष्णा एकम को सुजानगढ़ निवासी श्री पन्नेचन्दजी सिंघी के सुपुत्र श्री चैनरूपजी सिंघी के यहाँ हुआ। आपका विवाह चूरू के प्रतिष्ठित श्रावक श्री सरदारमलजी कोठारी के पड़पोते, श्री चम्पालालजी के सुपुत्र फतेचन्द्रजी के साथ सम्पन्न हुआ। श्री फतेचन्द्रजी मानव-सेवा के प्रति समर्पित व्यक्ति हैं।

बाल्यकाल से ही सुसंस्कार सम्पन्न परिवार का प्रभाव आप पर पड़ा। फलस्वरूप आपकी धार्मिक भावना बढ़ती गई और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर अनुकूल वातावरण मिलने से वे और अधिक गहरी हुईं।

श्रीमती सम्पतदेवी सरलमना कर्त्तव्यनिष्ठ धार्मिक महिला थीं। आपके मन, वचन और कर्म में एक सा व्यवहार था। आपने धर्म को आचरण में ढाला था। सबके प्रति आपके मन में प्रेम और मैत्री का भाव था यद्यपि आप श्री फतेचन्द्रजी की द्वितीय पत्नी के रूप में विवाहित थीं और श्री फतेचन्द्रजी को प्रथम पत्नी से श्री बजरंगलालजी के रूप में एक पुत्र प्राप्त था तथापि आपने उनका लालन-पालन इस प्रकार किया मानों आप उनकी सगी माँ से भी बढ़कर हो। आपके दो पुत्र श्री कमलसिंह व श्री शान्तिलालजी हैं तथा पाँच पुत्रियाँ विमलादेवी, सुशीलादेवी, कमलादेवी, निर्मलादेवी व शकुन्तलादेवी हैं। सभी धर्मपरायण और कर्त्तव्यनिष्ठ हैं।

आप स्वभाव से धीर गम्भीर, कष्टसहिष्णु, उदार और दयालु थीं। प्रत्येक के सुख-दुःख में भागीदार बनना आपका स्वभाव था। आप प्रसन्न मन सबकी यथायोग्य सहायता करती थीं।

अन्तिम दिनों में आप उदर के कैंसर जैसे असाध्य रोग से पीड़ित हो गई थीं। असह्य वेदना होते हुए भी आप उसे समभाव पूर्वक सहन करती रहीं। सं० २०३४ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्दशी को समाधिपूर्वक आपका स्वर्गवास हुआ।

आपकी पुण्य स्मृति में आपके परिवार द्वारा इस पुस्तक के प्रकाशन में जो आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए संघ आभारी है।

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
१.	समीक्षण-समीक्षा	१
२.	समीक्षण का प्रभाव	१४
३.	करुणा-तीक्ष्णता-समीक्षण	२५
४.	करुणा बनाम अभय	३४
५.	करुणा के तीन रूप	४४
६.	पुद्गलानंदी नहीं आत्मानंदी बनो	५३
७.	मानव जीवन और क्रियावती शक्ति	६५
८.	कर्म विमुक्ति में सहायक पुण्य	७६
९.	समीक्षण श्रेय और प्रेय का [१]	९०
१०.	समीक्षण श्रेय और प्रेय का [२]	१०२
११.	इन्द्रिय-समीक्षण	११३
१२.	भौतिक और आध्यात्मिक समीक्षण	१२५
१३.	क्रिया-प्रतिक्रिया समीक्षण	१४१
१४.	निज स्वरूप क्या है ?	१५४
१५.	आत्मा से आत्मा का समीक्षण	१६५
१६.	मूल्यांकन : मानव जीवन का	१७५
१७.	भौतिकता और आध्यात्मिकता समीक्षण	१८७
१८.	बेड़ियां मोह का	१९६
१९.	भाव अध्यातम निज गुण साधे	२०६
	रक्षाबन्धन : एक विश्लेषण	२१५
	आत्मा का रक्षक कौन ?	२२९
	समीक्षा : भूगोल-खगोल की	२४०
	अहिंसक देश में घोर हिंसा	२४९
	मानव और मानवता	२६९

---

[१]

समीक्षण - समीक्षा

- बुद्धि की निर्मलता
- अहमत्व ममत्व का विनाश हो
- एसो पंच णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो
- तर्क से अगम्य, मति से अग्राह्य आत्म-स्वरूप
- नमन की विधि
- संधियों का झुकाव
- संधियाँ क्या हैं ?
- समीक्षण से अवलोकन प्रभु का
- राधा वेध और समीक्षण ध्यान
- एक नमन से सभी पापों का विनाश
- बाहुबलीजी की अन्त: विचारणा
- समीक्षण पूर्वक नमन हो

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसाय जे थावर जेयपाणा :
से निच्च निच्चेहिं समिक्खपन्ने,
दीवे व धम्मं समियं उदाहु ।।

—सूत्रकृताङ्ग सूत्र १/४/६

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, प्रज्ञा पुरुष प्रभु महावीर, ऊर्ध्व लोक, अधः लोक, तिर्यक् लोक में स्थित त्रस एवं स्थावर जीवों की नित्यता एवं अनित्यता का समीक्षण कर दीपक के समान धर्म का समीक्षण करते हैं । जब दृष्टि में समीक्षणता आती है तभी अन्तश्चेतना यथार्थ वस्तु विज्ञान में सक्षम बन सकती है । प्रभु ने स्पष्ट कहा है :—

पण्णा समिक्खए धम्मं

प्रज्ञा से धर्म का समीक्षण करो । समीक्षण ध्यान साधना पूर्वक ही जीवन का चरम एवं परम स्वरूप प्राप्त हो सकेगा ।



यस्य ज्ञान-मनन्त वस्तु विषयं यः पूज्यते दैवतै,
नित्यं यस्य वचो न दुर्नय कृतै कौलाहलैर्लुप्यते ।
राग-द्वेष मुख द्विषां च परिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सा,
स श्री वीर विभुर्विधूत कलुषां बुद्धिं विधत्तां मम ।।

सुज्ञ बंधुओ ! इस श्लोक के माध्यम से चरम तीर्थङ्कर प्रभु महावीर के चरणों में दार्शनिक शैली में आत्म निवेदना प्रस्तुत की गई है ।

श्लोकगत पंक्तियों में बतलाया गया है कि भगवन् ! आप अखिल वस्तु-स्तोम के विज्ञाता केवल (सम्पूर्ण) ज्ञान के धारक हैं। देवगण सदा सर्वदा आपकी अर्चना करते हैं । दुर्नय रूप वचन-प्रवाह आपकी वचन गरिमा को लुप्त नहीं कर सकता । राग-द्वेष रूप महारिपुओं को जीतकर आपने भीतर के शत्रु व्यूह का भेदन कर डाला है ।

बुद्धि की निर्मलता

हे प्रभु ! **"विधूत कलुषां बुद्धिं विधत्तां मम"** आप मुझे काषायिक वृत्तियों रहित, निर्मल समीक्षण बुद्धि प्रदान करें ।

यद्यपि यह ध्रुव मान्यता है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी सिद्ध अवस्था सम्पन्न परमात्मा हमें कुछ भी नहीं देते तथापि प्रस्तुत श्लोक में निर्मल बुद्धि की याचना की गई है, इससे यह तात्पर्य है कि मुमुक्ष आत्मा सिद्धों को आदर्श रूप में मानकर स्वयं के भीतर विराजमान सिद्धत्व स्वरूप को उद्भाषित करने के लिए प्रयत्नशील बनें । क्योंकि शास्त्रकारों की दृष्टि में तो **"अप्पा सो परमप्पा"** आत्मा ही परमात्मा है । विश्व की समस्त आत्माओं में परमात्मा की शक्ति निहित है । आवश्यकता है उसके ऊपर आगत पर्तों को उखाड़ फेंकने की । इसी के लिए प्रभु से प्रार्थना की जाती है, फलस्वरूप हमारी आत्मा पुरुषार्थशील बने ।

अहमत्व-ममत्व का विनाश हो

जो सत् चित् आनन्द घन वाला सिद्धत्व स्वरूप कर्माच्छादित है, वह क्यों है ? यह आवरण सहेतुक है या अहेतुक ? एतद् विषयक चर्चा का अभी अवकाश नहीं है । परन्तु यह तो निश्चित ही है कि विश्व में

जितनी भी आत्मायें हैं—चाहे उनका शरीर लघु हो या स्थूल पर हैं वे आनन्द घन रूप ही। ऐसा आनन्द घन रूप संसारी प्राणियों के अन्यान्य काषायिक रंगों से विकृत हो चुका है। उन रंगों को हटाने के लिए सबसे पहले बुद्धि को निर्मल बनाया जाय, बुद्धि की निर्मलता पर दृष्टि समीक्षक बन सकेगी।

बुद्धि की निर्मलता तथा समीक्षण अवस्था को पाने के लिए साधक को सबसे पहले अहमत्व और ममत्व को विसर्जित करना आवश्यक है। इन दोनों तत्त्वों की विद्यमानता में बुद्धि में निर्मलता, विमलता, समता, शान्ति नहीं आ सकती।

एसो पंच णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो

समता, शान्ति को पाने की यदि सच्ची जिज्ञासा, सच्ची भूख हो तो आदर्श उस सत् चित आनन्द घन को नमन करें। वह नमन किस रूप में हो, क्या विधि है उसकी? यह जान लेना भी आवश्यक है। यद्यपि नमन करने की अनेक विधियां हैं। नमस्कार महामंत्र के रूप में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। इस नमस्कार महामंत्र की फल श्रुति के पद रहस्यात्मक और बहुत ही महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण की ओर इंगित करते हैं—

"एसो पंच णमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो"

अर्थात् पंच परमेष्ठी को किया गया नमस्कार, सभी पापों का विनाश करने वाला होता है। इस नमस्कार मंत्र की फलश्रुति को सुनकर आज का, आधुनिक युग का, बीसवीं सदी का प्राणी, जो वैज्ञानिक युग के प्रत्यक्षीकरण में जी रहा है, वह उस पर विश्वास नहीं कर सकता। उसका कहना है कि जब नमस्कार मंत्र का जाप कर लेने मात्र से सभी पापों का विनाश हो जाता है तो फिर अन्यान्य तप, जप, कठोर साधना करने की क्या आवश्यकता है?

तर्क से अगम्यमति से अग्राह्य आत्म-स्वरूप

तर्क का युग है। हर चिन्तनशील व्यक्ति तर्क से समझना चाहता है और वह उचित भी है। किन्तु विशिष्ट आत्माओं की दृष्टि में तर्क

का उतना महत्त्व नहीं है। आत्मा के परम स्वरूप की विज्ञप्ति तर्क द्वारा नहीं हो सकती।

"तक्का तत्थ न विज्जइ मइ तत्थ न गाहिया।"

तर्क से वह परम स्वरूप जाना नहीं जा सकता, मति उस विषय को ग्रहण नहीं कर सकती।

तर्क से अगम्य होते हुए भी प्रारम्भिक साधना पथ पर चलने वाला साधक, साधना पथ पर गति करने के लिए सतर्क समाधान चाहता है। जब उसे हृदयग्राही सचोट समाधान मिल जाता है तो वह साधना पथ पर मनोयोग पूर्वक गति कर सकता है। हाँ तो मैं कह रहा था कि नमस्कार मन्त्र के उच्चारण से सभी पापों का विनाश कैसे हो सकता है?

प्रश्न किया जिज्ञासुओं ने और साथ ही प्रतिक्रिया भी, कि हम इस नमस्कार मन्त्र का एक बार, दो बार नहीं, लाखों बार जप कर चुके हैं। हमारे तो सभी पापों का नाश हो ही गया होगा। हम तो अब निष्पाप बन गए, अब कोई साधना करना अवशेष रहना ही नहीं चाहिए।

अन्य स्थल पर भी ऐसी ही बात कही है :—

"एक्को विणमोक्कारों, जिणवर सहस्स वद्धमाणस्स।
संसार सागराओं तारेइं, नरं वा नारीं वा॥"

जिनेश्वर ऋषभ भगवंत से लेकर वर्द्धमान पर्यन्त जिनेश्वरों को किया गया एक नमस्कार भी संसार-सागर से पार उतारने वाला होता है, चाहे नमस्कार करने वाला नर हो या नारी हो!

एक नमस्कार से ही सभी पापों का नाश हो जाता है, लेकिन हमारे द्वारा इतना नमस्कार करने पर भी पापों के विनाश पर होने वाला जीवन में रूपान्तरण कुछ भी नहीं हुआ।

नमन की विधि

प्रश्न बहुत सहज, सुबोध प्रतीत होता है, लेकिन अपने पीछे गहरा

चिन्तन छोड़ जाता है। पाँचो पदों को नमस्कार करना तो बहुत है, यदि केवल एक ही पद की सम्यक् विधि से नमस्कार हो जाय तो सत्चित आनन्दघन का स्वरूप प्राप्त किया जा सकता है।

लेकिन आज नमन विधि से कहां हो रहा है, कोई किस विधि से कर रहा है तो कोई किसी अन्य विधि से कर रहा है। आप गुरु वन्दन भी करते हैं तो किसी तरीके से थोड़ा सिर झुका लिया, थोड़े से हाथ जोड़ लिए, अधिक हुआ तो दोनों घुटने जमीन पर टिका दिये और ज्यादा हुआ तो दोनों हाथ भी जमीन पर टिका दिए और तिक्खुतो के पाठ का उच्चारण कर लिया! मन में सोच लिया कि हमने वन्दन कर लिया। परन्तु यह चिन्तन कम किया जाता है कि हमारी वन्दन विधि कहां तक उचित है? हमारा यह उच्चारण कहीं तोता रटन तो नहीं हो रहा है? जीवन में विषयासक्ति कितनी क्या अठखेलियाँ खेल रही है? भौतिक लालसाओं का प्रवाह कितना क्या काम कर रहा है? जब तक अन्तरंग जीवन का संशोधन सही रूप से नहीं होगा तब तक नमस्कार मंत्र के पदों को किया गया एक नहीं अनेकों बार का नमन भी सार्थक नहीं हो सकता।

संधियों का झुकाव

भगवान् महावीर की प्रथम देशना जो आचारांग सूत्र के माध्यम से आई है, उसमें कहा है कि :—

आयत चक्खू लोग विपस्सी, लोगस्स अहो भागं।
जाणई, उड्ढ भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ॥

दीर्घदर्शी पुरुष लोकदर्शी होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है, तिरछे भाग को जानता है।

शास्त्र का अर्थ बहुत गम्भीर है। प्रभु ने लोक को देखने का संकेत किया है। अनेक आचार्यों ने सूत्र की व्याख्या करते हुए, लोक में चवदह रज्ज्वात्मक लोक अर्थ लिया है, इसको देखा जाय, पर इस [illegible] तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, इस शरीर पिण्ड को भी कहा गया है। इसके अन्दर भी तिर्यक् लोक, ऊर्ध्व लोक और

अधःलोक विद्यमान हैं । हमारे शरीर का अधःभाग अधो लोक, मध्य भाग तिर्यक् लोक और ऊर्ध्व भाग ऊर्ध्व लोक है ।

उस लोक को देखना है । प्रश्न होगा कि क्या देखें ? और कैसे देखें ? समाधान के अगला वाक्य आया "संधि विइत्ता इहमच्चीएहिं" तुम अपनी संधियों को जानकर उन्हें झुकाओ और द्रव्य भाव से मुक्त बनो ।

संधियाँ क्या हैं ?

संधियाँ क्या हैं ? यह भी समझना आवश्यक होगा । ऊपरी तौर पर शरीर की तीन संधियाँ ली जाती हैं । कुछ संक्षिप्त विस्तार से १४ संधियाँ भी ली जाती हैं जो झुक जाती हैं । परन्तु नमन की प्रक्रिया इन संधियों तक ही सीमित नहीं है । शरीर के अन्दर तेंतीस सौ संधियाँ हैं । उन सभी को सम्यक् विधि से झुकना होगा ।

सांसारिक प्राणियों के शरीर पाँच होते हैं—औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस और कार्मण । इन पाँच शरीरों में सभी औदारिक शरीरान्तर्गत स्थूलावस्थान से सम्बन्धित उपर्युक्त संधियाँ हैं । इस देह पिण्ड में स्थूलावस्थान, सूक्ष्मावस्थान, सूक्ष्मतमावस्थान, मूर्छावस्थान, विवेक विकलावस्थान, अज्ञानावस्थान और अनभिव्यक्त आनन्दावस्थान आदि अनेक अवस्थान हैं । इन सबकी व्याख्या समय साध्य है । अभी तो मैं संक्षिप्त रूप से इतना ही कहना चाह रहा हूं कि नमन करने के लिए पहले स्थूलावस्थान से सम्बन्धित संधियों को समीक्षण दृष्टि से अवलोकन करना होगा । राग-द्वेष की परिणतियां जब तक मन में रहेंगी, विकृत विचारों का अवस्थान रहेगा । भौतिकता का रंग जमा हुआ रहेगा, तब तक बुद्धि निर्मल नहीं बन सकती और जब तक बुद्धि निर्मल नहीं बनेगी तब तक दृष्टि में भी समीक्षण अवस्था नहीं आ सकती और समीक्षण दृष्टि के अभाव में किया गया अवलोकन कभी भी सार्थक नहीं हो सकता ।

समीक्षण में अवलोकन प्रभु का

स्वयं प्रभु महावीर ने लोक का अवलोकन समीक्षण दृष्टि के साथ

किया था। सूत्रकृताङ्ग सूत्र के वीरस्तुति नामक अध्ययन की गाथा में बतलाया है :—

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसाय जे थावर जेयपाणा।
से निच्च निच्चेहिं समिक्ख पन्ने दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रज्ञा पुरुष प्रभु महावीर ने ऊर्ध्व लोक, अधः लोक, तिर्यक् लोक में स्थित त्रस एवं स्थावर जीवों की अनित्यता का समीक्षण कर, दीपक के समान धर्म को व्याख्यापित किया।

बन्धुओ ! प्रभु के द्वारा सही धर्म की प्ररूपणा भी समीक्षण दृष्टि के आधार पर ही हुई है। जब तक अन्तरंग दृष्टि से राग-द्वेष का मनोमालिन्य नहीं हटता, विचारों में समता भाव नहीं आता, तब तक धर्म की यथार्थ विवेचना नहीं हो सकती।

प्रभु ने स्पष्ट कहा है :—

"पन्ना समिक्खए धम्मं" हे पुरुष ! प्रज्ञा से धर्म का समीक्षण कर। समता के धरातल पर ही बाह्य एवं अन्तरंग का अवलोकन करना है। यह स्थिति ही समीक्षण ध्यान की कोटि में आती है। इस सम्यक् अवलोकन के लिए शरीर की बाह्य और भीतरी दोनों ही प्रकार की जितनी भी संधियाँ हैं उनको झुकाना होगा। बाह्य और अन्तरंग दोनों ही संधियों से जब समीक्षण पूर्वक नमन हो, तो निश्चित रूप से सभी पापों का नाश हो जाएगा।

राधा वेध और समीक्षण ध्यान

कौरवों और पाण्डवों के जीवन का एक प्रसंग है। जब द्रोणाचार्य के पास में वे धनुर्विद्या का अध्ययन कर रहे थे, उस समय भीष्म पितामह आदि संरक्षकों की इच्छा हुई थी कि इनकी परीक्षा आम जनता के बीच में हो। द्रोणाचार्य ने मन्जूरी दे दी। विशाल मैदान का चयन हुआ। [मैदा]न के मध्य में एक स्तम्भ रोपा गया। स्तम्भ के ऊपरी भाग पर मयूर का पंख बांधा गया और स्तम्भ के मूल भाग में एक खड्डा [खोदकर] तेल भर दिया गया। द्रोणाचार्य जी सभी विद्यार्थियों को लेकर [परीक्षा] स्थल पर पहुंचे। यथास्थान बैठने के बाद किस विद्यार्थी को

पहले खड़ा करना चाहिये इसका चिन्तन करने लगे । इधर दुर्योधन अपनी ईर्ष्यालु बुद्धि के अनुसार सोचने लगा कि कि द्रोणाचार्य जी कहीं अर्जुन को पहले खड़ा न कर दें । ऐसा सोचकर वह स्वयं ही सबसे पहले जहां मयूर पिच्छ चाँदले को तीर से बींधने का स्थान था वहां जाकर खड़ा हो गया । धनुष को व्यवस्थित कर निशाना साधने लगा । इतने में द्रोणाचार्य जी ने पूछा—"वीर दुर्योधन ! तुझे क्या दिखलाई दे रहा है ?" गर्व के साथ उत्तर दिया—दुर्योधन ने । "मुझे आप दिखलाई दे रहे हैं, साथ ही सभी दर्शक एवं स्तम्भ, मयूर पिच्छ तथा बाण की नोक भी दिखलाई दे रही है !"

द्रोणाचार्य चिन्तन करने लगे कि यह कितना कठिन विषय है और इस वक्त इसको सब कुछ दिखलाई दे रहा है, यह क्या सफल हो पायेगा ? इसका मन बिखरा हुआ है । फिर भी द्रोणाचार्य उसकी भावना को देखकर बोले—अच्छा ।

इतना सुनते ही दुर्योधन ने तीर चला दिया । फलस्वरूप निशाने पर तीर नहीं लगा । मयूर पिच्छ किधर ही रहा और बाण किधर ही चला गया । लोगों में खूब हँसी हुई । तालियों की गड़गड़ाहट हुई । इतना होने पर भी ईर्ष्यालु दुर्योधन ने अपने बाद अपने ही भ्राताओं को एक के बाद एक को भेजा लेकिन सारे ही उसके भाई असफल रहे । तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन को संकेत किया । अर्जुन खड़ा होकर हाथ जोड़कर सिर झुकाता हुआ बोला—"क्या आज्ञा है आपकी ?" द्रोणाचार्य बोले—"एक ही निशाने में मयूर पिच्छ का चांदला उड़ाना है ।" तथास्तु कह कर अर्जुन ने द्रोणाचार्य एवं तत्रस्थ सभी महानुभावों को नमन करके उपस्थित जन-समूह को नमस्कार किया । तदन्तर नियत स्थान पर पहुंचा । उसका मस्तिष्क ईर्ष्या के दुर्गुणों से रहित था अतएव वह सही सोचने में भी सक्षम था । चिन्तन करने लगा कि स्तम्भ के नीचे ही तेल क्यों भरा गया है । स्वयं की प्रतिभा से उसे बोध हुआ कि चांदला ऊंचा है । ऊपर दृष्टि करने से निशाना चूक जाता है । तेल के अन्दर चांदले का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । इस प्रतिबिम्ब को देखकर निशाना जमाना चाहिये । वैसा ही किया उसने एकाग्रता के साथ । तीर चलाने से पूर्व द्रोणाचार्य ने पूछा—"अर्जुन तुझे क्या दिखता है ?" अर्जुन बोला—"गुरुदेव ! चांदला एवं बाण की नोक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता है ।" द्रोणाचार्य बोले, "बस तुम्हारा कार्य सफल है ।

बाण छूटा और सीधा निशाने पर लगा । जयनाद से गगन मण्डल गूंज उठा ।

द्रोणाचार्य ने कहा—एक ही बाण में चांदला उड़ाने की एकाग्रता अर्जुन को प्राप्त हो गई है । अब यह राधा वेध नाम की विद्या सीखने के योग्य है । उस राधा वेध नाम की विद्या में अत्याधिक एकाग्रता की आवश्यकता रहती है । क्योंकि अनेक पंखड़ियों वाले दो चक्र एक दूसरे के विपरीत दिशा में जोर से घूमते हैं । उन चक्रों के ऊपरी भाग पर निशाना रहता है । उन विपरीत दिशा में घूमते हुये चक्रों के बीच में से निशाना साधना होता है । बन्धुओ ! यह तो एक रूपक है । मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के विचार रूप चक्र परस्पर विपरीत दिशा में घूमते रहते हैं । उन शुभाशुभ विचार चक्रों के बीच से समीक्षण अवलोकन के साथ परमात्मा के तुल्य आत्मा का साक्षात्कार करना, लक्ष्यानुरूप निशाना साधना होता है । इस निशाने को साधने में वही साधक सफल हो सकता है जिसकी दृष्टि बाहर की ओर प्रसृत न होकर स्वच्छ मन में लगती है, उस मन की स्वच्छता, स्निग्धता एवं गम्भीरता में रही हुई है । जिस प्रकार तेल स्वच्छ, स्निग्ध एवं भारी होता है, उसी प्रकार जिस साधक का मन जगत् के प्रत्येक प्राणी के साथ आत्मीय स्निग्धता से युक्त हो याने सभी को अपनी आत्मा के तुल्य देखने की क्षमता हो, विषमता की मलीमष गन्दगी से रहित समता की स्वच्छता से युक्त हो एवं अनेक विकट परिस्थितियों के बावजूद भी धैर्य रूप गम्भीरता से वजनी हो, वही व्यक्ति स्थूलावस्थान आदि की सभी सन्धियों को समीक्षण दृष्टि से देखता हुआ अरिहंत पद के अर्थ के प्रति झुका देता है तो वह एक पद के नमस्कार से सभी पापों का नाश करने में समर्थ हो जाता है, अर्थात् आत्मा एवं परमात्मा के निशाने को साध लेता है ।

एक नमन से सभी पापों का विनाश

जब द्रव्य-भाव उभय प्रकार की संधियों का झुकाव होता है, क्षण दृष्टि बनती है तो साध्यता प्राप्त हो ही जाती है । अर्थात् इस र का नमन सभी पापों का विनाश करने वाला होता है । बाहुबलीजी पक आपने सुना ही होगा । सांसारिक सारा सुख वैभव त्याग दिया । की शक्ति के सामने षटखण्डाधिपति चक्रवर्ती भरत को भी झुकना । जिनका भुजबल बड़े-बड़े योद्धाओं को भस्मसात् करने में समर्थ था ।

लेकिन जब उनके अन्तर्जीवन में विरक्ति का बीज प्रस्फुटित हुआ उन्हें सारा संसार निस्सार लगने लगा। भौतिकता में उन्हें सुख नहीं सुखाभास प्रतीत होने लगा। जलती हुई दुनिया में आत्मा का त्राण-रक्षण करने के लिये युद्ध क्षेत्र में ही पंच मुष्टि लुचंन कर लिया।

खंतो दंतो निरारंभो पव्वइयं अणगरियं।

शान्त, दान्त निरारंभी अनगार के रूप में प्रवर्जित हो गये। चल पड़े आत्म-साधना के विशाल पथ पर। सब कुछ छोड़ दिया, किन्तु अन्तरंग की संधियां नहीं झुक पाईं। अभिमान का विषधर फूत्कार उठा। अहो! मेरे दीक्षित होने से पहले मेरे ही सहोदर ९८ भ्राता दीक्षित हो चुके हैं। मैं उनको कैसे नमन करूं। मैं बड़ा हूं वे छोटे हैं। लेकिन प्रभु के चरणों में जाऊंगा तो अवश्य ही उन्हें नमस्कार करना होगा। इसी विचारधारा ने उनको उद्विग्न बना दिया। अन्त में यह निर्णय लिया कि मैं अभी प्रभु चरण में नहीं जाऊंगा। 'जब तक मैं केवल-ज्ञान प्राप्त न कर लूं; तब तक नहीं जाऊंगा। पापों का विनाश और दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने के बाद मुझे उन लघु भ्राताओं के चरणों में नहीं झुकना पड़ेगा।'

साधना की चरम परिस्थिति पाने के लिये बाहुबलि अणगार गहन-कान्तार में चले जाते हैं। दृढ़ निश्चय के साथ अर्थात् **"देहं पातयामि, कार्यं साधयामिवा"** या तो शरीर को छोड़ दूंगा या कार्य की सिद्धि कर लूंगा। मुझे या तो केवलज्ञान पा लेना है या शरीर छोड़ देना है। ध्यान-साधना में तल्लीन हो जाते हैं।

एक दिन नहीं, दो दिन नहीं, तीन दिन नहीं, एक मास, दो मास नहीं अपितु एक वर्ष बीत गया। बाहुबली अणगार अपनी साधना में हिमानी की भांति अडोल, अप्रकम्प खड़े रहे।

साहित्य भाषा में कहा जाता है कि उनके शरीर पर पक्षियों ने अपने घोंसले बना लिये, चारों तरफ झाड़ियां बन गईं। इतना सब कुछ होते हुये भी उन्हें कहां भान था? शरीर का ममत्व उन्होंने छोड़ दिया था।

एक वर्ष बीत गया, उष्ण ऋतु से शीत ऋतु और शीत ऋतु से वर्षा ऋतु परिवर्तित हो गई लेकिन बाहुबली के अन्तरंग में केवलज्ञान

का लोकोत्तर आलोक आलोकित नहीं हो सका । होता भी कैसे ? क्योंकि अभी तक आन्तरिक संधियां परिपूर्ण रूप से झुक नहीं पाई थीं। मन के एक कोने में अभिमान जो स्थान जमाये बैठा था। छोटे भाइयों को नमन कैसे करूं ? इतना सा अभिमान, इतनी सी विषम दृष्टि उनके केवलज्ञान में बाधक बन रही थी।

जब सती शिरोमणि ब्राह्मी, सुन्दरी के शब्द बाहुबली के कानों में पड़े :—

वीरा मारा गज थकी नीचे उतरो,
गज चढ़िया केवल नहीं पासी रे ।। वीरा ।।

हे भ्रात बाहुबली अणगार ! गज-हाथी से नीचे उतरो । हाथी पर चढ़े-चढ़े केवल ज्ञान प्राप्त नहीं होने वाला है ।

बाहुबलीजी की अन्तःविचारणा

अरे ! मैं कहां हाथी पर खड़ा हूं, मैं तो भूतल पर खड़ा ध्यान-साधना कर रहा हूं । फिर यह ब्राह्मी, सुन्दरी मुझे गज पर चढ़ा कैसे कह रही हैं ? शब्दों की गहराई में उतरे बाहुबली अणगार और रहस्य को पा गये। अहो ! मैं इस बाहरी हाथी पर नहीं, किन्तु अभिमान रूपी हाथी पर चढ़ा हुआ हूं ।

अहो ! यही बाधक है अखिल वस्तु विज्ञान में। जब तक अभिमान का स्तम्भ नहीं टूटेगा, आन्तरिक संधियां नहीं झुकेंगी तब तक आत्म शुद्धि की परम प्रकर्षता प्राप्त हो ही कैसे सकती है । जब मैंने संसार त्याग दिया, राज्य, पाट, वैभव, परिवार आदि सभी सम्बन्धों का परित्याग कर दिया, अब क्या उच्चता और निम्नता का प्रश्न रह गया है ? जीवन का ही रूपान्तरण हो गया, अब तो वे सभी भ्राता मेरे से ज्येष्ठ हैं, दीक्षा पर्याय एवं आध्यात्मिक साधना में । मुझे मन में ऐसी उच्चता, निम्नता की कल्पना ही नहीं करनी चाहिये । जाऊं मैं और नमन करूं । इस भावना के साथ ज्यों ही बाहुबली अणगार ने अपना कदम बढ़ाया, सभी संधियों को झुकाया, त्यों ही केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हो गया। एक दृष्टि से सभी पापों का विनाश हो गया ।

बन्धुओ ! देखिये जैसे ही बाहरी और भीतरी संधियां झुकीं। आत्मा की काषायिक परिणितियां हटीं, समीक्षक दृष्टि की परिपूर्णता आई, तत्क्षण अनन्त शान्ति का स्रोत फूट पड़ा। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त शक्ति में लवलीन हो गई। यह समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता, जो कि आत्मा से परमात्मा भाव को उजागर करती है। शाश्वत शान्ति को प्राप्त करती है।

समीक्षण पूर्वक नमन हो

भव्य आत्मा को भव्यता का परम आदर्श रूप प्राप्त करने के लिये विचारों का शुद्धिकरण करना होगा। विचारों की शुद्धि पर ही आत्म शुद्धि सम्भव है, वैचारिक शुद्धि के लिये आत्म-संशोधन और समीक्षण ध्यान की गहराइयों में उतरना होगा। जहां बल्ब का घेरा है वहां प्रकाश आ ही जाएगा, लेकिन घेराव स्वच्छ होना चाहिये, इस प्रकार आत्म प्रकाश के लिये विचारों का घेराव निर्मल, स्वच्छ होना चाहिये।

अन्त में मैं पुनः यही कहूंगा कि आप सभी समीक्षण ध्यान साधना की उत्कर्षता के साथ एक णमो अरिहंताणं को ही नमस्कार करेंगे, तो सभी पापों का नाश हो जायेगा।



[२]

समीक्षण का प्रभाव

- आदर्शमय जीवन सुबाहु कुमार का
- समीक्षण का प्रभाव
- समान शक्ति स्रोत सभी का
- समीक्षण साधना साधु जीवन में
- समीक्षण बिना निस्सार जीवन
- समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में
- समीक्षण दृष्टि का ज्वलंत आदर्श
- आत्मीयता से प्रभावित सिंह
- ध्यान समीक्षक बनो

तम्हा उ मेहावी समिक्ख धम्मं

—सूत्र कृतांङ्ग सूत्र 1/7/6

हे मेधावी धर्म का समीक्षण करो।

धर्म की परिभाषा "वत्थु सहावो धम्मो" के रूप में की जाती है। अर्थात् वस्तु का निजी स्वभाव ही धर्म है। चाहे वस्तु जीव रूप में हो या अजीव रूप में। उनके मौलिक स्वरूप को यथातथ्य रूप में सम्यक् प्रकार से निरीक्षण करना है। इस समीक्षण की वृत्ति को विकसित करने के लिए सबसे पहले अपने आपका संशोधन एवं समीक्षण करना होगा। कषायों को हटाना होगा, वैभाविक वृत्तियों को विलय करना होगा, विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखना होगा।

इस प्रकार की समीक्षण साधना से जीवन में आश्चर्यजनक शक्तियों का प्रकटीकरण होने लगता है।

महान् क्रांतिकारी, क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुकमीचन्द जी म. सा. की,समीक्षण ध्यान साधना के फलस्वरूप लोह शृंखलाएं कच्चे सूत की भांति टूट कर गिर गईं।

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए,
सुख सम्पतिनो हेतु ललना।
शान्त सुधारस जल निधि,
भव सागरमां सेतु ललना ॥
श्री सुपार्श्व......................

सात महाभय टालतो,
सप्तम जिनवर देव ललना।
सावधान मनसा करी,
धारो जिन पद सेव ललना ॥
श्री सुपार्श्व......................

सप्तम तीर्थंकर प्रभु सुपार्श्वनाथ की स्तुति का प्रसंग चल रहा है। सभी तीर्थंकरों का भावात्मक जीवन एक समान होता है।

उनके अनन्त चतुष्टय में किसी भी प्रकार की कमी नहीं आती। जितने ज्ञानादि गुण प्रभु ऋषभदेव में थे, उतने ही ज्ञानादि गुण भगवान महावीर में थे। और ये गुण प्रभु पार्श्वनाथ में भी थे।

जो कुछ विशेष अन्तर था तो जीवन से सम्बन्धित घटनाओं से तथा द्वादशाङ्गी के विवेचना करने के प्रकारों में रहा, मूल तत्त्वों में नही।

सुपार्श्वनाथ की स्तुति के प्रसंग से कवि ने बतलाया है कि हे अन्तरात्मा रूपी ललना तुझे आध्यात्मिक सुख सम्पत्ति को प्राप्त करना है। वास्तव में आध्यात्मिक सम्पत्ति ही शाश्वत सुख प्राप्त करवाने वाली होती है। आध्यात्मिक सुख के रस को, आध्यात्मिक आनन्द को जिसने भी प्राप्त किया है, उनका चित्रण भी शास्त्रकारों ने कर दिया है।

आपके समक्ष सुख-विपाक सूत्र के माध्यम से सुबाहु कुमार के जीवन का वर्णन आ रहा है, जो कि जीवन के लिए महान् प्रेरणा-प्रद है।

आदर्शमय जीवन सुबाहु कुमार का

सुबाहु कुमार सभी गुणों से सम्पन्न था। इसीलिए तो गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा था। भगवन्! इस सुबाहु कुमार ने गत जन्म में "किंवा दच्चा, किंवा भोच्चा, किंवा समायरियत्ता", क्या दिया था, क्या खाया था, और क्या आचरण किया था। जिसके फलस्वरूप इस जीवन में उसने महान् ऋद्धि समृद्धि प्राप्त की है।

ऐसे प्रेरणा-प्रद जीवन को अवधानता के साथ श्रवण करने से उसके अनुरूप अपने जीवन को भी बनाया जा सकता है। सुबाहु कुमार की तरह ही अपने आपको विश्व के लिए एक आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बनाया जा सकता है।

संसार की दृष्टि से आध्यात्मिक जीवन ठीक तरह से अवलोकन नहीं किया जा सकता है।

चर्म-चक्षु अरूपी तत्त्व को देखने में समर्थ नहीं है। जब तक मानव जीवन अन्तर्मुखी नहीं बनता, तब तक उसकी दृष्टि बाह्य तत्त्वों में ही घूमती रहती है। बाह्य तत्त्वों के पीछे ही वह अपनी बहुमूल्य ऊर्जा को खर्च कर डालता है। ऐसा मानव पुनः जन्म-जन्मान्तर की दीर्घ कान्तार में भटकने चला जाता है या यों कहा जाय कि अथक परिश्रम से समुद्र के किनारे आने वाला तैराक थोड़ी-सी कमजोरी के कारण समुद्र में डूब जाता है।

समीक्षण का प्रभाव

साहस और धैर्य के साथ की जाने वाली प्रगति एक दिन परिपूर्णता को प्राप्त करने वाली होती है।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर ने घातिक कर्म की क्षपणा के लिए, ज्ञान शक्ति की परिपूर्णता के लिए वर्षों तक साधना की थी। समीक्षण दृष्टि से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग को निहारा।

जीवन के कण-कण से कषायों का विलगीकरण कर डाला।

आत्मा का परिपूर्ण शोधन किया। ज्ञान का अभिनव आलोक

जग-मगा उठा। शांति और समता का स्रोत प्रवाहित हुआ। जिसका अनूठा प्रभाव प्रभु के सान्निध्य में जन्म-जात शत्रु सर्प और नेवला, शेर, बकरी भी प्रेम से निर्वैर भाव से बैठते।

समान शक्ति स्रोत सभी का

ऐसी साधना, प्रत्येक साधनाशील साधक कर सकता है। लेकिन जो साधु साहस और धैर्य का अवलम्बन न लेकर चापल्य वृत्ति वाला बन जाता है, वह साधक कभी भी उन्नत दशा को प्राप्त नहीं कर सकता।

उदाहरण के रूप में एक स्थल पर एक मनुष्य पहुंचा जहां पर हीरे और कंकर का ढेर लगा हुआ था, उसमें से कुछ भी ग्रहण करने की उसको छूट थी। इतना होने पर भी वह व्यक्ति उनमें से रत्न न लेकर कंकर उठाने लगता है, तो ऐसे व्यक्ति को आप क्या समझेंगे ? मूर्ख ही तो समझेंगे ना ? सज्जनो ! यह तो पौद्गलिक तत्त्व से सम्बन्धित बात हुई। किन्तु जो आत्मा साधु जीवन स्वीकार कर लेती है। उस आत्मा को आध्यात्मिक जीवन का अद्भुत खजाना हस्तगत हो जाता है। वह इससे इच्छानुसार बहुमूल्य रत्नों के तुल्य ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि विविध प्रकार के, अनेक प्रकार के रत्नों को प्राप्त कर सकता है। जो रत्न क्षणिक नहीं, शाश्वत शांति प्रदान कराने वाले होते हैं।

समीक्षण साधना साधु जीवन में

ऐसे आध्यात्मिक रत्नों का संग्रहण गृहस्थ जीवन में उतना नहीं हो पाता। क्योंकि गृहस्थ जीवन में मनुष्य के सामने कई प्रकार की झंझटें, समस्याएं रहती हैं। उनमें भी मूलभूत आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए ही उसका मस्तिष्क दिन-रात तना रहता है। लेकिन साधु जीवन में ऐसी कोई स्थिति नहीं रहती। उसके समक्ष मात्र आध्यात्मिक साधना का ही उद्देश्य रहता है। वह सभी प्रकार के चिन्तन से विप्रमुक्त रहता है। एक समय का भोजन भी मिलेगा या नहीं, यह चिंता भी उसे नहीं रहती।

आत्मा को मलिन बनाने वाले पांचों आश्रव का निरोध होता जाता है। बद्ध कर्मों का क्षय करना एवं अध्यात्म का जागरण ही चलता

रहता है। आत्मा के भीतर में विद्यमान अमूल्य रत्न परमात्मा स्वरूप को प्रकट करना है।

समीक्षण बिना निस्सार जीवन

इतना सब कुछ होते हुए भी जो साधक साधनाशील जीवन में अमूल्य रत्नों का चयन नहीं करता है, समीक्षण पद्धति से जीवन का संशोधन नहीं करता है, किन्तु अपने जीवन में कषायों के पत्थरों को एकत्रित करता रहता है। मंत्र-तंत्र, जादू-टोना आदि सांसारिक कार्यों में रच-पच जाता है, सत्कार, सम्मान का कामी बन जाता है। ऐसा साधक कंकरों से युक्त रत्नों के ढेर में से पत्थरों को ही एकत्रित करता रहता है।

अविनाशी लक्ष्य से हटकर विनाशी तत्त्व की ओर मुड़ जाता है। उसकी वृत्ति मोक्ष प्राप्ति से हटकर संसार की ओर गति करने लगती है। उसकी साधना संसार को घटाने वाली न बनकर उसे बढ़ाने वाली होती है। ऐसा साधु साधु-जीवन की भूमिका पर नहीं रहता है। ऐसे साधकों के जीवन से कभी भी विलक्षण प्रभाव नहीं पड़ता है। जो साधु अभी तक आत्म समीक्षण में न लगकर मन्त्र-तंत्र में पड़ा है। उसके जीवन में अमूल्य रत्नों का विलक्षण प्रकाश नहीं आता। उसके स्वयं के जीवन में ही विलक्षण प्रकाश नहीं होने से वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है ?

समीक्षण साधना प्रभु के जीवन में

प्रभु महावीर का जीवन ऐसा नहीं था। वह तो अलौकिक रत्नों के तीव्र प्रकाश से जगमगा रहा था।

जिसका प्रभाव एक कोस, दो कोस नहीं अपितु १०० कोस की दूरी तक निरन्तर फैल रहा था। जिनके सामने शेर के मुख के नीचे ही बकरी निर्भयता के साथ बैठती थी।

भगवान महावीर ने यह जीवन्त अलौकिक शक्ति जिस शरीर के माध्यम से पाई, वह शरीर कोई आकाश से नहीं टपका था और नहीं कोई पाताल से निकला था। जिस प्रकार आज मानव का शरीर माता की कुक्षि से बाहर आता है, उसी प्रकार प्रभु महावीर का शरीर भी

माता की कुक्षि से ही बाहर आया था। अर्थात् आप लोग जैसे जन्मे, वैसे ही प्रभु भी जन्मे थे।

उनकी विशिष्ट पुण्यवानी होने से शरीर की रचना में कुछ विशेषता थी, मूल अंगों में कोई परिवर्तन नहीं था। जन्म लेने के बाद उन्होंने माता का दूध पिया और आपने भी माता का दूध पिया। बाद में जैसा खाना आप खा रहे हैं, वैसा ही उन्होंने भी खाया होगा।

दीक्षा लेने के बाद तो भोजन की सरसता भी छूट गई थी। कभी-कभी तो बड़ी-बड़ी तपस्या के पारणों में तीन दिन के बासी उड़दों के बाकले थे। वे भी उन्होंने ग्रहण किये थे।

यदि आपको कदाचित तपस्या का पारणा हो या तपस्या का न हो वैसे ही आपके सामने उड़दों के बाकले रख दें तो क्या आप भोजन कर लेगें? कहीं क्रोधित तो न हो जाओगे? जहाँ भगवान महावीर ने समभाव की साधना के साथ ३ दिन के बासी बाकलों से भी दीर्घ तपावधिका पारणा कर लिया था। उनका ध्यान समीक्षण था। जिन्होंने संसार के समस्त पदार्थों को यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में देखा था। जिन्हें पौद्गलिक परिवर्तन का स्पष्ट विज्ञान था। जिनके अणु-अणु में आनन्द रस की झलक थी, ऐसी शक्ति को कितना ही दबाने का प्रयास किया जाय वह प्रकट हो ही जाती है। इत्र की शीशी का मुँह बन्द हो और आप उसे जेब में दबाकर बैठ भी जायें तथापि उसकी खुशबू आए बिना नहीं रहेगी। इसी प्रकार जब काम, क्रोध, मद, मोह की गदंगी सर्वथा हट जाती है। आन्तरिक शान्ति का समुद्र प्रवाहित होने लगता है, तो उससे सहज ही जन-मानस प्रभावित होने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रभु के जीवन में से भी काम, क्रोध, मद, मोह का विलगीकरण हो चुका था। आत्म शांति का निर्झर प्रवाहित होने लगा था, परिणाम स्वरूप जन मानस क्षेत्र सर सब्ज होने लगा था। जन मानस ही नहीं पशु-पक्षी जगत् भी प्रभु के आदर्शमय जीवन से प्रभावित था।

यह सब देखा जाय तो समीक्षण दृष्टि का ही मूल प्रभाव था। प्रभु ने अपनी दृष्टि इतनी समतामय बना ली थी कि वे सदा समता भाव के साथ अखिल विश्व का ईक्षण-दर्शन करते थे। अच्छी या बुरी वस्तु पर राग द्वेष की उत्पत्ति नहीं होने देते। समीक्षण पर जोर देते हुए प्रभु ने कहा है—

"तम्हा उ मेहावी समिक्ख धम्मं"

हे मेघावी धर्म का समीक्षण करो। वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं। अतः विश्व की सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रति, चाहे वे जीव रूप में हों या अजीव रूप में, उनका सम्यक् प्रकार से, समता के साथ ईक्षण करो। जब इस प्रकार ईक्षण की प्रवृत्ति बढ़ेगी तो अवश्य ही एक दिन सम्पूर्ण विश्व को समीक्षण कर सकोगे। और वह समीक्षण तभी संभव है जब अन्तः का निरन्तर संशोधन व समीक्षण चलता रहेगा।

समीक्षण दृष्टि का ज्वलन्त आदर्श

बन्धुओ! जब भव्य आत्मा की दृष्टि क्रमशः समीक्षण की प्रकर्षता की ओर बढ़ने लगती है, तब उसके जीवन में अनुपम प्रकाश की जगमगाहट उभरने लगती है और एक दिन वह परम प्रकर्षता को भी प्राप्त कर लेती है। ऐसे साधक के जीवन का प्रभाव अवश्य ही दूसरे पर पड़ता है। उसकी दृष्टि इतनी निर्मल एवं प्रभावशाली बन जाती है कि सशक्त से सशक्त लोहे की साँकले भी टूट जाती हैं। क्या उदाहरण दूं आपको मैं, दूर क्यों जायें इसी क्रान्तिकारी परम्परा के महान् आचार्य क्रियोद्धारक श्री हुक्मीचन्द जी म. सा. के जीवन की घटना कुछ इसी रूप में घटित हुई थी। जब वे विचरण में रामपुरा गांव में पधारे थे, तब वहां पहले से ही पूरे गांव में हैजे का प्रकोप व्याप्त था कि महा साधक के पदार्पण से वह प्रकोप धीरे-धीरे शांत होता हुआ पूर्ण शांत हो गया। सभी लोग ऐसे महासाधक के सानिध्य में आकर जीवन में धर्म का अभिनव आलोक भरने लगे। इसी शृंखला में गांव की एक बहिन, जिसका नाम था राजी बाई, वह महासाधक के विशुद्ध संयम से अत्यधिक प्रभावित हो गई, परिणाम स्वरूप गृहस्थ जीवन को छोड़कर संयम पर्याय में आने के लिए तत्पर हो गई। पारिवारिक मोह कुछ इसी प्रकार का होता है कि प्रशस्त कार्य में कहीं न कहीं बाधक बन ही जाता है, यही हुआ बहिन राजीबाई के साथ। परिवार के लोगों को जब ज्ञात हुआ कि राजीबाई दीक्षा लेने के लिए तत्पर हो रही है, तो वे अड़ गए। यहां तक अड़े कि बहिन का व्याख्यान में जाना, गुरुदेव के दर्शन करना आदि सब रोक दिया गया। यही नहीं, उनके मन में भय व्याप्त हो गया था कि कहीं यह चली न जाय, उसे घर पर लोह की सांकलों से बांधा गया। देखिये! मोह का परिणाम। भोले लोग समझ नहीं पाते कि यह

बहिन जिस मार्ग पर जा रही है, वह प्रशस्त है। इसकी आत्मा को शाश्वत शांति प्राप्त कराने वाला है तथा हमारे कुल को भी उज्ज्वल करने वाला है। आज के समाज की भी कुछ ऐसी ही स्थिति बनी हुई है। कोई दीक्षा लेने के लिए तैयार होगा तो उसको अन्तराय देने वाले बहुत मिल जायेंगे, सहायक बहुत कम मिलेंगे।

बहिन राजी बाई की भी स्थिति कुछ ऐसी बन गई थी, लेकिन एक रोज ऐसा प्रसंग बना कि महासाधक हुक्मीचन्द जी म. सा. उसी के घर बेले के पारणे के रोज भिक्षाचर्या के लिए पधारे। यथाविधि भिक्षा लेने के अनन्तर जब आप श्री द्वार की ओर मुड़ने लगे तो सहज में ही आप श्री की दृष्टि उस बहिन की बांधी गई लोह की सांकलों पर पड़ी। देखिए! निर्मल दृष्टि का अनूठा प्रभाव। सांकलें कच्चे सूत की भांति तड़ातड़ टूट कर गिर गई। बहिन बन्धन मुक्त हो गई।

यह एक घटित प्रसंग पढ़ने को मिला है। महा-पुरुषों के जीवन से ऐसी एक नहीं अनेक घटनाएं घटित हो जाती हैं। कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जिसके जीवन में समीक्षण साधना होती है। जो विश्व के समस्त प्राणियों को त्राण देने वाला होता है; उनके प्रति आत्मीयता का व्यवहार रखने वाला होता है। उसका स्वतः ही ऐसा प्रभाव पड़ जाता है। आज भी उन्हीं महासाधक महायोगी के प्रबल तप सयंम के प्रभाव से वह क्रान्तिकारी परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

आत्मीयता से प्रभावित सिंह

यह तो मैं साधक जीवन की बात कह गया। गृहस्थ जीवन में रह कर भी जो व्यक्ति यथाशक्य आत्मीय व्यवहार रखता है, दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयास करता है, दूसरों की रक्षा करता है, तो एक दिन उसकी भी रक्षा होती ही है। बात को स्पष्ट करने के लिए एक रूपक दे देता हूँ :—

इंग्लैण्ड निवासी एक मनुष्य ने जीवन में ऐसा अपराध कर लिया था कि परिणाम स्वरूप सरकार ने उसके लिए मृत्यु दण्ड घोषित कर दिया। जब यह घोषणा उस व्यक्ति ने सुनी तो उसके मन में विचार आया कि अब मरना तो है ही, तथापि कुछ उपाय किया जाय, यही सोच कर वह

मौका पाकर एक दिन पुलिस की पकड़-जकड़ से बाहर होकर जंगल में भाग गया। जंगल में भी उसे बहुत भय लग रहा था, क्योंकि पुलिस उसका पीछा कर रही थी। पुलिस की दृष्टि से ओझल होने के लिए वह एक विशाल गुफा में प्रवेश कर गया।

प्रवेश करते ही उसे ज्ञात हुआ कि गुफा में एक केशरी सिंह बैठा हुआ है, एकदम उसका मस्तिष्क झनझना उठा। सोचा बावड़ी से निकल कर कुँए में आ फंसा, वहां पर भी मृत्यु द्वार खटखटा रही थी तो यहां पर भी मौत मुँह फैलाए सामने खड़ी है। अब मरना तो है ही यह सोच कर निर्भय होता हुआ वह व्यक्ति शेर के सन्निकट पहुँच गया। इतने पर भी सिंह ने उसका कुछ भी प्रतिरोध नहीं किया। वह अपने स्थान पर ही बैठा रहा। ध्यान से देखने पर उसे मालूम हुआ कि शेर के पैर में बहुत बड़ा तीक्ष्ण कांटा चुभा हुआ है, परिणाम स्वरूप वह चल नहीं पा रहा है, तीव्र वेदना का अनुभव कर रहा है। क्यों न मैं मौत के मुख में जाते-जाते यह परोपकार का काम कर लूँ। यह सोच कर वह और आगे बढ़ा और बड़ी ही सावधानी के साथ उसके कांटे को बाहर निकाल दिया, शेर स्वस्थ हो गया। इसके बाद भी वह व्यक्ति उसके सामने ही खड़ा रहा तथापि शेर ने उस पर वार नहीं किया, उसे खाया नहीं मानों वह कृतज्ञता प्रकट कर रहा था कि तू ने मेरे ऊपर उपकार किया है, मैं तुझे कभी भी खा नहीं सकता हूँ

कुछ देर ठहर कर शेर जंगल में चला गया, इधर पुलिस खोज करती हुई वहां पहुँच गई, और उस व्यक्ति को पकड़ कर न्यायालय में ले गये। इधर शिकारियों ने उस शेर को भी पकड़ लिया और उसे पिंजरे में बंद कर अजायबघर में ले गए। शेर को तीन दिन तक भूखा रखा गया था। अपराधी का दुहरा-अपराध होने से उस भूखे शेर के सामने खाद्य-पदार्थ के रूप में फेंक दिया गया।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि तीन दिन का भूखा शेर, जो भूख के मारे दहाड़ रहा था, उसी के सामने उसकी खाद्य सामग्री आने पर भी उसे खाता नहीं, शांत हो जाता है। और उस व्यक्ति से प्रेम करने लगता है।

दर्शकों को बहुत आश्चर्य हुआ। यह शेर क्यों नहीं खा रहा है, उस व्यक्ति को खोज करने पर मालूम हुआ कि इस व्यक्ति ने कांटा निकाल

कर शेर पर उपकार किया है, परिणाम स्वरूप शेर आज तीन दिन का भूखा होते हुए भी उसे नहीं खा रहा है। सरकार ने भी उस व्यक्ति को छोड़ दिया।

ध्यान समीक्षक बनो

बन्धुओ! यह तो एक घटना है, वह यह बतलाती है कि गृहस्थ जीवन में जब समीक्षण की दृष्टि आ जाय, दूसरे प्राणी के दुःखों को भी अपने समान देखने की विशुद्ध दृष्टि आ जाय तो उसे तात्कालिक लाभ भी होता है। उस व्यक्ति ने इतना ही तो किया कि उस शेर के कांटे को निकाल दिया। समीक्षण किया इस प्रसंग से अपना। परिणाम यह निकला कि वह मौत के मुख से भी बच गया।

यह तो एक व्यक्ति के साथ आत्मीय भावना का परिणाम था। यदि यह आत्मा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति भी इस प्रकार की समीक्षण दृष्टि रखे तो उसकी क्या स्थिति बन सकती है, यह आप अपनी मति से विचार कीजिए।

जितने भी तीर्थंकर भगवंत होते हैं वे सभी समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता लिए हुए होते हैं। इसीलिए उनकी देशना में सभी प्रकार के हिंसक पशु भी अहिंसक भावना से भावित रहते हैं। शेर और बकरी का वैर उस समय समाप्त हो जाता है।

सज्जनो! परम शांति की उपलब्धि के लिए जीवन में परिपूर्ण रूप से समीक्षण की स्थिति लानी होगी।



[३]

करुणा – तीक्ष्णता – समीक्षण

- कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध
- कर्म विदारण का रहस्य
- मूल कारण की खोज
- सफलता का रहस्य : संकल्प शक्ति
- कर्मों का कर्जा

'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'

—उत्तराध्ययन सूत्र-४/३

कृत कर्मों का भोग किये विना आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। यह भोग चाहे प्रदेशोदय से हो या विपाकोदय से। अनन्तानन्त आत्माएं कर्म से आबद्ध हो, चार गति चौरासी लाख जीव योनियों में अनादिकाल से परिभ्रमण कर रही हैं। कर्मों का आत्मा से अनादि सम्बन्ध होते हुए भी जीव स्वतः के सत् पुरुषार्थ जागृत कर कर्मों को आत्मा से समूलतः हटा कर परम सुख का वरण कर सकता है। जिस प्रकार मुर्गी एवं अंडे के, स्वर्ण तथा मिट्टी के अनादि सम्बन्ध को प्रयोग विशेष के द्वारा व्यवच्छिन्न किया जा सकता है।

कर्मबंध........आत्मा के लिये एक प्रकार का कर्ज है। जब तक इस कर्ज को आत्मा परिपूर्णतः नहीं चुकाती, तब तक कर्मों के भार से हल्की नहीं हो सकती।

मुमुक्षु आत्माओं को कर्म-कर्ज से मुक्त होने के लिये वीतराग प्रणीत सत्पुरुषार्थ को जीवन में स्थान देना आवश्यक है।

———

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्ष्णता,
उदासीनता सोहे रे ।। शीतल ।।

बन्धुओ ! सकल वस्तु स्तोम के विज्ञाता दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग उपस्थित हुआ है। कवि ने शीतल जिनपति का गुण-कीर्तन बहुत ही विलक्षण प्रकार से किया है।

जिन गुणों की अभिव्यक्ति सशरीर अवस्था में शीतलनाथ भगवान् में हुई थी और अशरीर अवस्था में भी जो गुण विद्यमान हैं, वे सभी गुण विश्व की प्रत्येक आत्मा में सत्ता के रूप में सदा विद्यमान हैं। अन्तर बस इतना ही है कि शीतल भगवान् की आत्मा ने अपने सत्पुरुषार्थ के द्वारा कर्म कलिमल का प्रक्षालन कर आत्मिक गुणों को अभिव्यक्त कर लिया तो अन्य आत्माओं की आत्मिक शक्ति कर्मों से आवद्ध रही हुई है।

प्रत्येक तीर्थंकर में अनन्त चतुष्टय की अभिव्यक्ति होती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य। त्रिकालवर्ती लोकगत समस्त वस्तुओं को वे जान लेते हैं, देख लेते हैं। आत्मा के अनन्त गुणों की अभिव्यक्ति, अनन्त चारित्र की अभिव्यक्ति है। अनन्त शक्ति का स्रोत फूट पड़ना अनन्त वीर्य है। इन अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न शीतल जिनपति का गुणगान कवि ने स्याद्वाद दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए रहस्य भरी भाषा में अभिव्यक्त किया है।

करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता के साथ उदासीनता की स्थिति भी प्रभु में बतलाई गई है।

करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता, उदासीनता एक दूसरे के प्रतिपक्षी गुण हैं। जहां करुणा है वहां तीक्ष्णता कैसे? जहां तीक्ष्णता है वहां करुणा कैसे? और जहां करुणा, तीक्ष्णता है वहां उदासीनता कैसे हो सकती है? किन्तु इन विपरीत गुणों का समावेश भी स्याद्वाद दृष्टिकोण से एक ही में हो जाता है। करुणा से तात्पर्य पर दुःख छेदन से लिया

गया है। प्रभु, विश्व की समस्त आत्माओं के दुःखों को दूर करने के लिये समुद्यत थे। समस्त प्राणियों के हित की भावना उनके रग-रग में भरी हुई थी। जिनका विज्ञान समीक्षण परिपूर्ण था। इसी दृष्टिकोण से उन्हें करुणा-कोमलता से युक्त वर्णित किया है।

कर्म विदारण में तीक्ष्ण होने से भगवान् में तीक्ष्णता का गुण बतलाया है।

संसार की प्रत्येक आत्मा कर्म से आबद्ध हो अनादि काल से चली आ रही है। इस कर्म श्रृंखला का सर्वतः विदारण जब तक नहीं किया जाता, तब तक आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। आत्मा, कर्म बन्धन मुख्यतः कषायों के द्वारा करती है। विश्व का चप्पा-चप्पा कर्म-वर्गणाओं से कुप्पी में काजल की तरह खचा-खच भरा हुआ है। लोक का एक भी आकाश-प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां कर्म वर्गणाओं का अवस्थान न हो। ये कर्म वर्गणाएं, कर्म संज्ञा तब प्राप्त करती हैं, जब आत्मा से सम्बद्ध हो जाती हैं। जिस प्रकार आटा, रोटी या मिष्ठान्न की संज्ञा तब पाता है, जब वह उसी रूप में परिणत हो जाता है। आत्मा कषाय-राग-द्वेष की परिणति के साथ जब शुभ या अशुभ विचार करती है, तब उसमें लोह चुम्बक की तरह कर्म वर्गणाओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति पैदा हो जाती है।

कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध

आत्मा के सर्वात्म प्रदेशों में कर्म वर्गणाएं संबंद्ध होती हैं चाहे शुभ कर्मों का वन्धन हो या अशुभ कर्मों का, बन्धन सर्वात्म प्रदेशों से होगा। जिस प्रकार उकलते तेल के मध्य में बड़ा डाल दिया जाता है तो वह अपने सभी छिद्रों से तेल को ग्रहण करता रहता है। उसी प्रकार आत्मा भी सर्वत्र विद्यमान कर्म वर्गणाओं को एक साथ ग्रहण करती रहती है।

जीव के साथ संवद्ध होकर वे जड़ कर्म वर्गणाएं भी सजीव कहलाने लगती हैं।

इन कर्मों का विभागीकरण मुख्यतः चार प्रकार से होता है—प्रकृति वंध, स्थिति वंध, अनुभाग वंध और प्रदेश वंध।

कर्मों के अपने-अपने स्वभाव को प्रकृति बंध, उनकी नियत समय तक फल देने की शक्ति को स्थिति बंध. उस फल में आने वाली रस की तीव्रता-मंदता को अनुभाग बंध तथा कर्म दलिकों को प्रदेश बंध कहते हैं। जैसा कि कर्म सिद्धान्तकारों ने बतलाया है—

स्वभावः प्रकृति प्रोक्तः स्थिति कालाव धारणम् ।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दल संचयः ।।

अभी मैं कर्म फिलॉसाफी को विस्तार से नहीं समझा रहा हूँ। किन्तु यह संकेत दे रहा हूँ कि जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की व्याख्या बहुत गहन, गंभीर एवं साइंटिफिक तरीके से प्रतिपादित है। ऐसी व्याख्या अन्य दर्शनों में नहीं मिलती। अन्य दर्शनों में प्रारब्ध, माया, प्रकृति, वासना आदि शब्दान्तर से कुछ व्याख्या मिलती है, किन्तु वह कर्म की मौलिक विवेचना नहीं रख पाती।

ऐसे कर्म विदारण का संकेत प्रस्तुत स्तुति में किया गया है, जिन कर्मों के कारण आत्मा चार-गति, चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कर रही है। जब तक इनका समूलतः उच्छेदन नहीं होगा तब तक आत्मा शाश्वत सुख की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकती।

कर्म विदारण का रहस्य

'उत्तराध्ययन सूत्र' के २०वें अध्ययन में अनाथी मुनि का वर्णन आता है। जब वे गृहस्थ अवस्था में थे, तब उनके अक्षि वेदना बहुत तीव्र हो चुकी थी। परिणामस्वरूप वे छटपटाने लगे। पारिवारिक सदस्य बेचैन हो उठे। उनकी वेदना को दूर करने के लिये धन को पानी की तरह बहाने लगे। वैद्य, हकीम, मंत्र, तंत्रवादी आने लगे। हर संभव प्रयास किया गया, उनकी वेदना को शांत करने के लिये किन्तु वह तो द्विगुणित-चतुर्गुणित रूप से बढ़ती ही चली गई। वेदनीय कर्म का प्रबल उदय जो आ चुका था।

कर्म रूपी रोग का विदारण करने के लिये किया गया सारा का सारा बाह्य प्रयास व्यर्थ था। उसका विदारण तो आंतरिक उपायों से ही संभव था, वही हुआ। अक्षि वेदना की तीव्रता के समय उनके मन में बिजली की तरह एक विचार कौंधा—यदि मेरी यह वेदना शांत हो

जाय तो प्रातः अरुणोदय के साथ ही मैं 'खंता-दंतो निरारंभो पव्वइए अणगारियं' शान्त दान्त निरारंभी अनगार बन जाऊंगा।

रात्रि की नीरवता बढ़ने लगी, ज्यों-ज्यों वातावरण शांत होने लगा त्यों-त्यों उनकी वेदना भी शमित होती चली गई। प्रातः अरुणोदय के साथ ही संकल्प का आश्चर्य जनक प्रभाव हुआ। उनकी सारी वेदना समाप्त हो गई। पारिबारिक सदस्य चमत्कृत हो उठे। सभी अपनी-अपनी मनौतियों का प्रभाव मानने लगे। किन्तु अनाथी अनगार यह जानते थे कि यह प्रभाव किसका है? यह रोग विदारण की स्थिति कैसे बनी है?

रूपक बहुत लम्बा है, तात्पर्य इतना ही है कि कर्मों का विदारण सिर्फ बाह्य उपायों से नहीं हो सकता। बल्कि आंतरिक दृढ़ संकल्प का होना भी आवश्यक है। संकल्प मात्र भी जब कर्म-विदारण करने में इस प्रकार सहायक हैं तो कर्म-विदारण के तदनुरूप उपायों को अपनाने पर आत्मा निश्चित ही परम सुख की अनुभूति करती है।

तीर्थंकर भगवंत शीतलनाथ जी ने आत्मा के गुणों का विघात करने वाले सभी कर्मों का तीक्ष्णता के साथ विदारण कर दिया था, समीक्षणता की परिपूर्णता को पाया था, इसीलिये उनमें करुणा-कोमलता के साथ ही तीक्ष्णता का गुण भी पाया जाता है।

मूल कारण की खोज

कर्म विदारण किन उपायों से किये जाते हैं, किन कारणों से कर्म बन्धन तथा कर्मोदय की स्थिति बनती है? इन सबका परिज्ञान करते हुए कर्म-बन्धन के मूल कारणों पर प्रहार करना चाहिये। जब तक कर्म-बन्धन के मूल-भूत कारणों पर प्रहार नहीं किया जायेगा तब तक कर्मों का समूलतः नाश नहीं हो सकता। वनस्पतियों में आपने रजका नाम सुना होगा। रजका को बोने के बाद जब वह बड़ा होता है, तब कृषक इसे ऊपर-ऊपर से काट लेते हैं। कटने के बाद भी वह कुछ ही दिनों के बाद पानी आदि के मिलने पर पुनः लहलहाने लगता है, क्योंकि उसकी जड़ नहीं काटी गई है। जब तक जड़ का उच्छेदन नहीं होगा, तब तक ऊपर से कितना ही काट लिया जाय फसल पुनः खड़ी हो जायगी। यह स्थिति

हर क्षेत्र में होती है। रोग को दूर करने के लिये भी जब तक रोगोत्पत्ति के मूलभूत कारणों को नहीं हटाया जाएगा, तब तक रोग समूलतः नष्ट नहीं हो सकता। कर्म का विदारण भी समूलतः जब तक नहीं होगा, तब तक कर्म बन्धन की प्रक्रिया भी चलती रहेगी। अपुनर्भाव से कर्मोच्छेदन के लिये त्रियोग समन्वित संयम तथा समीक्षण दृष्टि की अनिवार्य आवश्यकता है।

इस प्रकार का संयमीय जीवन अनगारी अवस्था में ही अपनाया जा सकता है। अनगार से तात्पर्य जिसके कोई घर न हो। कल वहां देखे थे तो आज यहां हैं। आज यहां हैं तो कल कहीं और स्थान पर चले जायेंगे। इस प्रकार की वृत्ति वाले साधक को अनगार कहा गया है। इस प्रकार से विचरण करने वाला अनगारी साधक, कर्मोत्पत्ति के मूलभूत कारणों पर प्रहार करता हुआ उन्हें आत्मा से समूलतः उखाड़ फेंकता है। जब रजके को मूल सहित काट देते हैं, तब वह पुनः नहीं उगता। उसी प्रकार साधक जब कर्मों का समूलतः छेदन कर देते हैं, तब आत्मा के साथ उन कर्मों का पुनः कभी भी बन्धन नहीं होता। वे कर्म आत्मा से सदा-सर्वदा के लिये अपुनर्भाव से विलग हो जाते हैं। तीर्थंकर भगवन्त समूलतः ही कर्म-छेदन करते हैं। जिससे कभी भी उनके कर्मों का बन्धन पुनः नहीं होता है। शीतल जिनपति ने भी जिस रत्नत्रय रूप आराधना की, तीक्ष्णता के साथ कर्म-छेदन किया था, जिससे वे उनकी आत्मा से सदा सर्वदा के लिये विलग हो हो चुके थे।

सफलता का रहस्य संकल्प शक्ति

कर्म प्रणाश और आत्मा की परिपूर्ण शुद्धि के लिये सत्संकल्प शक्ति का मजबूत होना आवश्यक है। चाहे कितना ही दुःसाध्य कार्य हो, यदि मानव की संकल्प शक्ति दृढ़ है तो निश्चित ही कार्य की संपूर्ति होती है। संकल्प शक्ति इतनी मजबूत होनी चाहिये कि 'कार्यं साधयामि देहं पातयामि वा' कार्य को सिद्ध कर लूंगा या शरीर का उच्छेदन कर दूंगा। इस दृढ़ संकल्प के साथ साधना के पथ पर समीक्षण दृष्टि के साथ बढ़ने वाला साधक निश्चित ही लक्ष्य की प्राप्ति करता है। दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ भगवान् ने यह दृढ़ निश्चय किया था कि मुझे निश्चित रूप से कर्मों का आत्मा से विलगीकरण करना है। इसी दृढ़ संकल्प के साथ वे

साधना के पथ पर समीक्षण दृष्टि के साथ, दृढ़ता के साथ बढ़ते चले गए। रत्नत्रय रूप आराधना विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम बनती चली गई। यही विशुद्धतम अवस्था इतनी तीक्ष्ण बनी कि वह, कर्म की सुदीर्घ परम्परा को नष्ट करने में समर्थ हो गई। प्रभु ने लोकालोक प्रकाशक केवल ज्ञान, केवल दर्शन को प्राप्त किया। प्रभु ने शीतलता ही नहीं परम शीतलता प्राप्त करली। वे शांत, प्रशांत अवस्था में लवलीन हो गए। आत्मा की चरम परिणति, शीतलता अर्थात् परिपूर्ण शांत-प्रशांत अवस्था प्राप्त करना है।

कर्मों का कर्जा

समय का परिपाक होने पर निश्चित रूप से कर्म का उदय आत्मा पर होता है। प्रदेशोदय या विपाकोदय, चाहे किसी प्रकार से हो। कर्म को भोगे बिना आत्मा की इस कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि" कृतकर्म से भोग के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म का आत्मा से अनादि सम्बन्ध होते हुए भी आत्मा सत् पुरुषार्थ के बल से उसे विलग कर सकती है। जिस प्रकार कि मुर्गी एवं अण्डे, स्वर्ण और मिट्टी के अनादि सम्बन्ध को प्रयोग विशेष द्वारा व्यच्छिन्न किया जा सकता है। आत्मा के लिये कर्म भी एक कर्ज है। जिस प्रकार कर्जदारों में वह व्यक्ति श्रेष्ठ होता है जो अपने पास धन-सम्पत्ति के सुलभ होने पर निश्चित सीमा से पहले ही कर्ज चुका दे जिससे वह शीघ्र ही उस कर्ज से हल्का हो जाय। ठीक इसी प्रकार आत्मा पर जो कर्ज है, उसे सुज्ञ आत्मा शीघ्र ही चुकाने का प्रयत्न करे। मानवतन, स्वस्थता, जिन-धर्म का सुयोग आदि दुर्लभ वस्तुएं प्राप्त हैं। ऐसे सुयोग में पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जरित करने के लिये प्रयास करना चाहिये। आत्म-शक्ति की तीक्षणता होने पर ही कर्म का कर्ज चुकाया जा सकता है। उस कर्मों के कर्ज को चुकाने के लिये सत्पुरुषार्थशील बनना चाहिये। आज का पुरुषार्थ निश्चित ही पूर्व के गृहीत कर्म-कर्ज को चुकाने में समर्थ होगा, साथ ही रत्नत्रय की शुभाराधना रूप तीक्षणता से आने वाला कर्म-बन्धन का कर्ज भी रुक जाएगा। आत्मा कर्मों से हल्की होती चली जाएगी। अन्ततः वह भी अपुनर्भाव से कर्म–कर्ज से विमुक्त हो जाएगी।

इस प्रकर परस्पर विरुद्ध लगने वाले करुणा, कोमलता एवं तीक्षणता रूप गुण भी शीतल जिनपति में पाये गये। कवि ने तीसरा गुण

उदासीनता रूप गुण बतलाया है। उन तीनों को सम्मिलित कर गुणों की ललित त्रिभंगी बतलाई है। उदासीनता रूप गुण की व्याख्या भी समय पर उपस्थित करने का विचार है।

कर्मों का विनाश करने वाले प्रत्येक जिज्ञासु को समीक्षण दृष्टि के साथ साधना पथ पर चलना होगा। समीक्षण दृष्टि के माध्यम से ही आत्मा के परस्पर विरुद्ध गुण, कोमलता और तीक्ष्णता का सही सामंजस्य बन पाता है। समीक्षण ही जीवन के काषायिक ऊबड़-खाबड़ पथ को सपाट बनाने वाला होता है। अर्थात् जीवन का सही स्वरूप उजागर करने वाला होता है। जीवन के प्रत्येक कार्य में, हर गतिविधि में समीक्षण दृष्टि होना आवश्यक है। समीक्षण की परिपूर्णता ही आत्मा से परमात्मा रूप की अभिव्यक्ति है।



[४]

करुणा बनाम अभय

- सर्वश्रेष्ठ दान अभय
- मृत्यु की वेदी पर
- रानियों का वरदान
- वरदान से जीवन दान
- रानियों को ईर्ष्या छोटी रानी से
- अभय दान की सर्वश्रेष्ठता
- अभय प्रदाता शीतल प्रभु
- अभय दान से तीर्थंकरत्व प्राप्ति



शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी
विविध भंगी मन मोहे रे
करुणा – कोमलता – तीक्षणता
उदासीनता सोहे रे ।। शीतल ।।

अनन्त कृपालु शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग चल रहा है। कवि ने शीतल जिनपति के अनन्त-अनन्त गुणों में से मुख्यतया तीन गुणों का चयन कर उनकी संक्षिप्त व्याख्या स्तुति के रूप में प्रस्तुत की है।

गुणों की त्रिभंगी में प्रथम गुण करुणा का लिया गया है। शीतल भगवान् परम करुणावंत थे। करुणा को विविध आयामों, विविध परिप्रेक्ष्यों द्वारा विविध रूप में देखा जा सकता है। करुणा को अनुकम्पा अहिंसा के रूप में भी लिया जा सकता है। भगवान् समस्त प्राणियों के प्रति परम करुणावंत थे। उनकी ओर से समस्त प्राणी वर्ग निर्भय थे। वे सभी को अभय देने वाले थे। इसीलिये जिनेश्वर का गुण कीर्त्तन करते हुए 'शक्रस्तव' में 'अभय दयाणं' अभय दाता के रूप में भी प्रभु को सम्बोधित किया है।

कवि ने भी कहा है—'अभय दान तेमलक्षय करुणा'

सर्वश्रेष्ठ दान - अभय

मुख्यतया दान के चार प्रकार लिये जा सकते हैं—आहार दान, औषध दान, ज्ञान दान, अभय दान। शुभ भाव से अन्नादि का दान आहार दान है। रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करने के लिये औषध देना औषध दान है। अवोध व्यक्ति को सही बोध कराना ज्ञान दान है। भयभीत अर्थात् मृत्यु आदि के भय से आतंकित प्राणी को निर्भय बना देना, अभय दान है।

यद्यपि चारों प्रकार के दानों की अपनी-अपनी यथास्थान उपादेयता है तथापि अभय दान को चारों ही प्रकार के दानों में सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है—जैसा कि 'सूत्रकृताङ्ग सूत्र' के प्रथम श्रुत-स्कंध के वीर स्तुति नामक अध्ययन में वतलाया है—

'दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं'

सभी दानों में अभय दान श्रेष्ठ है। अन्न का अक्षय कोष हो, विविध प्रकार की दवाओं का भण्डार हो, प्रकाण्ड विद्वत्ता हो किन्तु यदि व्यक्ति, मृत्यु के भय से भयभीत है तो उपर्युक्त वस्तुयें उसके लिये उपयोगी नहीं वनतीं।

कितना ही ऐश्वर्यशाली पुरुष हो, खाने के लिये अच्छे से अच्छा मिष्ठान्न हो, सब प्रकार की भौतिक सुख-सामग्री उपलब्ध हो, किन्तु यदि मृत्यु का भय उसके मस्तिष्क में मंडरा रहा हो तो संसार की कोई भी वस्तु उसे शांति प्राप्त नहीं करा सकती। जब तक वह मृत्यु के भय से मुक्त नहीं बन जाता, तब तक उसकी अशान्तता, शारीरिक-मानसिक रोग-रूग्णता बढ़ती ही चली जाती है।

मृत्यु की वेदी पर

इस बात को एक छोटे से रूपक द्वारा समझा जा सकता है—राजा अरिमर्दन के राज्य में एक चोर चोरी के अक्षम्य अपराध में पकड़ा गया। प्राचीन युग के राजा अपराधियों को दण्ड देने में प्राय: बहुत कठोर होते थे। जिससे भविष्य में दूसरा व्यक्ति वैसा अपराध करने का दुस्साहस नहीं कर सके। राजा अरिमर्दन भी इसका अपवाद नहीं था। चोर के पकड़े जाने पर जब उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया तो राजा अरिमर्दन ने सारी स्थिति को समझते हुए अपराधी को दण्ड के रूप में मृत्यु की सजा का आदेश दिया।

उस समय की परम्परा के अनुसार अपराधी का मुँह काला किया गया, गधे पर बिठाया गया, डिण्डिम नाद के साथ राज पुरुष शहर के मुख्य मार्गों में इस घोषणा के साथ घुमाने लगे—"इस व्यक्ति ने राज्य-विरुद्ध चोरी का निन्दनीय अपराध किया। इसी अपराध के कारण इसे मृत्यु दण्ड की सजा दी जा रही है। जो कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के निन्दनीय अपराध को करेगा उसे भी इसी प्रकार दण्डित किया जाएगा।"

इस प्रकार की घोषणा करते हुए राज पुरुष जब उसे राजमहलों के पास से ले जा रहे थे उस समय चारों रानियों के साथ राजा अरिमर्दन

वातायन में बैठा नगर की शोभा निहार रहा था। रानियों ने जब राज-पथ पर किसी अपराधी को ले जाते हुए देखा तो राजा से पूछा—"प्राणेश्वर ! इस व्यक्ति को किस अपराध में मृत्यु दण्ड दिया जा रहा है ?"

राजा ने बतलाया—"प्रिये ! इसने चोरी जैसा जघन्य कर्म कर राज्य की जनता को बहुत उत्पीड़ित किया है। इसी अपराध में इसे दण्डित किया जा रहा है।"

रानियों का वरदान

चारों ही रानियां उसकी दीन दशा देख कर द्रवित हो उठीं और उसे बचाने का उपाय सोचने लगीं। इतने में ही उन्हें राजा द्वारा दिए गए वरदान की बात याद आ गई।

सबसे बड़ी रानी ने राजा द्वारा दिए गए वरदान की याद दिलाते हुए कहा कि "प्राणेश्वर ! आज उस वरदान का अवसर आ गया है। आप मेरी भावना पूरी करिये।"

"बोलो-बोलो प्रिये ! तुम्हारी क्या इच्छा है ? मैं अपने वरदान के अनुसार तुम्हारी इच्छा को पूरी करने के लिए तत्पर हूं।" राजा की बात को सुन कर रानी ने कहा—"प्राणेश्वर ! एक दिन-रात के लिए आप इस अपराधी की मृत्यु सजा रोक कर इसे मेरे सुपुर्द कर दीजिये।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा।"

राजा के आदेश को पाकर राज पुरुषों ने एक दिन के लिये अपराधी को सबसे बड़ी रानी के सुपुर्द कर दिया। रानी ने अपराधी चोर को मनोज्ञ भोजन करा कर एक हजार स्वर्ण मुद्रायें देकर तुष्ट किया। एक दिन-रात के लिये बड़ी रानी ने अपराधी की मृत्यु बचा ली। अपराधी ने रानी के प्रति बहुत कृतज्ञता ज्ञापित की। बहुत-बहुत आभार प्रदर्शित किया।

बड़ी रानी की प्रशंसा सुन कर दूसरी रानी के मन में भी अपनी प्रशंसा करवाने की इच्छा बलवती हो उठी। उसने भी अनुकूल अवसर देख कर राजा से अपना वरदान मांग ही लिया और एक दिन के लिये

उसने चोर की प्राण रक्षा की और उसे अच्छा खाना खिला कर पांच हजार स्वर्ण मुद्रायें प्रदान कर तुष्ट किया । चोर ने दूसरी रानी के प्रति भी आभार प्रदर्शित किया । तीसरी रानी भी यह अवसर कब चूकने वाली थी । उसने भी राजा को अपना वरदान याद दिला कर चोर को एक दिन के लिए निर्भय बना दिया । उसे अच्छा खिलाया-पिलाया और दस हजार स्वर्ण मुद्रायें प्रदान कीं । चोर ने तीसरी रानी का भी गुणानुवाद गाया और उसके प्रति भी अपना आभार ज्ञापित किया ।

वरदान से जीवन दान

चौथी रानी को भी यह अवसर अनुकूल लगा । उसने भी राजा को अपने वरदान की याद दिला कर चोर को अपने पास बुलाया और कहा—"चौर्य कर्म बहुत निन्दनीय है, इसी कारण आज तुम्हें मृत्यु दण्ड मिल रहा है । बोल तू क्या चाहता है ? जीना चाहता है या मरना ही ।" चोर तत्काल बोल उठा—"महादेवी ! मुझे और कुछ नहीं चाहिये, केवल जीवन–जीवन–जीवन । मैं तुम्हारे चरणों में गिरता हूं, मुझे बचा लो, जन्म-जन्म तक मैं आपका उपकार नहीं भूलूंगा, बस मुझे बचा लो ।"

छोटी रानी ने कहा—"मैं तुम्हें बस एक ही शर्त पर बचा सकती हूं—तुम यह निन्दनीय कार्य सदा-सदा के लिए छोड़ दो ।" "हे अम्बे ! मैं तैयार हूं । अब कभी भी ऐसा कार्य नहीं करूंगा–जो राज्य विरुद्ध होगा । शिष्टता एवं सभ्यता के साथ रहूंगा । बस तुम मुझे बचालो, डूबते हुए को उबार लो ।"

महारानी ने चोर को आश्वासन दिया, और सम्राट के पास पहुंची—बोली "प्राणेश्वर ! राज्य का दण्ड विधान दोषों का नाश करने के लिए है या दोषियों का नाश करने के लिए है ?" सम्राट ने कहा—"महारानी ! दण्ड का संविधान तो दोषों का नाश करने के लिए है ।" "तो बस राजन् ! अब मुझे आपके द्वारा दिए वरदान से और कुछ नहीं चाहिए—चोर को मृत्यु दण्ड मत दीजिए, उसे जीवन दान दे दीजिए ।" सम्राट अवाक् रह गया, बोला—"देवी ! तुम यह क्या कह रही हो ? क्या मैं उस भयंकर दुर्दान्त चोर को छोड़ दूं जिसे पकड़ने में कितना

समय लगा था ? इसे छोड़ने पर देश की जनता क्या कहेगी ? सोचो रानी ! यह गम्भीर विषय है तुम और कुछ मांग लो ।" रानी ने कहा—"राजन् ! मैंने बहुत सोच समझ कर वर मांगा है । उस अपराधी ने सदा-सदा के लिए निंद्य कर्म का त्याग कर दिया है अतः आप उसे बचा लीजिए ।"

प्रतिज्ञा के अनुसार राजा ने चोर को निर्भय कर दिया । अब तो चोर मुक्तकण्ठ से छोटी रानी की प्रशंसा करने लगा। पूरे नगर में छोटी रानी की चर्चा होने लगी । नागरिक भी प्रशंसा करने लगे ।

रानियों को ईर्ष्या छोटी रानी से

यह चर्चा जब तीनों रानियों ने सुनी तो ईर्ष्या से दग्ध हो उठीं। अरे ! इसने चोर को दिया ही क्या है—हमने तो उसे बहुत सारी स्वर्ण मुद्रायें दीं, फिर भी लोग उसी की प्रशंसा कर रहे हैं । हमारी तो कोई चर्चा ही नहीं करता । जब कि हमारा दान सबसे ज्यादा दान था। बड़ी रानी ने कहा मैंने उसे एक हजार स्वर्ण मुद्रायें दीं। दूसरी ने कहा—मैंने उसे तुम्हारे से भी अधिक पांच हजार स्वर्ण मुद्रायें दीं। तीसरी ने कहा—अरे ! मैंने तो तुम्हारे से भी अधिक दस हजार स्वर्ण मुद्रायें दी हैं । जब कि चौथी रानी ने कुछ नहीं दिया—फिर भी जनता उसी की प्रशंसा कर रही है। सम्राट से अवश्य इसका निर्णय कराना चाहिए—किसका दान सर्वश्रेष्ठ दान है ?

बंधुओ ! देखिए ईर्ष्या का परिणाम । मानव जब ईर्ष्यालु बन जाता है तब अपने विवेक चक्षु खो बैठता है। बस सदा अपनी आत्म-प्रशंसा का ही इच्छुक बना रहता है। दूसरों की सच्ची प्रशंसा एवं उनके गुणों का विकास उसे फूटी आंख भी नहीं सुहाता। ईर्ष्या दग्ध मानस हित-अहित के विचार की क्षमता को खो बैठता है । किसी व्यक्ति की उन्नति को देख कर जल भुन उठता है। उन्नतिशील व्यक्ति का पतन कैसे किया जाय, बस इसी की उधेड़-बुन में वह जिन्दगी के अमूल्य क्षणों को खो बैठता है। ईर्ष्या-दग्ध मानस कभी भी अपनी उन्नति नहीं कर सकता, आत्म विकास का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

मुज्ञ चिन्तकों को सदा दूसरों की उन्नति में 'गुणिषु प्रमोदं' प्रमोद भाव होना चाहिये । आत्म-विकास के लिये साधक का चिन्तन

स्वपरानुप्रेक्षी होना चाहिये। दूसरों की उन्नति को देख कर यह सोचना चाहिये कि यह भी बढ़े और मैं भी बढ़ूं। मैं भी अपने में ऐसे-ऐसे गुणों का निष्पादन करूं, जिससे मेरी भी उन्नति हो। इस प्रकार से सोचने वाला साधक ही आत्म-विकास की दिशा में प्रगतिशील बनता है।

किन्तु वे ईर्ष्या दग्ध तीनों महारानियां छोटी रानी की प्रशंसा सहन नहीं कर पाईं और किसका कार्य सर्वश्रेष्ठ है, इसका निर्णय लेने के लिये तीनों मिल कर सम्राट के निजी कक्ष में पहुंचीं। तीनों को एक साथ देख कर सम्राट अवाक् रह गया! बोला—"क्या चाहती हो? किस लिये तीनों का एक साथ मिल कर यहां आना हुआ है?"

बड़ी महारानी ने तीनों की समस्या सामने रखी और दान की सर्वश्रेष्ठता का निर्णय कराने के लिये निवेदन प्रस्तुत किया।

अभय दान की सर्वश्रेष्ठता

सम्राट स्वयं विचार में पड़ गये—सोचने लगे—यद्यपि छोटी रानी का दान कार्य ही सर्वश्रेष्ठ है किन्तु इसका निर्णय मैं दूंगा तो ये सोच बैठेंगी कि मैंने इसका पक्ष लिया है। अच्छा हो चोर इस बात का निर्णय दे। यह सोच कर सम्राट ने कहा—"आपकी बात विमर्शनीय है, इसका निर्णय मैं दूं इससे श्रेष्ठ तो यह होगा कि स्वयं चोर ही इस बात का निर्णय दे"—उसे वास्तव में किसने सर्वश्रेष्ठ दान दिया है, तीनों रानियां मान गईं। सभी के समक्ष चोर को बुलाया गया और कहा गया कि बोलो—"इन चारों रानियों में से सबसे अधिक दान तुम्हें किसने दिया?" सम्राट की बात सुन कर चोर विस्मय में पड़ गया फिर भी उसे कुछ तो कहना ही था—बोला—"राजन्! बड़ी रानी का भी महान् उपकार है, इन्होंने मुझे एक दिन का जीवन दान दिया साथ ही एक हजार स्वर्ण मुद्रायें भी। इसी प्रकार दूसरी व तीसरी रानीजी का भी बहुत उपकार है, इन्होंने भी क्रमशः एक-एक दिन का जीवन दान तथा पांच व दस हजार स्वर्ण मुद्रायें भी प्रदान कीं। इनका उपकार भी मैं नहीं भूल सकता। किन्तु राजन्! छोटी रानी का उपकार तो अनन्त है। इनके दान के लिये तो मेरे पास कहने योग्य कोई शब्द ही नहीं है। तीनों रानियों ने यद्यपि मेरा खान-पान-सम्मान एवं स्वर्ण मुद्रा का दान दिया, किन्तु फिर भी मेरा मन अशान्त एवं दुखित है

रहा। मुझे मानसिक शान्ति बिल्कुल नहीं मिल पाई क्योंकि राजन्! अन्ततः तो मेरे मस्तिष्क पर मृत्यु ही मंडरा रही थी। किन्तु जब चौथी रानी ने मुझे अभय कर दिया, मृत्यु का भय चक्र मेरे मस्तिष्क से हटा दिया तो मेरा तन-बदन अत्यधिक परितोष को प्राप्त हुआ। यद्यपि छोटी रानी ने मुझे धन के रूप में कुछ भी नहीं दिया, लेकिन निर्भयता का जो महान् दान दिया उसके सामने संसार की सम्पूर्ण वस्तुयें तुच्छ हैं। अतः हे राजन्! छोटी महारानी का दान ही सर्वश्रेष्ठ दान है।

बन्धुओ! यह तो एक घटना क्रम मैं आपके सामने रख गया। घटना चाहे किसी भी रूप में घटी हो या नहीं किन्तु इस घटना से यह शाश्वत सन्देश मिलता है कि संसार के समस्त प्राणी अपना जीवन चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। अतः मृत्यु के भय से जिसे निर्भय किया जाता है, उसकी आत्मा परम संतोष को प्राप्त होती है। इसीलिए अभय दान ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।"

अभय प्रदाता शीतल प्रभु

शीतलनाथ भगवान् ने जगत के त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियों को अभय दान दिया था। वे सभी के प्रति असीम करुणावंत थे। उनकी ओर से जगत के समस्त प्राणी निर्भय थे। इसीलिये कवि द्वारा प्रतिपादित गुणों में से करुणा के अन्तर्गत अभय का भी ग्रहण होता है।

करुणा की व्याख्या करते हुए कवि ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सर्व जन्तु हितकरणी करुणा।

करुणा से तात्पर्य समस्त जन्तुओं का हित करना है। जिस प्राणी का विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रहा हुआ है। जो अपने ही दुःख के समान विश्व की समस्त आत्माओं के दुःख को समझता है अर्थात् जिस प्रतिकूल सामग्री से मुझे दुःख होता है, उसी सामग्री से अन्य आत्माओं को भी दुःख होता होगा। इस प्रकार की समीक्षण दृष्टि को लेकर चलने वाली आत्मा कभी भी किसी भी जीव

का हनन नहीं कर सकती। तीर्थंकर भगवन्त इसी आत्मीय भावना से सम्पन्न होते हैं। उनका रग-रग जीवों के प्रति परम करुणा से अनुस्यूत होता है।

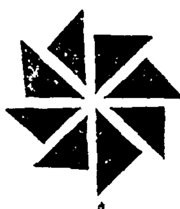
शीतल जिनपति के करुणा गुण को लक्ष्य में रखते हुए आत्म विकास के अभीप्सु मानवों को अपने से छोटे-बड़े समस्त प्राणियों के प्रति करुणावंत बनना चाहिये अर्थात् समीक्षण दृष्टि बनानी चाहिये।

अभय दान से तीर्थंकरत्व प्राप्ति

समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा रखते हुए करुणा की उत्कर्ष भावना आने पर आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म जैसी परम प्रकर्ष पुण्य प्रकृति का बंधन कर सकती है। क्योंकि अभय दान—सुपात्र दान देता हुआ जीव कर्मों को कोटि-कोटि खपाए और उत्कृष्ट रसायन आवे तो तीर्थंकर नाम रूप प्रकृति का बंधन करे। इस अभय दान—सुपात्र दान के माध्यम से कई आत्माओं ने तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति पूर्व में भी बंधन की है, भविष्य में भी करेंगे और वर्तमान में भी कर रहे हैं।

अन्तत: सभी मुमुक्षु आत्मायें शीतल जिनपति की स्तुति के प्रसंग से जगतवर्ती आत्माओं के प्रति करुणावंत बनने का प्रयास करेंगी, तो एक न एक दिन अपनी आत्मा को गुणों से विकसित करती हुईं परम स्वरूप का वरण कर लेंगी।

यही मंगल कामना है।



[५]

करुणा के तीन रूप

- छद्मस्थों के लिये आदर्श : वीतरागी
- सर्व जन्तु हितकरणी करुणा
- पर दुःख छेदन इच्छा करुणा
- अभयदान ते मल क्षय करुणा
- बाह्य मल क्या है ?
- आन्तरिक मल क्या है ?
- स्वच्छता विदेशों में
- आंखों देखा हाल
- स्वच्छता का परम प्रतीक साधु जीवन
- करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

————

सव्वेसिं जीवियं पियं

आचारांग सूत्र १, २, ३

संसार के समस्त प्राणियों को जीवन प्रिय है। मरना कोई नहीं चाहता, सभी जीना चाहते हैं। समस्त चराचर प्राणियों की रक्षा करना करुणा है। करुणावंत साधक अखिल प्राणियों के दुःखों को दूर करने की निःस्वार्थ भावना वाले होते हैं। यह भावना स्वयं के कर्म रूपी मल को दूर करने वाली बनती है।

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा रजकरण द्वारा मलिन हो जाता है। चमकता गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण मलीमष बन जाता है। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त गुणों से सम्पन्न आत्मा भी कर्मों के मल से मलीमष बन जाती है। इसका स्वाभाविक रूप विकृत बन जाता है। इस विकृत रूप को हटाने में समस्त प्राणियों के प्रति रखी जाने वाली करुणा अत्यधिक सहायक बनती है। निःस्वार्थ करुणाभाव की चरम परिणति ही परमात्म भाव को उजागर करती है।

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्ष्णता,
उदासीनता सोहे रे ॥

आत्मा के विविध गुणों का बोध प्राप्त करने के लिये तीर्थंकर भगवंतों के गुण-स्मरण का प्रसंग चल रहा है। महापुरुषों का गुण-कीर्तन इसलिये नहीं किया जाता कि वे हमारे पर प्रसन्न हों, खुश होकर हमें भौतिक सुख प्रदान करदें या कर्म बन्धन से विमुक्त कर मुक्ति की प्राप्ति करवा दें। किन्तु महापुरुष तो हमारे लिये आदर्शभूत होते हैं, उन्हें निमित्त बनाकर स्व के पुरुषार्थ से ही आत्मा, कर्म मुक्ति की दिशा में प्रगतिशील बन सकती है। कोई भी अरिहंत या सिद्ध भगवंत किसी भी मुमुक्षु आत्मा के द्वारा गुणानुवाद करने पर कभी भी प्रसन्न नहीं होते और न ही किसी अवगुणी व्यक्ति के द्वारा निन्दा करने पर नाराज ही होते हैं। वे वीतरागी होते हैं। उन्हें किसी पर भी राग या द्वेष नहीं होता।

छद्मस्थों के लिये आदर्श : वीतरागी

ऐसे वीतरागी महापुरुषों की गुण स्तवना स्वात्मीय जीवन को आलोकित करने में सहायक होती है। सिद्धान्त की दृष्टि से जिस प्रकार धर्मास्तिकाय तत्त्व गति-क्रिया में सहायक होता है। गति सहायक तत्त्व की खोज में अब तक का वैज्ञानिक अनुसंधान 'ईथर' के नाम से सामने आया। यह तत्त्व सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। जब भी कोई प्राणी गति-क्रिया करता है तो वह गति-क्रिया होती तो उसके स्वयं के पुरुषार्थ से है किन्तु उस गति-क्रिया में धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायक होता है।

इसी प्रकार भव्य आत्माओं के विकास में आदर्श रूप में सिद्ध भगवंत आदि लोकोत्तर महापुरुष सहायक बन जाते हैं। अरिहंत आदि महापुरुष तो उपदेशादि के माध्यम से भी भव्यात्माओं को प्रतिबोधित करने में सहायक बनते हैं, किन्तु सिद्ध भगवंत तो मात्र आदर्श के रूप में भव्य आत्माओं के लिये स्व के आत्मीय गुणों को व्यक्त करने में सहायक रूप बनते हैं। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये एक व्यावहारिक रूपक भी लिया जा सकता है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति आइने में अपना मुँह देखता है और जब उसे अपने चेहरे पर काला धब्बा दिखलाई देता है तो उस धब्बे को वह अपने ही पुरुषार्थ द्वारा हटाकर चेहरे को स्वच्छ बना लेता है। आइना उसमें मात्र सहायक होता है। मूलतः तो धब्बे को हटाने का प्रयास स्वयं को ही करना पड़ता है। इसी प्रकार आइने की तरह आदर्श रूप में सिद्ध एवं अरिहंत भगवान् अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म रूप काले धब्बे को हटाने में सहायक बनते हैं।

भव्य आत्माएं उनके आदर्श रूप जीवन के साथ जब अपनी आत्मा का तुलनात्मक अध्ययन करती हैं तो उन्हें कर्म का काला धब्बा स्पष्ट नजर आ जाता है—जो कर्म आत्म गुणों को मलीमष बनाते हैं और जीव के ऊर्ध्वारोहण में अवरोधक बनते हैं। साधना की उच्चतम श्रेणियों पर पहुँचने के लिये ऐसे कर्ममल का आत्मा से प्रक्षालित होना आवश्यक है।

सर्व जन्तु हितकरणी करुणा

गत चौवीसी में हुए सभी तीर्थंकर भगवन्त मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं। अतः उनका गुण स्मरण अरिहंत-सिद्ध दोनों प्रकार से किया जा सकता है।

शीतलनाथ भगवान् के गुणों का प्रसंग जो आपके समक्ष चल रहा है—उसमें भी मुख्यतः तीन गुणों की स्तवना कवि ने प्रस्तुत की है। उन गुण, रूप, ललित त्रिभंगी की व्याख्या भी कवि ने मुख्यतया तीन-तीन प्रकार से की है।

करुणा की प्रथम व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—

'सर्व जन्तु हितकरणी करुणा'

वीतराग देव की वृत्ति जगत के समस्त चराचर प्राणियों का हित करने वाली होती है। यहां तक कि तीर्थंकर भगवंतों की देशना भी समस्त प्राणियों के हित एवं सुख के लिये ही होती है। जैसा कि प्रश्न-व्याकरण सूत्र में बतलाया है—

'सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं'

समस्त जगत् के जीवों का रक्षण करने के लिये भगवन् के द्वारा प्रवचन प्रवेचित किया गया। समस्त प्राणियों के हित रूप वृत्ति वाले होने से भगवान् करुणावंत थे। उनकी हर गति-विधि जीव रक्षण रूप कोमलता से युक्त थी। यह करुणा की प्रथम व्याख्या है।

पर दुःख छेदन इच्छा करुणा

कवि ने करुणा की दूसरी व्याख्या इस प्रकार की है—**'पर दुःख छेदन इच्छा करुणा'**।

इससे तात्पर्य यह है कि भगवान् समस्त जीवों को दुःखों से उपरत करने की विशुद्ध इच्छा वाले थे। क्योंकि संसार के समस्त प्राणी जीना–जीवन चाहते हैं—**'सव्वेसिं जीवियंप्पियं'** मरना कोई नहीं चाहता है, अर्थात् मरने में वे दुःखानुभूति करते हैं।

भगवान् की करुणा चरम छोर को छू चुकी थी। आधि-व्याधि एवं उपाधि के दुःखों से ग्रस्त संसारी प्राणियों को देख कर वे उन्हें दुःखों से उपरत करने के लिये सदा उत्कंठित रहते थे। उनकी करुणा का कितना प्रभाव था और वे जीवों के प्रति कितने अधिक करुणावंत थे, ये तो उनके अतिशय ही स्पष्ट कर देते हैं।

तीर्थंकर भगवंत जिस किसी भूखंड में विचरण करते हैं, उसके आस-पास चारों ओर पच्चीस-पच्चीस योजन [सौ-सौ कोस] की दूरी तक इति-चूहे आदि जीवों से धान्यादि की क्षति नहीं होती, प्लेग आदि जन-संहारक रोग नहीं होते। स्वचक्र–स्वराज्य, पर चक्र–पर राज्य की ओर से किसी प्रकार का भय नहीं होता। अतिवर्षा, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष एवं दुष्काल की स्थिति भी नहीं बनती है। यहां तक कि पूर्व में किसी प्रकार का उपद्रव चल रहा हो तो वह भी शांत हो जाता है। उनके समवसरण में जन्मजात शत्रु सर्प-नेवला, बकरी-शेर भी सारे वैर भाव को भूल कर प्रेम के साथ एकत्रित होकर देशना का पान करते हैं।

इन अतिशयों से स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर भगवंत जीवों के प्रति कितने करुणाशील होते हैं। भगवान् शीतलनाथ को इसीलिये पर दुःख छेदन करने वाला भी कहा है।

करुणा की तीसरी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

अभयदान से मल क्षय करुणा

अभयदान के साथ कर्म मल का क्षय करने को भी करुणा कहा गया है। गत दिन अभयदान के विषय में चर्चा कर चुके हैं। आज उससे सम्बन्धित कर्म मल क्षय के विषय में कुछ चर्चा कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार प्रकाशमान हीरा रजकण लग जाने से मलिन बन जाता है। जिस प्रकार चमकदार गोल्ड (सोना) मिट्टी के कारण मलीमष हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अनन्त-अनन्त गुणों से सम्पन्न आत्मा कर्मों से आबद्ध होकर मलीमष बन जाती है, उसका स्वाभाविक स्वरूप विकृत बन जाता है। जिस प्रकार रासायनिक प्रक्रिया से हीरे का प्रकाश एवं स्वर्ण की चमक लाई जा सकती है, उसका मलिन रूप हटाया जा सकता है। उसी प्रकार सत्-पुरुषार्थ के द्वारा आत्म संबद्ध कर्म परमाणुओं का पौद्गलिक प्रभाव भी हटाया जा सकता है। उसका शुद्ध रूप विकसित किया जा सकता है। वह सत्पुरुषार्थ विविध रूपों में विविध प्रकार से किया जा सकता है। अभयदान के द्वारा भी कर्मों का मलीमष रूप आत्मा से हटाया जा सकता है।

बाह्य मल क्या है ?

मल शब्द अनेक अर्थों में लिया जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से मल का अर्थ कीचड़ एवं अशुचि आदि निम्न तत्त्वों से लिया जाता है। ज्ञानीजन जैसे शरीर की अशुचि को मल समझते हैं वैसे ही आत्मा पर लगे हुए कर्मों को भी मल समझते हैं। अशुभ कर्म आत्मा की पवित्र सुगन्ध को भी दुर्गन्धित कर देते हैं। [यह एक उपमा है] जिस प्रकार बाहर का मल जब सड़ने लगता है तो वह आस-पास के वायुमण्डल को भी दूषित बना देता है। इस दुर्गन्धित वायुमण्डल में बिखरे जर्म्स (कीटाणु) स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद सिद्ध होते हैं। मानव के स्वयं के शरीर में भी अशुचि आदि के रूप में कई तरह के दुर्गन्धित कीटाणु भरे पड़े रहते हैं। यदि कुछ दिनों के लिये मानव अशुचि-विसर्जन बंद कर दे तो उसके शरीर में भयानक रोग पैदा हो सकते हैं। वे रोग उसके जीवन का अन्त करने वाले भी बन सकते हैं। अतः यथासमय मल विसर्जन भी आवश्यक है।

नगर के वायुमण्डल को स्वच्छ रखने के लिये नगर निगम बनाया जाता है। नगर निगम के सदस्यगण वायुमण्डल की स्वच्छता का ध्यान रखते हैं। यह सब पद्धति बाह्य वायुमण्डल को स्वच्छ रखने के लिये

आत्म साधना के परम प्रतीक साधु जीवन में स्वच्छता के लिये स्वयं प्रभु महावीर ने विवेक बतलाया है। जैसे कि नाक में श्लेष्म आ जाय तो साधक इधर-उधर न डाले किन्तु उसे कपड़े में लेकर मसल कर सुखा दे जिससे गंदगी न फैले। उसमें गिरकर जीव हिंसा न हो साथ ही श्लेष्म में सम्मूर्छिम जीवों के उत्पन्न होने की स्थिति भी न बने। यद्यपि शास्त्रकारों ने जितना बाह्य स्वच्छता पर बल नहीं दिया उतना आन्तरिक स्वच्छता पर बल दिया है।

बाहरी शुद्धि से तात्पर्य व्यसन मुक्ति रूप स्वच्छता, सभ्यता एवं सदाशयता से है। इस प्रकार बाह्य रूप से स्वच्छता आने पर आन्तरिक कर्म-मल प्रक्षालित करने में आत्मा को बहुत बड़ा संबल मिलता है।

शीतल जिनपति ने आत्म साधना द्वारा कर्म-मल का प्रक्षालन कर निज स्वरूप अभिव्यक्त किया था। इसीलिये कवि ने कहा है—

अभयदान ते मलक्षय करुणा।

अर्थात् भगवान के करुणा गुण की अभिव्यक्ति अभयदान के साथ कर्म-मल क्षय के रूप में अभिव्यक्त हुई थी।

करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

जब आत्मा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणावंत बन जाती है, उसकी हर वृत्ति-प्रवृत्ति आत्मीयता से ओत-प्रोत हो जाती है, तब अनादिकाल से संबद्ध कर्म-मल आत्मा से विलग होने लगते हैं। आत्मा का सुविशुद्ध रूप विकसित होने लगता है। जब आत्मा से घातिक कर्म-मल प्रक्षालित-क्षपित हो जाते हैं, तब आत्मा का अनन्त चतुष्टय रूप अभिव्यक्त हो जाता है। और जब अघातिक कर्म क्षपित हो जाते हैं तब आत्मा का अखिल स्वरूप सदा-सदा के लिये अभिव्यक्त हो जाता है।

शीतल जिनपति के करुणा गुण की व्याख्या को लक्ष्य में रखते हुए भव्य आत्माएं यदि कर्म-मल की क्षपणा के लिये बाह्य आचार-व्यवहार की शुद्धि के साथ-साथ आन्तरिक कर्म-मल को क्षपित करने का प्रयास करेंगी तो एक न एक दिन मुक्ति का वरण कर सकेंगी।

———

[६]

पुद्गलानन्दी नहीं आत्मानन्दी बनो

- समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म
- उदासीनता बनाम समीक्षण
- उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य युक्तं सत्
- पौद्गलिक परिवर्तन
- पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं
- पुद्गलानन्द का परिणाम
- आत्माभिमुख बनो
- दुर्गंध भरा परिखोदक
- परस्पर चर्चा–विचर्चा
- सम्राट् का रोष
- अमनोज्ञ का मनोज्ञ में परिवर्तन
- श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन सम्राट् में
- त्रिविध उदासीनता

स्वच्छता का परम प्रतीक-साधु जीवन

आत्म साधना के परम प्रतीक साधु जीवन में स्वच्छता के लिये स्वयं प्रभु महावीर ने विवेक बतलाया है। जैसे कि नाक में श्लेष्म आ जाय तो साधक इधर-उधर न डाले किन्तु उसे कपड़े में लेकर मसल कर सुखा दे जिससे गंदगी न फैले। उसमें गिरकर जीव हिंसा न हो साथ ही श्लेष्म में सम्मूर्छिम जीवों के उत्पन्न होने की स्थिति भी न बने। यद्यपि शास्त्रकारों ने जितना बाह्य स्वच्छता पर बल नहीं दिया उतना आन्तरिक स्वच्छता पर बल दिया है।

बाहरी शुद्धि से तात्पर्य व्यसन मुक्ति रूप स्वच्छता, सभ्यता एवं सदाशयता से है। इस प्रकार बाह्य रूप से स्वच्छता आने पर आन्तरिक कर्म-मल प्रक्षालित करने में आत्मा को बहुत बड़ा संबल मिलता है।

शीतल जिनपति ने आत्म साधना द्वारा कर्म-मल का प्रक्षालन कर निज स्वरूप अभिव्यक्त किया था। इसीलिये कवि ने कहा है—

अभयदान ते मलक्षय करुणा।

अर्थात् भगवान के करुणा गुण की अभिव्यक्ति अभयदान के साथ कर्म-मल क्षय के रूप में अभिव्यक्त हुई थी।

करुणा से परम लक्ष्य की प्राप्ति

जब आत्मा संसार के समस्त प्राणियों के प्रति करुणावंत बन जाती है, उसकी हर वृत्ति-प्रवृत्ति आत्मीयता से ओत-प्रोत हो जाती है, तब अनादिकाल से संबद्ध कर्म-मल आत्मा से विलग होने लगते हैं। आत्मा का सुविशुद्ध रूप विकसित होने लगता है। जब आत्मा से घातिक कर्म-मल प्रक्षालित-क्षपित हो जाते हैं, तब आत्मा का अनन्त चतुष्टय रूप अभिव्यक्त हो जाता है। और जब अघातिक कर्म क्षपित हो जाते हैं तब आत्मा का अखिल स्वरूप सदा-सदा के लिये अभिव्यक्त हो जाता है।

शीतल जिनपति के करुणा गुण की व्याख्या को लक्ष्य में रखते हुए भव्य आत्माएं यदि कर्म-मल की क्षपणा के लिये बाह्य आचार-व्यवहार की शुद्धि के साथ-साथ आन्तरिक कर्म-मल को क्षपित करने का प्रयास करेंगी तो एक न एक दिन मुक्ति का वरण कर सकेंगी।

———

[६]

पुद्गलानन्दी नहीं आत्मानन्दी बनो

- समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म
- उदासीनता बनाम समीक्षण
- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्
- पौद्गलिक परिवर्तन
- पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं
- पुद्गलानन्द का परिणाम
- आत्माभिमुख बनो
- दुर्गंध भरा परिखोदक
- परस्पर चर्चा-विचर्चा
- सम्राट् का रोष
- अमनोज्ञ का मनोज्ञ में परिवर्तन
- श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन सम्राट् में
- त्रिविध उदासीनता

"उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत् ।"

—तत्त्वार्थ सूत्र ५/२६

संसार के समस्त सत् पदार्थ उत्पत्ति, विनाश शक्ति होने के साथ ही ध्रुवत्व स्वभाव वाले हैं। जड़ एवं चैतन्य पर्यायों की अपेक्षा उत्पन्न-नष्ट होते रहते हैं। किन्तु जड़त्व एवं चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव हैं। उनका मौलिक स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता।

पुद्गलों में दृश्यमान मनोज्ञता, कमनीयता, रमणीयता, आकर्षकता पुद्गलों के ही परिवर्तन से अमनोज्ञ, अकमनीय, अरमणीय, अनाकर्षण में परिवर्तित हो जाती है।

बचपन का सुन्दर रूप यौवनत्व में और यौवनत्व वृद्धत्व में जरा-जीर्ण होता हुआ नष्ट हो जाता है। परिवर्तन के इस ध्रुव सिद्धान्त को परिवर्तित करने का सामर्थ्य संसार के किसी भी व्यक्ति में नहीं है।

साधक को स्वात्म बोध के साथ समीक्षण पूर्वक पुद्गलों के परि-वर्तन को समझते हुए अमरत्व रूप, अनन्त सुख को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

———

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी
विविध भंगी मन मोहे रे
करुणा कोमलता तीक्ष्णता
उदासीनता सोहे रे ।।

दृश्यभूत विराट के पीछे एक अद्भुत शक्ति संचरण कर रही है। जिस शक्ति के द्वारा ही विश्व का विचित्र रूप परिवर्तित होता है। वह अद्भुत शक्ति है, आत्मा। दृश्यभूत पदार्थ रूपी जड़ है किन्तु इन पदार्थों के भीतर काम करने वाली शक्ति मौलिक रूप से अदृश्य एवं अरूपी है। जड़ और चैतन्य के सम्मिश्रण का ही प्रभाव विश्व का विचित्र रूप है। चेतना अपनी समीक्षण अन्तः प्रज्ञा को जगा कर जड़त्व से विलग हो सकती है। जो तत्त्व चर्म चक्षुओं से दृष्ट हैं, वे स्थूल तत्त्वों के अतिरिक्त भी संसार में अनेकों सूक्ष्माति सूक्ष्म तत्त्व विद्यमान है। जिन तत्त्वों का अवलोकन चर्मचक्षुओं से नहीं किया जा सकता है, उसके लिए विशेष प्रज्ञा समीक्षण प्रज्ञा की आवश्यकता है। वह विशेष प्रज्ञा बिना आत्म-जागरण के प्रस्फुटित नहीं हो सकती। तीर्थंकर भगवंतों के पास वह विशेष प्रज्ञा चरम सीमा को पहुंची हुई होती है। जिससे वे सूक्ष्माति सूक्ष्म तत्त्वों को भी स्पष्ट रूप से जानने में समर्थ हो जाते हैं। उनके प्रज्ञा लोक से विश्व की कोई भी वस्तु अदृष्ट नहीं रहती। समीक्षण प्रज्ञा संसार के सभी जीवों के पास भी सत्ता रूप में विद्यमान है। किन्तु उनके ऊपर कर्मों का आवरण आया हुआ है। कर्माच्छादित वह प्रज्ञा अपने यथा-तथ्य स्वरूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाने के कारण सकल जगवर्ती पदार्थों का अवबोध नहीं कर पाती।

समीक्षण शक्ति की अभिव्यक्ति का अवरोधक : कर्म

गगनाङ्गन में भ्रमणशील भास्कर, जब मेघाच्छादित हो जाता है तब उसी की शक्ति मेघों से आवृत्त हो जाती है। फलस्वरूप सूर्य का प्रकाश संकुचित हो जाता है। यह संकुचिता तभी तक रह पाती है, जब तक मेघों का आवरण बना रहता है। जब वायु संचरण से मेघावरण हट जाता है तब वही सूर्य यथावत् अपने प्रकाश का प्रसार करने लग जाता है। ठीक इसी प्रकार संसार की परिणति में विद्यमान समस्त आत्मायें कर्मों से आच्छादित हैं। वह समीक्षण प्रज्ञा जो कि आत्माओं में सत्ता रूप से विद्यमान है। किन्तु कर्माच्छादित होने से जगत के समस्त

वस्तु स्तोम को जानने में सक्षम नहीं वन पाती लेकिन तीर्थंकर देवों ने तत् सम्बन्धित कर्म क्षपित कर डाले हैं। उनकी समीक्षण की विलक्षण प्रज्ञा, केवल ज्ञान की शक्ति अभिव्यक्त हो चुकी है अत: उनके सकल वस्तु विज्ञान में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

उदासीनता बनाम समीक्षण

विलक्षण प्रज्ञा सम्पन्न शीतल जिनपति का तीसरा गुण उदासीनता का बतलाया है। जैसा कि कवि ने कहा है—

हानादान रहित परिणामी।
उदासीनता विक्षण रे॥

अर्थात् हे भगवन् आप इष्ट या अनिष्ट वस्तु के राग-द्वेष से रहित संसार के समस्त पदार्थों के प्रति आपकी उदासीनता-समभाव है।

समस्त विश्व की सर्जना मुख्यतया दो तत्त्वों से हुई है—जड़ और चैतन्य। जड़-चेतन का संयोग ही विश्व में विलक्षण विशेषता उपस्थित करता है। जड़ पदार्थ के संयोग से कभी मनोज्ञ वस्तु का निर्माण हो जाता है तो कभी अमनोज्ञ वस्तु का। संसारी आत्माओं में भी यथावद्ध कर्म के अनुसार इष्ट-अनिष्ट अवस्थायें पाई जाती हैं। ये सब पुद्गलों के संयोग का ही परिणाम है। जिनके संयोग से मनोज्ञ वस्तु अमनोज्ञ के रूप में, अमनोज्ञ वस्तु मनोज्ञ के रूप में परिवर्तित हो जाती है। मनोज्ञता या अमनोज्ञता से बने राग या द्वेष के परिणाम कर्मबन्धन कराने वाले बनते हैं, किन्तु जब चेतना पुद्गलों के संयोग को समझकर उनके प्रति उदासीन तथा सम्यक् प्रकार से देखने की शक्ति प्राप्त कर लेती है तो राग द्वेष के परिणामों से होने वाले कर्म-बन्धन से बच जाती है।

उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्

संसार की हर वस्तु परिवर्तनशील है। हर पल हर क्षण पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है। वाचक उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में स्पष्ट निर्देश दिया है—'उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'। संसार का प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न विनष्टशील होते हुए भी स्व-स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव है।

उत्पन्न विनाश के साथ ध्रुवत्व के रूप में पदार्थ किस प्रकार विद्यमान रहता है। इसका विज्ञान एक स्थूल रूपक के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

एक राजा के एक राजकुमार एवं एक राजकुमारी थी। राजकुमार स्वर्ण कुण्डल को तुड़वा कर स्वर्ण मुकुट बनाना चाहता था, लेकिन राजकुमारी स्वर्ण कुण्डल को उसी रूप में रखना चाहती थी। इन दोनों के विचारों से निरपेक्ष सम्राट् मध्यस्थ थे। क्योंकि वे सोच रहे थे कि स्वर्ण कुण्डल से स्वर्ण मुकुट बनाया जाय या उसे स्वर्ण कुण्डल के रूप में ही रखा जाय दोनों में स्वर्ण तो विद्यमान रहेगा ही। उसमें कोई क्षति होने वाली नहीं है। ठीक इसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुएं परिवर्तनशील हैं, हर क्षण प्राचीन पुद्गल परिवर्तित हो जाते हैं और नवीन पुद्गल सम्बन्धि होते जाते हैं। इतना होते हुए भी वस्तु के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार एक काष्ठ पट्ट है। उस पर से हर क्षण पुद्गल परमाणु निकलते जाते हैं और दूसरे परमाणु पट्ट से संयोजित होते जाते हैं। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है किन्तु इस क्रम की विज्ञप्ति तब होती है, जब काष्ठ-पट्ट जर्जरित हो जाता है।

इसी प्रकार देह पिण्ड में भी उत्पाद-व्यय चलता रहता है। पुराने परमाणुओं का विसर्जन एवं नये परमाणुओं का सर्जन होता रहता है। वृद्धावस्था तत्क्षण नहीं आती, किन्तु निरन्तर पौद्गलिक परमाणुओं के परिवर्तन से आती है। यह परिवर्तन शीघ्रता से बोधगम्य नहीं होने से मानव वस्तु तत्त्व को यथार्थ बोध नहीं कर पाता।

पौद्गलिक परिवर्तन

पुद्गलों का परिवर्तन सशक्त से सशक्त पदार्थ को भी शीर्ण-जीर्ण कर डालता है। आपने वज्र रत्न का नाम सुना होगा। वह इतना सशक्त होता है कि उसके ऊपर कितना ही मन लोहा डाल दिया जाय, किन्तु उसका एक नोक तक नहीं टूटता। ऐसे वज्र रत्न में भी हर क्षण परिवर्तन होता रहता है। प्राचीन पुद्गल परमाणु हटते जाते हैं, नये परमाणु संयोजित होते जाते हैं। यह क्रम चलता रहता है। समय के परिपाक से वह वज्र रत्न भी इतना जीर्ण हो जाता है कि एक पांच वर्ष का बालक भी उसे हाथ में लेकर मिट्टी के ढेले की तरह मसल सकता है।

कोई भी वस्तु सदा-सर्वदा के लिए उत्पाद् व्यय से रहित मात्र ध्रौव्यत्व रूप में रहने वाली नहीं है। जड़ पदार्थ में उत्पाद-व्यय होते हुए भी वे जड़त्व की अपेक्षा ध्रुव होते हैं। कितना भी परिवर्तन हो जाय किन्तु जड़ कभी चैतन्य नहीं होता। इसी प्रकार चैतन्थ भी उत्पाद् व्यय स्वभाव वाला होते हुए भी चैतन्यत्व की अपेक्षा ध्रुव है। जड़त्व की अपेक्षा चैतन्यत्व में अनिर्वचनीय अवस्थायें पाई जाती हैं। जड़ को सद् द्रव्य के रूप में कहा जा सकता है पर चैतन्यत्व में सत् के साथ-साथ ज्ञान एवं वास्तविक आनन्द की अवस्थायें भी रही हुई हैं। संक्षेप में जड़ और चैतन्य में यह मौलिक अन्तर है।

पुद्गलों के परिवर्तन से मृदु शब्द भी कठोर और कठोर शब्द भी मृदु हो जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से ही रूपवान कुरूप और कुरूप रूपवान बन जाता है। पुद्गलों के परिवर्तन से ही खट्टा रस मीठा व मीठा खट्टा बन जाता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही सुगन्ध से दुर्गन्ध के रूप में और दुर्गन्ध को सुगन्ध के रूप में बदल सकता है। पुद्गलों का परिवर्तन ही खरदरे स्पर्श को सुहावना और सुहावने स्पर्श को खरदरा बना सकता है। पौद्गलिक परिवर्तन ही संसार की विविध विचित्रता का मूल हेतु है। पुद्गलों पर आसक्त होकर आनन्द मनाने वाला व्यक्ति कभी भी शाश्वत सुख की अनुभूति नहीं कर सकता।

पुद्गलानन्द शाश्वत नहीं

पुद्गलानन्दी कोई भी आत्मा शाश्वत ज्ञान की उपलब्धि नहीं कर सकती। क्योंकि पुद्गलों में वह शाश्वत तत्त्व नहीं, जिससे वे शाश्वत सुखदायी बन सकें। यथार्थ में तो पुद्गल सुख रूप हैं ही नहीं। जो मिष्ठान्न सुख देने वाला माना जाता है। उसी का अधिकाधिक आहार करने पर वही दु.खदायी बन जाता है। यही स्थिति अन्य पौद्गलिक वस्तुओं की भी है। सुख रूप दिखने वाले पुद्गल वास्तव में सुख रूप नहीं होकर सुखाभास के रूप में हैं। अतः भव्य आत्मा पुद्गलानन्दी न बन कर आत्मानन्दी बनने का प्रयत्न करे। आत्मानन्द वह आनन्द है, जो सदा सर्वदा के लिए परम आनन्द प्रदान करने वाला है। जिस आनन्द की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा कभी भी दुःख रूप स्थिति में नहीं आ सकती। आत्मानन्द को पाने के लिए आवश्यकता है आत्माभिमुख बनने की, समीक्षण प्रज्ञा को उजागर करने की।

पुद्गलानन्द का परिणाम

आत्माभिमुख आत्मा पौद्गलिक सुखों में कभी भी आनन्द का अनुभव नहीं करती। वह तो पौद्गलिक आवर्त में रह कर भी उससे निरपेक्ष रहती है। मनोज्ञ वस्तुओं पर राग भाव व अमनोज्ञ वस्तुओं पर द्वेषभाव उत्पन्न नहीं होने देती। पौद्गलिक वस्तुओं से उत्पन्न रागद्वेष की परिणति आत्मा को जन्म-मरण के संसार में भटकाने वाली बनाती है। नन्दन मनिहार ने अपने द्वारा निर्मित पुष्करणी पर आसक्ति रखी थी। उसके मन में सदा यह विचार बना रहता था कि मेरी पुष्करणी बहुत अच्छी है, बहुत सुन्दर है। इस आसक्ति का यह परिणाम आया कि नन्दन मनिहार का जीव मानव शरीर को छोड़कर उसी पुष्करणी में मेंढक के रूप में उत्पन्न हो गया। मनुष्य योनि से तिर्यंच योनि में चला गया। यह पुद्गलानन्दी बनने का परिणाम था।

आत्माभिमुख बनो

जो साधक पुद्गलासक्ति से निरपेक्ष हो समीक्षण की साधना में तन्मय बन जाता है, वह आत्मोत्कर्ष की दिशा में प्रगतिशील बन जाता है। जब कृष्ण महाराज अपने दलबल के साथ किसी मार्ग को पार कर रहे थे उस समय रास्ते में एक मरी हुई कुतिया पड़ी थी, जिसकी भयानक दुर्गन्ध दूर-दूर तक फैल रही थी। कृष्ण महाराज के आगे चलने वाले सभी अनुचर, अश्वारोही आदि उस दुर्गन्ध पर से घृणा करते हुए नाक पर पट्टी बांधकर आगे बढ़ रहे थे। जब उसी कुतिया के निकट से कृष्ण महाराज की सवारी निकली तो आश्चर्य कि कृष्ण महाराज को न तो दुर्गन्ध से घृणा हुई और नहीं अपने नाक पर पट्टी ही बांधी। उनकी दृष्टि तो कुतिया की दंत पंक्ति पर जा टिकी थी। कृष्ण महाराज बोले देखो इस कुतिया की दंत पंक्ति कितनी क्रमबद्ध और स्वच्छ है। यह है सम्यक् दृष्टि आत्मा का विचार। स्वात्माभिमुख साधक यह जान लेता है कि यह मनोज्ञता या अमनोज्ञता पुद्गल के परिणाम से है। इस पर रागद्वेष कर कर्म बन्धन नहीं करना चाहिये। पुद्गलों के परिवर्तन को सुस्पष्ट तरीके से समझने के लिए मैं आपके समक्ष एक आगमिक उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। ज्ञाता धर्मकथांग सूत्र के बारहवें अध्याय में सुबुद्धि प्रधान और जितशत्रु राजा का उदाहरण आता है जिससे पौद्गलिक परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है।

दुर्गन्ध भरा परिखोदक

'तेणं कालेणं तेणं समएणं' उस काल उस समय में चम्पा नामक सुरम्य नगरी के राजा जितशत्रु और प्रधान अमात्य सुबुद्धि थे। जित शत्रु सम्राट की धर्म के प्रति रुचि कम थी। किन्तु सुबुद्धि प्रधान जीवा-जीव के विज्ञाता तथा बारह व्रतधारी श्रमणोपासक थे। दोनों में धार्मिक भिन्नता होते हुए भी परस्पर किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं था। शत्रुओं का नगर में प्रवेश नहीं हो सके, तदर्थ दुर्ग के बाहर चारों ओर विशाल खायी थी। जिसका पानी चर्बी, मांस, पीब के समूह से मिश्रित था। कुत्ते, मार्जार आदि मृत कलेवरों से संयुक्त था। गंध, रस, स्पर्श आदि से वह अत्यधिक विकृत बना हुआ था। उस पानी को 'परिहोदए' परिखोदक के नाम से सम्बोधित किया जाता था।

परस्पर चर्चा-विचर्चा

किसी समय सम्राट स्नानादि कार्यों से निवृत्त हो सर्वालंकारों से विभूषित होकर जब भोजन करने के लिए रमणीय आसन पर बैठे थे। तब उनके साथ अन्य अनेक राजेश्वर, अमात्य, सार्थवाह आदि भी उपस्थित थे। सभी ने सुस्वादित असणं—पाणं, खाइमं, साइमं चारों प्रकार का आहार किया। भोजनोपरान्त सम्राट ने उपस्थित व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए कहा—'अहोणं देवाणुपिया इमे मणुण्णे असणं पाणं, खाइमं, साइमं, वण्णेणं उववेए जाव कासेणं उववेय अस्सायणिज्जे, शिस्सोया-णिज्जे, पीयविज्जे, दीवणिज्जे, दप्पणिज्जे, मर्याणज्जे, विहणिज्जे, सव्विदियगायपल्हायणिज्जे।'

हे देवानुप्रियो, यह तृप्तिकारक अशनादि शुभ वर्णादि से युक्त है। आस्वादनीय है, स्वादनीय है। समस्त इन्द्रियों को तृप्ति देने वाला है। जठराग्नि का उद्दीपक, वलवर्धक आदि अनेक विशेषताओं से सम्पन्न है।

सम्राट की वातों को सुनकर उपस्थित अनेक व्यक्तियों ने कहा स्वामिन् जैसा आप फरमाते हैं, अशनादिक उसी प्रकार का है। अपनी वात का समर्थन सुनकर प्रधान अमात्य से भी सम्राट ने यही वात कही किन्तु सुवुद्धि प्रधान ने अन्यों की तरह सम्राट की वात का समर्थन नहीं

किया, प्रत्युत् मौन रहे। सम्राट के द्वारा दो वार, तीन वार अपनी वात के दोहराने पर सुवुद्धि ने कहा राजन् ! मुझे इस प्रकार के अशनादिक से किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। क्योंकि राजन् व्रब्भि सद्दणि पुग्गला दुब्भि सद्दलाए परिणमंति दुब्भि सद्दावि पोग्गला सुब्भि सद्दलाए परिणमंति। शुभ शब्द रूप पद्गल और अशुभ शब्द रूप पुद्गल परस्पर परिणमित हो जाते हैं। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श में भी परिणमन होता रहता है। यह परिणमन प्रायोगिक और नैसर्गिक दोनों प्रकार से होता है।

सम्राट् का रोष

सुवुद्धि प्रधान की इस विवेकपूर्ण वात को सुनकर सम्राट् तुष्ट नहीं हुआ किन्तु बात आगे न वढ़े इस दृष्टिकोण से मौन रहा। कुछ दिवसान्तर में जव अश्व क्रीड़ा के लिए अपने सुभटों के साथ नगर से वाहर निकले। तव वाहर परिखोदक से भयंकर दुर्गन्ध फूट रही थी। सम्राट् सहित प्रायः सभी सुभट उस भयंकर दुर्गन्ध से अभिभूत होकर नासिका पर दुपट्टा लगाकर शीघ्रता से खाई पथ को पार करने लगे। चलते हुए सम्राट ने कहा कि यह दुर्गन्ध अधिकतर 'इमे फरिहोय अमणुण्णो' इस परिखोदक से आ रही है। सम्राट की वात का प्रायः सभी ने समर्थन किया किन्तु सुवुद्धि प्रधान मौन थे। सम्राट् ने जव उनसे भी एतद् विषयक प्रतिक्रिया करने के लिए वहुत आग्रह किया, तव प्रधान समदृष्टि भाव से उदासीनता पूर्वक वोले—

राजन् ! अम्हं एयंसि परिहोगगंति केई पिम्हए एवं¦ खलुसामी, सुब्भि सद्दावि पोग्गला दुब्भि सद्दलाए परिणंती दुब्भि सद्दावि पोग्गला सुब्भिलाए।

राजन् ! इस दुर्गन्ध से मुझे कोई आश्चर्य नहीं है। यह तो पुद्गलों के परिवर्तन की विचित्रता का ही परिणाम है। सज्जनो ! जीवाजीव के विज्ञाता श्रावक किसी के दवाव से सत्य तथ्य छिपाकर कभी भी अन्य को खुश करने के लिए असत्य वात का समर्थन नहीं करते। सुवुद्धि श्रावक ऐसा ही श्रावक था। जिसने ऐसी विकट परिस्थितियों में भी किसी प्रकार की परवाह नहीं करके सत्य तथ्य को सम्राट के समक्ष रख ही दिया। किन्तु इस वार सम्राट आक्रोश में

आ गए और सुबुद्धि प्रधान से बोले—हे देवानुप्रिये ! अविद्यमान तत्त्वों के प्रतिपादन से तथा मिथ्याभिनिवेश से इस तरह की प्ररूपणा मत करो । इस प्रकार की झूठी प्ररूपणाओं द्वारा अपने एवं दूसरों को भ्रमित मत करो ।

अमनोज्ञ का मनोज्ञ में परिवर्तन

सम्राट् के आक्रोश पूर्ण शब्दों को सुनकर के भी सुबुद्धि प्रधान के मन में किसी प्रकार का अन्यथा विचार नहीं आया । वे अपने सत्य पर अविचल बने रहे साथ ही मन में स्फुटित हुआ—सम्राट् को जब तक पुद्गलों के परिवर्तन का प्रत्यक्षीकरण नहीं होगा, तब तक वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं करेंगे ! यह सोचकर सुबुद्धि प्रधान ने गुप्त रूप से परिखोदन को अर्थात् दुर्गन्ध पूर्ण कुछ पानी को घड़ों में भरवाया और सात दिन-रात तक उसी प्रकार रखकर पुनः दूसरे घड़ों में वही पानी भरवाया । इस बार उसे फिलटर करने के लिए 'साजी' क्षार पदार्थ भी डलवा दिया और त्वाक्षातिक से मुहर लगवा दी । सात दिन-रात उस पानी को उस प्रकार रखने के बाद पुनः नये घड़ों में उस पानी को भरवाया । यही प्रक्रिया सात बार की गयी । इस प्रकार की प्रक्रिया से पानी बहुत स्वच्छ, मधुर एवं आरोग्य प्रद बन गया । उसे और अधिक मधुर एवं सुगन्धित बनाने के लिए केतकी, गुलाब आदि पुष्पों से संस्कारित किया । जब वह उदकरत्न अत्यधिक मधुर एवं सुगन्ध पूर्ण बन गया तब सुबुद्धि प्रधान ने उस पानी को राजा जितशत्रु को पिलाने के लिए भृत्य को सौंप दिया । सम्राट जितशत्रु उस पानी को पीकर बहुत प्रसन्न हुए और उदकरत्न की प्रशंसा करते हुए भृत्य को इसकी उपलब्धि के विषय में पूछने लगे तब भृत्य ने बताया कि यह पानी सुबुद्धि प्रधान के यहां से लाया गया है ।

श्रावक के सम्पर्क से परिवर्तन सम्राट् में

तत्क्षण सम्राट् ने सुबुद्धि प्रधान को बुलाकर कहा अहो तुम्हारे यहां इतना मधुर उदक रत्न होते हुये भी तुमने मुझे नहीं पिलाया । क्या कारण है कि मैं तुम्हारा अप्रिय बना हुआ हूं ? प्रधान ने कहा राजन् यह उसी परिखोदक का पानी है । सम्राट् को आश्चर्य हुआ कि इतना दुर्गन्ध पूर्ण पानी ऐसा मधुर सुस्वादनीय कैसे बन गया । सुबुद्धि प्रधान

ने कहा राजन् मैंने आपको पहले ही निवेदन किया था कि पुद्गलों के परिवर्तन से अशुभ भी शुभ रूप में परिवर्तित हो जाता है । इतने पर भी जब सम्राट् को विश्वास नहीं हुआ कि यह पानी परिखोदक का ही है तब सुबुद्धि प्रधान ने पानी को शुद्ध करने की सारी प्रक्रियाएं सम्राट् के सामने प्रत्यक्ष कीं । इस प्रत्यक्षीकरण से सम्राट् को आश्चर्य हुआ, साथ ही जिज्ञासा भी कि सुबुद्धि प्रधान ने ऐसा विशिष्ट ज्ञान कहां से प्राप्त कर लिया । जिज्ञासा का समाधान किया सुबुद्धि प्रधान ने, राजन् मारसंताजाव सव्भूयाभाव जिण वयणाओ उपलद्धा ।

मुझे ऐसा सद्भूत भाव रूप विशिष्ट ज्ञान जिन वचनों से प्राप्त हुआ है । इससे सम्राट् का भी धर्म की ओर आकर्षण हुआ और उसने सुबुद्धि प्रधान से जीवाजीव का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया । साथ ही "सुबुद्धिस्स अभयस्य अंतिए पंचाणु वयाई जाव दुवालसविह सावय धम्मं पडिवज्जइ" सुबुद्धि प्रधान से पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत अंगीकार किये । इस प्रकार सम्राट पुद्गलों के स्वरूप को समझकर उसी की आसक्ति से टले हुए आत्माभिमुख बनने लगे ।

त्रिविध उदासीनता

भव्यात्माओ ! रूपक तो और भी लम्बा है किन्तु इस रूपक से पुद्गलों के परिवर्तन की अवस्था स्पष्ट रूप से जानी जाती है । अतः पुद्गलों की शुभाशुभता पर राग-द्वेष की भावना उत्पन्न नहीं करनी चाहिये । पुद्गलानंदी आत्मा कभी भी वास्तविक आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकती । एतदर्थ शिवनाथ भगवान पुद्गलों के प्रति उदासीन थे । उन्हें न तो शुभ पुद्गलों पर आसक्ति थी और न ही अशुभ पुद्गलों पर द्वेष, इस लिये कवि ने कहा—

हानादान रहित परिणामी उदासीनता वीक्षण रे ।

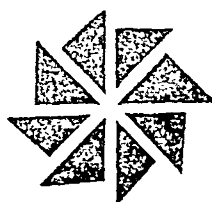
इस उदासीनता की दूसरी व्याख्या करते हुए कवि ने कहा है "उदासीनता उभय विचक्षण ।"

संसारी जीवों के शुभाशुभ परिणामों को अपने विशिष्ट ज्ञानलोक में देखते हुये भगवान तटस्थ थे । इसी प्रकार कवि ने तीसरी व्याख्या भी प्रस्तुत की है 'प्रेरक विनकृति उदासीनता' कोई निन्दा करे या

प्रशंसा। अच्छा कहे या बुरा। भगवान सभी ओर से निरपेक्ष होकर सहज रूप से आत्म-परिणति रूप कृति-कर्तव्य में निष्ठावान थे। वे विना प्रेरणा से स्वरूप रमण में तन्मय रहते थे।

अतः साधक को 'वैरं वड्ढइ' अर्थात् भव परम्परा रूप अविच्छिन्न वैर को बढ़ाने वाले भौतिक पुद्गलों में आसक्त नहीं होना चाहिए। जो साधक जिन पुद्गलों से सुख की आशा रखता है, वास्तव में वे सुख देने वाले नहीं हैं। भगवान ने स्पष्ट कहा है 'जेण सिया भण नोसिया'' अतः अनन्त आनन्द रूप में रमण करने के इच्छुक साधक को पुद्गलानंदी न बनकर आत्मानंदी बनना चाहिये।

जब साधक अन्तः में पैठ करेगा, अन्तः का समीक्षण करने लगेगा तो एक दिन निश्चित ही आत्मानंद में भी रमण करने लग जाएगा।



[७]

मानव जीवन और क्रियावती शक्ति

- चकडोलर और संसार
- गुणगान के साथ आचरण भी
- तीर्थंकर भी मानव हैं
- उदासीनता–निष्क्रियता नहीं है
- सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं है
- श्रावक तीर्थंकर नहीं बनते
- आप भी अनन्त सत्व सम्पन्न हैं
- रत्न परीक्षक–पहला जौहरी
- पहले जैसा दूसरा
- दूसरे जैसा तीसरा
- चौथा सबसे विलक्षण
- हानि में, मैं नहीं, तुम रहे
- वास्तव में हानि में कौन ?

'उट्ठिए नो पमायए'

—आचाराङ्ग सूत्र १ / ५ / २

उठिये, जागें, प्रमाद करने का समय नहीं है। देव दुर्लभ मानव तन के अमूल्य क्षण बीतते जा रहे हैं। जो भी क्षण बीत चुका है, लाख प्रयास करने पर भी पुनः नहीं आने वाला है।

जा जा वच्चइ, रयणी न सा पडिनियत्तइ ।

जो-जो रात्रियां वीत चुकी हैं, वे कभी भी पुनः नहीं आने वाली हैं। आयुष्य के बीते एक क्षण को भी संसार की कोई भी शक्ति पुनः लाने में समर्थ नहीं है।

निराबाध रूप से व्यतीत हो रहे, आयुष्य के क्षणों में जो भव्य आत्माएं स्व की क्रियावती शक्ति को शाश्वत शांति की उपलब्धि कराने वाले लक्ष्य की ओर गतिशील करती हैं वे ही आत्माएं प्राप्त मानव जीवन की दुर्लभता को सार्थक करने में समर्थ हो जाती हैं। संसार की समस्त आत्माओं के पास क्रियावती शक्ति है। आवश्यकता है, उसे सही दिशा में नियोजित करने की।

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी,
विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा कोमलता तीक्षणता,
उदासीनता सोहे रे॥

स्थानाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार की गति बतलाई गई है—चउव्विहा गई पन्नता—नरयगई, तिरिय गई, मणुय गई, देव गई।

नरक गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। कृत अशुभ कर्मों का प्राय: दुःख रूप भोग आत्माएं अधोलोक में स्थित नरक गति में करती हैं। कृत शुभ कर्मो का प्रायः सुख रूप भोग आत्माएं देवलोक में करती हैं। कृत शुभाशुभ कर्मों का प्राय: सुख-दुःख रूप भोग आत्माएं तिर्यंच एवं मनुष्य गति में करती हैं।

चकडोलर और संसार

संसार 'चकडोलर' के समान विभक्त है। 'चकडोलर' में चार पालखियां होती हैं, एक ऊपर, एक नीचे और दो मध्य में—आमने-सामने। संसार में भी चार गतियां हैं—नरक गति नीचे है, देव गति ऊपर है, तिर्यंच और मनुष्य गति मध्य में है। यह विश्लेषण बहुलांश की अपेक्षा से किया गया है। इन चार गति रूप संसार में अनन्तानन्त आत्माएं परिभ्रमण कर रही हैं। आत्मा का परम उत्कर्ष और मुक्ति की अवाप्ति मात्र मनुष्य गति से ही हो सकती है। इसीलिये शास्त्रकारों ने दुर्लभता से प्राप्त होने वाले चार अंगों में से पहला अंग मानव जीवन बतलाया है। भौतिक ऋद्धि समृद्धि से तो मानव जीवन से भी देव जीवन बहुत बड़ा है किन्तु देवता अध्यात्म में प्रवृत्ति नहीं कर पाते अर्थात् वे एक नवकारसी का तप भी नहीं कर सकते। मानव यद्यपि बाह्य वैभव से देवों की अपेक्षा अत्यल्प है, किन्तु अध्यात्म की प्रवृत्ति में वह सबसे आगे है। साधना के क्षेत्र में बढ़ कर वह एक के बाद एक सोपानों को पार करता हुआ चरम लक्ष्य का वरण कर सकता है। ऐसे ही दुर्लभ तन को प्राप्त कर जिनेश्वर भगवंत, साधना के सोपानों पर अहर्निश बढ़ते ही चले गये। अन्ततः लक्ष्य को प्राप्त कर ही लिया आज हम उन्हीं को आदर्श मानकर साधना के पथ पर बढ़ने का प्रयास कर रहे हैं।

गुणगान के साथ आचरण भी

किसी भी तीर्थंकर का गुण-गान करें, किन्तु जब तक उनके गुणों

का प्रवेश जीवन में नहीं होगा तब तक स्व का उत्थान नहीं हो सकता। किसी ने, व्यापार करने का ढंग सीख लिया—उसके गुर समझ लिये, इतने मात्र से उसे लाभ नहीं हो जाता। लाभ तो तब होता है, जब सीखे गये नियमों के अनुसार व्यापार में प्रवृत्ति करता है। इन व्यावहारिक बातों का तो आपको बहुत अच्छा विज्ञान है। इन्हें समझने-समझानें की कोई आवश्यकता नहीं है। आपकी प्रज्ञा उस ओर तो बहुत तीव्रता से काम करती है। लेकिन उस समीक्षण प्रज्ञा का कुछ उपयोग आप इधर भी करिये, इसी से जीवन का महत्त्व समझा जा सकेगा। तीर्थंकर भगवानों के गुणगान तक ही सीमित नहीं रहना है, अपितु उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने का प्रयास करना है।

तीर्थंकर भी मानव हैं

जिन तीर्थंकर भगवंतों का हम गुणगान करते हैं वे भी तो मानव ही थे। इसी मानव तन में रह कर ही उन्होंने सत्पुरुषार्थ के बल पर परम साध्यता को प्राप्त किया था। मानव-मानव की अपेक्षा उनमें और हमारे में कोई अन्तर नहीं है। यही नहीं, जो पांच इन्द्रियां उनके थीं, वही पांच इन्द्रियां हमारे भी हैं। उनके तीन कान या चार आंखें नहीं थीं। शरीर की मौलिक रचना में भी कोई अन्तर नहीं है। इन सब की समानता होते हुए भी, वे तो भगवान बन गये और हम अभी तक भक्त ही बने हुए हैं। उनकी क्रियावती शक्ति ने उनको उच्च स्थान पर पहुँचा दिया और हमारी क्रियावती शक्ति अभी तक भी हमको परमोन्नत अवस्था की ओर नहीं पहुँचा पाई है।

उदासीनता - निष्क्रियता नहीं है

शीतलनाथ भगवान् के तीसरे गुण उदासीनता से कई निष्क्रियता अर्थ भी ले लेते हैं, जो योग्य नहीं है। उदासीनता की व्याख्या यद्यपि गत दिन कर चुके हैं फिर भी इस पर कुछ विचार करना आवश्यक लग रहा है। निष्क्रिय व्यक्ति कभी भी आत्मोत्थान नहीं कर सकता। आत्मोत्थान क्रियावती शक्ति से ही होता है। साधना के क्षेत्र में उनकी निरन्तर प्रगति ही उनकी क्रियावती शक्ति की परिचायक है। सिद्धान्त की भाषा में उट्ठाणे वा, कम्मे वा, बलेवा, वीरिए, पुरिसक्कार परक्कमे वा—अर्थात् आत्मा-उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार पराक्रम से सम्पन्न होती है।

इन उत्थानादि के द्वारा ही भव्य साधक आगे बढ़ता है। गुणस्थान का आरोहण भी इन्हीं के द्वारा होता है। चवदहवें गुणस्थान में भी इन उत्थानादि रूप क्रियावती शक्ति की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहती है।

शीतल जिनपति में उदासीनता का गुण इसलिये बतलाया है कि वे राग-द्वेष रहित होने से उनकी सभी क्रियाएं—उपदेश देना, विहार करना, उठना, बैठना, आहार ग्रहण आदि उदासीनतापूर्वक होती थीं। संसार की सभी आत्माओं के पास क्रियावती शक्ति है किन्तु इससे उनकी आत्म-सिद्धि नहीं हो पा रही है। इसका कारण क्या है? गहराई में उतरने पर आपको ज्ञात होगा कि आपकी क्रियावती शक्ति सही दिशा की ओर कार्य नहीं कर रही है। उसे योग्य दिशा की ओर नियोजित करना आवश्यक है।

सिद्धात्मा भी निष्क्रिय नहीं है

बहुत लोग क्रिया शब्द से केवल कायिक हलन—चलन होना, इतना ही अर्थ करते हैं। इन हलन-चलन मात्र को क्रिया मानने वालों की दृष्टि में सिद्धात्मा निष्क्रिय बन जाती है। क्योंकि सिद्ध बनने से पूर्व ही काय योग का निरोध हो जाता है। काय योग ही नहीं मन और वचन योग का निरोध भी हो जाता है। तीनों योगों में से किसी भी योग का सूक्ष्मतः भी परिस्पन्दन अवशेष नहीं रहता। इसीलिये चौदहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को अयोगी केवली कहा है। अतः सिद्ध अवस्था में तो मन-वचन, काय के होने का प्रश्न ही नहीं रहता। इतने मात्र से सिद्ध निष्क्रिय हो जाय और उनमें किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं होती तो फिर कौन आत्मा होगी जो ऐसी सिद्ध अवस्था में जाना चाहेगी।

जहां षड् दर्शनों में एक वैशेषिक दर्शन भी आता है जो संख्या की दृष्टि से पांचवें नम्बर पर है। उस दर्शन की मान्यता है कि आत्मा मोक्ष में जाने के बाद बिलकुल निष्क्रिय हो जाती है, उपलखण्ड के समान हो जाती है। उसमें न सुख रहता है न दुःख। वह दोनों ही अवस्थाओं से सर्वथा निरपेक्ष हो जाती है। उनकी इस अवधारणा पर किसी ने कहा है—

वरं वृन्दावने रम्ये, कोष्ट्रत्व मभि वांछितम्।
न तु वैशेषिकी मुक्ति, गोतमो गन्तु मिच्छति।

वृन्दावन के जंगल में गधा बन जाना अच्छा है किन्तु गौतम द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक मुक्ति में जाने की कभी भी इच्छा नहीं होती।

सुज्ञो! यदि सिद्धों में भी किसी भी प्रकार की क्रियावती शक्ति स्वीकार नहीं की जाएगी तो वह अवस्था करीब वैशेषिक दर्शन के अनुसार ही हो जाएगी। किन्तु जैन दर्शन में तो मुक्ति का विलक्षण रूप प्रतिपादित किया गया है। मुक्तिगत आत्मा अनन्त सुख से सम्पन्न हो जाती है। क्रिया शब्द से केवल हलन-चलन अर्थ लिया जाय तो इस दृष्टि से सिद्ध निष्क्रिय हैं। क्योंकि वे अयोगी हैं किन्तु उनमें स्वात्म-रमण क्रिया हर क्षण, हर पल हो रही है। स्वात्मा में ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त सुख के साथ ही अनन्त-अनन्त शक्तियों का निवास है। सिद्ध अपनी इस अनन्तता में रमण करते रहते हैं। अतः आत्म रमण क्रियावती शक्ति की अपेक्षा सिद्धों को निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार शरीर की अपेक्षा से वर्णादिक नहीं होने से उन्हें अरूपी कहा जाता है फिर भी आत्मा का मौलिक रूप तो उनमें होता ही है। उसी प्रकार शरीर सम्बन्धी क्रिया न होते हुए भी आत्म रमण रूप क्रिया तो सिद्धों में भी होती है।

श्रावक तीर्थंकर नहीं बनते

उसी भव में तीर्थंकर बनने वाली भव्य आत्मा, माता के गर्भ में ही तीन ज्ञान से सम्पन्न होती है। मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान, अवधि ज्ञान। जब दीक्षा ग्रहण करती है तब मन पर्याय ज्ञान और हो जाता है। सभी तीर्थंकर क्षायिक सम्यक्त्व से सम्पन्न होते हैं। तीर्थंकर चौथे गुणस्थान से सीधे सातवें गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। श्रावक व्रत ग्रहण करना थोड़ा कायरता का सूचक है। जो आत्मा साधु जीवन अंगीकार नहीं कर पाती। जिसके साधु जीवन अंगीकार करने की स्थिति नहीं होती, वह आत्मा श्रावकत्व अंगीकार करती है। तीर्थंकर बनने वाली सभी आत्माएं अनन्त सत्व से सम्पन्न होती हैं। अतः उनके कायरता का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। एतदर्थ ऐसी आत्माएं चतुर्थ गुणस्थान से सीधी सप्तम गुणस्थान में प्रवेश करती हैं।

आप भी अनन्त सत्व सम्पन्न हैं

बन्धुओ! तीर्थंकर भगवन्तों के जीवन को सुनकर हमें भी अपनी

शक्ति को जगाना है। हमारे भीतर भी अनन्त शक्ति का स्रोत है। उस स्रोत को खोलने के लिये 'उट्ठिए नो पमायए' उठिए, अब प्रमाद करने का अवसर नहीं है। इस दुर्लभ मानव जीवन के अमूल्य क्षण बीतते चले जा रहे हैं। जो भी क्षण बीत चुका हैं, लाख प्रयत्न करने पर भी वह नहीं आने वाला है।

'जा जा वच्चइ, रयणी न सा पडिनियत्तइ' जितने दिन और रात्रियां बीत चुकी है उसमें से कोई भी पुनः आने वाली नहीं है। आयुष्य के बीते हुए एक क्षण को भी संसार की कोई भी शक्ति वापस नहीं ला सकती। ऐसे अमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही हाथ से मत जाने दीजिये। आपको चातुर्मास का भव्य प्रसंग प्राप्त हुआ है। संत और सतियों का सान्निध्य भी मिल रहा है। जहां गांवों में संत-सतियों को एक-एक दिन रखने के लिये भी लोग तरसते हैं, वहां आपको पूरा चातुर्मास—वह भी चार महीने का नहीं, अपितु पांच मास का। इस दुर्लभ संयोग को यों ही मत जाने दीजिये। श्रावण, भादवा मास में तो श्रावकगण वैसे ही धर्म-ध्यान का विशेष लाभ लेते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास, पौषध, दया आदि जिसकी जिसमें रुचि हो, वह करना चाहिये। यह मानव जीवन मिला है। यदि कुछ किये बिना ही चले गये तो फिर बार-बार मिलने वाला नहीं है। अन्ततः पश्चाताप ही हाथ में रह जाएगा।

रत्न परीक्षक—पहला जौहरी

मानव जीवन की दुर्लभता को स्पष्ट करने के लिये मैं आपको जौहरियों का एक रूपक सुना देता हूँ। प्राचीनकाल में वाहनों का अभाव होने से व्यापारी वर्ग पैदल यात्रा किया करते थे। एक जवाहरात का व्यापारी, व्यापार के लिये दूर प्रदेश की यात्रा कर रहा था। उसी यात्रा के दौरान वह एक गांव पहुंचा और भोजन सामग्री के लिये किसी वणिक की दुकान में गया। वहां उसे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि बनिये के तराजू पर एक चमचमाता सवा लाख का हीरा बंधा हुआ है। जौहरी सोचने लगा—यह बुद्धू हीरे के महत्व को नहीं समझता है यदि जानता होता तो इस प्रकार नहीं बांधता। वास्तव में बनिये को भी यह मालूम नहीं था कि तराजू पर बंधा पत्थर बहुमूल्य हीरा है। उसने तो एक किसान गडरिये से दो चिमटी तम्बाकू में उसे लिया था। गडरिये को जंगल में चमचमाता पत्थर मिला। उसने उस पत्थर को यह सोचकर रख

लिया कि सेठों के लड़के खिलौनों से खेलते हैं। मेरी स्थिति यह नहीं है कि मेरे बच्चों के लिये भी खिलौने खरीद कर ला सकूं। मेरे बच्चे इस पत्थर से खेलेंगे। किन्तु जब वह बनिये की दुकान पर दाल-आटा लेने पहुंचा तो बनिये ने तराजू की कण ठीक करने के लिये उससे वह पत्थर मांगा। ज्योंहि तराजू में पत्थर रखा गया, त्योंहि कण बराबर हो गई। रोज-रोज की झंझट मिटाने के लिये बनिये ने दो चिमटी तम्बाकू देकर वह पत्थर खरीद लिया और तराजू के बांध दिया।

जौहरी ने खाद्य सामग्री को लेने के साथ ही बनिये से पूछा—क्यों भाई! इस को तुम बेच सकते हो?

बनिये ने कहा—क्यों नहीं जरूर। मैं तो व्यापारी हूं। व्यापारी तो थाली में परोसी रोटी को भी समय पर बेच देता है। अच्छा तो बताओ तुम इस पत्थर के कितने पैसे लोगे? जौहरी के पूछने पर बनिये ने सोचा—जरूर यह पत्थर कोई साधारण पत्थर नहीं है। अन्यथा यह व्यक्ति इसे खरीदने की बात नहीं करता। उसने सोच कर कहा—मैं इसके पांच रुपये लूंगा। जौहरी ने कहा—नहीं। इसके चार रुपये ले लो। बनिया बोला—नहीं, मैं पांच रुपये से एक पैसा कम नहीं लेता। जौहरी यह सोचकर चला गया गया कि इसे दूसरा कौन ले जाने वाला है। अभी तो भोजन करलूं बाद में आकर चार रुपये में देगा तो ठीक अन्यथा पांच रुपये में ले लूंगा।

पहले जैसा दूसरा

संयोग की बात है—कुछ ही समय के बाद एक दूसरा जौहरी भी उसी गांव में आ पहुंचा और वह भी भोजन सामग्री लेने के लिये उसी बनिये की दुकान पर गया। उसने भी जब उस पत्थर के मूल्य के विषय में पूछा तो बनिये ने सोचा—वास्तव में यह पत्थर बहुत अधिक कीमत का है उसने उसके दस रुपये बतलाए। इस जौहरी ने भी उसे एक रुपया कम कर नौ रुपये लेने के लिये कहा तो वह टस से मस नहीं हुआ। यह जौहरी भी पहले वाले जौहरी की तरह 'बाद में आकर ले जाऊंगा इसे दूसरा कौन ले जाने वाला है।' सोचकर भोजन के लिये चला गया।

दूसरे जैसा तीसरा

कुछ ही समय बीतने के बाद एक तीसरा जौहरी भी उसी गांव में

पहुंचा और वह भी भोजन सामग्री के लिये उसी वनिये की दुकान पर गया। उसने भी जव उस चमचमाते हीरे को देखा तो उसके खरीदने के लिये वनिये से मूल्य पूछा। इस वार वनिया और अधिक विचार में पड़ गया। वात क्या है—इस पत्थर में जरूर कुछ न कुछ करामात है, तभी तो एक के वाद एक तीन व्यक्ति इसे खरीदने के लिये आ पहुंचे। पहले वाले को पांच रुपये के लिये कहा तो वह चार रुपये देने के लिये तैयार हो गया। दूसरे को दस रुपये के लिये कहा तो वह नौ रुपये देने के लिये तैयार हो गया। अतः इस व्यक्ति से और अधिक रुपये मांगना चाहिये। यह सोच कर वनिये ने कहा—इसके पन्द्रह रुपये लूंगा। उसने भी चौदह देने को कह कर 'वाद में आकर पूरे दे जाऊंगा' यह सोच कर वह भी भोजन करने के लिये चला गया।

चौथा सबसे विलक्षण

कुछ ही समय और वीतने के वाद चौथा रत्नों का व्यापारी भी संयोग से उसी गांव के, उसी वनिये की दुकान पर भोजन की सामग्री लेने के लिये पहुंच गया। इसने भी जव उसी पत्थर रूपी हीरे को देखा तो उसकी कीमत के विषय में पूछा। इस वार तो वनिये ने आव देखा न ताव और सीधे ही इक्कीस रुपये मांग लिये। यह चौथा व्यापारी विलक्षण था। उसने सोचा मोल-भाव करने का समय नहीं है। उसने तुरन्त इक्कीस रुपये देकर उस पत्थर रूप सवा लाख रुपये के हीरे को खरीद कर वहुत खुश होता हुआ अपने शहर की ओर चला गया।

हानि में, मैं नहीं, तुम रहे

अव वन्धुओ! पहला व्यापारी खा-पीकर मस्ती के साथ वनिये की दुकान पर पहुंचा और वोला लो पांच रुपये ले लो और वह पत्थर दे दो। इतने में ही दूसरी दिशा से दूसरा जौहरी आ पहुंचा—वह वोला लो दस रुपये ले लो और वह पत्थर मुझे दे दो। दोनों जौहरी संघर्ष करने लगे—एक वोला, मैंने पहले मोल किया है। इसलिये मैं लूंगा तो दूसरा वोला नहीं मैं तुम्हारे से अधिक रुपये दे रहा हूं, इसलिये मैं लूंगा। इनके संघर्ष के वीच ही तीसरा रत्न व्यापारी भी, भोजनादि कार्यों से निवृत्त होकर वहुत लाभ की खुशी में झूमता हुआ—वनिये की दुकान पर

आ पहुंचा और चिल्लाने लगा—लो मैं पन्द्रह रुपये देता हूं—वह पत्थर मुझे दे दो। तीनों जौहरी पत्थर की मांग करने लगे। एक कहता है मैं लूंगा तो दूसरा गरजता है, नहीं मैं लूंगा। इतने में तीसरा चिल्लाता है, मैं लूंगा। तीनों में जोरदार संघर्ष होने लगा। उनके इस संघर्ष को देख कर बनिया बोला तुम लड़ते क्यों हो? जिस पत्थर के लिये तुम लड़ रहे हो, वह तो मैंने कभी का ही बेच दिया।

ज्योंही जौहरियों ने रत्न के बिक जाने की बात सुनी त्योंही होश उड़ गए। झगड़ा स्वतः ही समाप्त हो गया। सच है एक कौए के मुंह में मांस का टुकड़ा रहेगा तो सभी कौए लेने के लिये टूट पड़ेगें। और ज्योंही वह समुद्र में गिर जाता है तो सबका झगड़ा समाप्त हो जाता है। यही संसार की स्थिति है। सभी धन के टुकड़ों के लिये दौड़ रहे हैं। संघर्ष कर रहे हैं। भाई, भाई को मारने के लिये तैयार है। कितना ही किया जाय पर धन कभी स्थायी नहीं रहने वाला है।

उन रत्न व्यापारियों ने बनिये से पूछा—तुमने उसको कितने में बेचा?

बनिये ने कहा—पूरे इक्कीस रुपये में।

तीनों व्यापारी बोले तुम तो ठगा गए। अरे! वह तो पूरे सवा लाख रुपये का बहुमूल्य हीरा था।

बनिया बोला—मैं नहीं, तुम लोग ठगा गए। मैं तो उस हीरे के मूल्य से अनभिज्ञ था किन्तु तुम तो सब जानते थे। फिर भी मोल भाव करके छोड़ कर चले गये। इसलिये मैं नहीं, तुम लोग ठगा गए।

वे सभी व्यापारी रत्न के चले जाने से पश्चाताप करते हुए अपने-अपने स्थान पर लौट गये।

वास्तव में हानि में कौन?

सुज्ञ बन्धुओ! यह तो एक रूपक है। आपको तरस आ रही होगी उन व्यापारियों पर, जो मोल-भाव करते रह गये और उस बहुमूल्य रत्न को गंवा दिया। किन्तु क्या यह भी सोचा कि कहीं हमारी हालत तो ऐसी नहीं हो रही है? मानव जीवन रूप अमूल्य रत्न आपको मिला है। इस

रत्न के द्वारा परम सुख को प्राप्त करने के लिये मुनि-जन बरावर उपदेश दे रहे हैं लेकिन अभी नहीं, वाद में धर्म-ध्यान कर लेंगे इस प्रकार सोचते हुए ग्रमूल्य मानव जीवन को कहीं खो तो नहीं रहे हैं ? जब हीरा हाथ से चला जायगा तो उन व्यापारियों की तरह पश्चाताप ही हाथ में रह जायेगा। वह हीरा तो फिर मिल सकता है, किन्तु मानव जीवन रूप हीरे का पुन: मिलना बहुत मुश्किल है।

ग्रब भी समय है जगने का, जागिये और इस ग्रमूल्य जीवन में मुक्ति रूपी परम सुख को पाने के लिये ग्रागे बढ़िये। भगवान महावीर का कहना है—

समयं गोयम मा पमायए।

समय मात्र का भी प्रमाद मत करिये। आप लोगों को भी उन व्यापारियों की तरह पश्चाताप नहीं करना पड़े। इसलिये परम शांति को पाने के लिये धर्म-ध्यान में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

जो भी भव्य ग्रात्मा इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर ग्रपनी क्रियावती शक्ति को ग्रात्मोत्कर्ष की ग्रोर नियोजित करेगी वह निश्चित ही परम शांति प्राप्त करेगी।



[८]

कर्म विमुक्ति में सहायक - पुण्य

- कर्मों का विविध रूप
- कर्म पहले या आत्मा
- कर्म-आत्मा का अनादि सम्बन्ध
- अपुनर्भाव से कर्म विजेता—शीतल भगवंत
- पुण्य व्याख्या—अन्नदान
- जलदान
- पानी के अभाव में महाप्रयाण
- टंकी का पानी धोवन नहीं है
- स्थान दान, शयन दान, वस्त्र दान
- मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य
- पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है
- पुण्य के तीन रूप–हेय, ज्ञेय, उपादेय
- शक्ति और व्यक्ति
- त्रिभुवन प्रभुता : निर्ग्रन्थता
- योगी और भोगी
- वक्ता और मौनी
- अनुपयोगी और उपयोगी

———

नवविहे पुण्णे पण्णत्ते—अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थ पुण्णे, मन पुण्णे, वइ पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे ।

—ठाणांग सूत्र – ठाणा – ९

नव प्रकार का पुण्य प्रज्ञप्त किया गया है—अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन (स्थान) पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ।

निस्वार्थ भाव से दिया गया अन्नादिक दान पुण्य की कोटि में आता है। दान, शील, तप, भाव रूप शुभ चिन्तन करना, प्रभु स्तुति, मधुर वचन बोलना, अहिंसादिक की अनुपालना तथा अधिक गुणवान महापुरुषों के नमस्करण से भी पुण्यार्जन होता है। संस्कृत भाषा में पुण्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"पुनाति पवित्री करोत्यात्मा नमिति पुण्यम् ।" जो आत्मा को पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं।

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन – प्रभुता,
निर्ग्रन्थता संयोगे रे।
योगी भोगी वक्ता मौनी,
अनुपयोगी उपयोगे रे ।। शीतल ।।

कर्मों का विविध रूप

बंधुओ ! संसार की अनन्त-अनन्त आत्माएं चार गति–चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रही हैं। सभी आत्माओं का मौलिक स्वरूप एक समान होते हुए भी कर्मों के कारण विविध विचित्रताएं परिलक्षित होती हैं । ये विचित्रताएं विभिन्न योनियों की अपेक्षा से ही नहीं, अपितु एक-एक योनिगत जीवों में भी बहुत विचित्रताएं दृष्टिगत होती हैं। मनुष्य योनि को ही लीजिये—एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से आकार-प्रकार, रूप-रंग, चाल-ढाल, स्वभाव आदि की अपेक्षा से भी कितना अन्तर पाया जाता है। यही नहीं एक माता के उदर से युगपद् उत्पन्न दो बच्चों में भी अंधकार-प्रकाश जैसा अन्तर पाया जाता है। इन सब का अदृष्ट कारण कर्म के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता ।

कर्म पहले या आत्मा

कर्म की इस प्रकार की विचित्रता को देखकर सहज ही कुछ प्रश्न प्रस्फुरित हो उठते हैं कि अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्माओं पर यह कर्म का सम्बन्ध कब से चला आ रहा है ? कर्म का पहले उद्भव हुआ या आत्मा का ? यदि कर्म का पहले उद्भव हुआ तो उसका आत्मा से सम्बन्ध क्यों हुआ क्योंकि आत्मा उस समय विशुद्ध रूप में थी । यदि विशुद्ध अवस्था में भी कर्म का सम्बन्ध हुआ माना जाय तो फिर सिद्धों में भी क्यों नहीं होता ? ऐसे अनेक प्रश्नों की लम्बी कतार कभी-कभी सामान्य मानस को झंकृत कर देती है। यद्यपि ये सब दार्शनिक विषय हैं। इनकी चर्चा भी गहन गम्भीर एवं विश्लेषणात्मक हैं तथापि ऐसी जिज्ञासाओं का समाधान भी आवश्यक है। मैं अभी उन गम्भीर विषयों की विशद चर्चा में न उतर कर आपको एक शास्त्रीय रूपक से उनका समाधान करने की चेष्टा करता हूं ।

भगवती सूत्र में प्रथम शतक के छठे उद्देशक में रोहा अणगार के

प्रश्नों का वर्णन आता है। रोहा अणगार ने भगवान महावीर से अनेक प्रश्न पूछे थे। उनमें से एक प्रश्न यह भी था—

पुव्वि भंते जीवा पच्छा अजीवा, पुव्वि अजीवा पच्छा जीवा ?

रोहा ! जीवा य अजीवा य पुव्वि पेते, पच्छापेते दोविए सासया भावा; अणाणपुव्वी ?

पुव्वि भंते ! अंडए पच्छा कुक्कुडी ? पुव्वि कुक्कुडी पच्छा अंडए ?

रोहा ! से णं अंडएकओ ?

भयवं कुक्कुडी कओ ?

साणं कुक्कुडी ओ।

साणं कुक्कुडी कओ ?

भंते। अंडयाओ।

एव मेव रोहा से य अंडए साय कुक्कुडी पुव्वि पेते पच्छावेते दो वि एएसासया भावा, अणाणुपुव्वी एसारोहा।

अर्थ—रोहा अणगार ने पूछा—भगवन् ! पहले जीव है, बाद में अजीव है या पहले अजीव है और बाद में अजीव है ?

समाधीत किया प्रभु ने रोहा अणगार के प्रश्न को—रोहा ! जीवाजीव में आनुपूर्वी भाव नहीं है। जीव, अजीव पहले भी हैं, पीछे भी। ये दोनों शाश्वत भाव रूप हैं।

रोहा अणगार ने जिज्ञासा का स्पष्ट समाधान पाने के लिये एक व्यावहारिक प्रश्न किया— भगवन् अंडा पहले है या कुक्कुटी ? कुक्कुटी पहले है या अंडा ?

भगवान् ने प्रति प्रश्न किया—रोहा—वह अंडा कहां से आया ?

रोहा अणगार—भगवन् कुक्कुटी से।

भगवान्—रोहा ! कुक्कुटी कहां से आयी ?

रोहा—भगवन् अंडे से।

अतः हे रोहा ! अंडे और कुक्कुटी में पहले या बाद में की स्थिति नहीं है। दोनों ही प्रवाह रूप से शाश्वत हैं।

सुज्ञो ! भगवान् ने बहुत सहज रूप में समाधान प्रस्तुत किया। जिस प्रकार अंडे एवं मुर्गी की उद्भूति के विषय में किसी को भी प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकालीन होते हुए भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को विच्छिन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। इस प्रकार की अनादिता के होते हुए भी इनका पारस्परिक सम्बन्ध विनष्ट हो सकता है। शाश्वत तत्त्वों में समूलतः उत्पाद विनाश नहीं होता। चैतन्य तत्त्व शाश्वत है। अतः इसकी उत्पत्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। जब चेतना की उत्पत्ति ही नहीं होती तो उसका अवसान भी नहीं हो सकता।

कर्म—आत्मा का अनादि सम्बन्ध

स्वर्ण और मिट्टी का सम्बन्ध अनादिकालीन परिलक्षित होते हुए भी प्रयत्न विशेष से उन्हें अलग-अलग किया जा सकता है। विद्युत युक्त पदार्थों में विद्युत कब से रही हुई है ? यह कोई नहीं कह सकता तथापि विद्युत पृथक्करण किया जा सकता है। ठीक ! इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन होते हुए भी आत्मोत्कर्ष द्वारा आत्मा का पवित्र स्वरूप निखारा जा सकता है। कर्म के सम्बन्ध को अपुनर्भाव से अलग कर दिया जाता है जिससे पुनः कभी कर्मों का बन्धन नहीं हो। जिस प्रकार बीज को जला देने से उसके उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार कर्म बीज के दग्ध हो जाने पर पनः कर्म बन्धन की स्थिति नहीं आती।

जैसा कि शास्त्रकारों ने कहा है—

जहा दड्ढाणं बीयाणं ण जायंति पुन अंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु न जायंति भवंकुरा।।

बीज के जल जाने पर उससे नवांकुर प्रस्फुटित नहीं हो सकता। वसे ही कर्म रूपी बीजों के दग्ध हो जाने पर जन्म-मरण रूपी अंकुर फूट नहीं सकता।

अपुनर्भाव से कर्म विजेता शीतल भगवंत

जिन महाप्रभ शीतलनाथ भगवान् की स्तुति का प्रसंग आपके

समक्ष चल रहा है। उन नरपुंगव ने अपने सत्पुरुषार्थ के द्वारा अपुनर्भाव से कर्मों को अपनी आत्मा से विलग कर दिया था। इस विलगीकरण से उनकी आत्मा में जो अनन्त शांति अभिव्यक्त हुई उसका विवेचन कवि ने बहुत ही विलक्षण भाषा में व्यक्त किया है।

एक तरफ वे समान शक्ति सम्पन्न होते हुए भी अपने व्यक्तित्व की अपेक्षा से अलग हैं। त्रिभुवन के नाथ होते हुए भी निर्ग्रन्थ हैं। योगी होते हुए भी भोगी हैं। वक्ता होते हुए भी मौनी हैं। उपयोगवान होते हुए भी अनुपयोगी हैं। परस्पर विरुद्ध लगने वाले गुण भी शीतल जिनपति की आत्मा में विद्यमान हैं। ऐसे तीर्थंकर महापुरुषों का गुणगान कर भव्यात्मायें महान् कर्म निर्जरा के साथ पुण्यवानी का अर्जन भी करती हैं।

पुण्य व्याख्या—अन्नदान

शास्त्रकारों ने पुण्य की व्याख्या नव प्रकार से व्याख्यापित की है।

नव विहे पुण्णे पंण्णत्ते—अन्नपुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वइ पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे।

पुण्य नव प्रकार के हैं—अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयन पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य।

नव विध पुण्य में सबसे पहला अन्न पुण्य बतलाया है। अन्नादि पदार्थ शुभ भावना के साथ दिये जाने पर अन्न पुण्य का प्रसंग बनता है, इसमें पात्र भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। सुपात्र दान के पात्र भी जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार के होते हैं तथा अनुकम्पा दान भी दिया जा सकता है। किस प्रसंग पर किन भावों के साथ किस पात्र को, किस रूप में दिया जाता है, उन भावों की तारतम्यता के आधार पर पुण्यार्जन के साथ-साथ आत्मशुद्धि रूप निर्जरा भी होती है। यही स्थिति सभी पुण्य के भेदों में बनती है। जब कभी साधु-साध्वी गोचरी के लिये घरों में पहुंचते हैं तो उन्हें बहराने के लिये छोटे-छोटे बच्चे मचलने लगते हैं। दान देने की उत्कृष्ट भावना उनके मन में हिलोरें लेने लगती है। ऐसे बच्चे माता-पिता आदि के द्वारा संस्कारित होते

हैं । वे सहज ही महान् पुण्यानुबंध कर लेते हैं । शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में संत-महापुरुषों को उत्कृष्ट भावना से आहार-दान दिया था । परिणाम स्वरूप महान् पुण्यानुबंध किया । इतनी विशाल ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त किया कि सम्राट श्रेणिक का वैभव भी उसके सामने फीका था ।

जलदान

जलदान से पुण्यार्जन होता है । दाता निस्वार्थ भावना से विविध रूप में जल दान देते हैं । पंच महाव्रतधारी साधक को दिया जाने वाला जल का दान तो धर्म के साथ-साथ महान् पुण्यबंध कराने वाला होता है । पंच महाव्रत धारी साधु कुएँ बावड़ी आदि के सचित्त जल को पीने की बात तो दूर रही, उसको स्पर्श भी नहीं करते । उनके लिये तो बीस प्रकार का धोवन रूप अचित्त पानी या उष्ण पानी ही एषणीय रूप में उपयोग में आता है, और वह भी उनके लिए बनाया हुआ नहीं हो ।

बर्तन आदि तो प्रायः सभी घरो में धुलते हैं । इन बर्तनों का धोया पानी राख के स्पर्श से अचित्त हो जाता है । इस प्रकार दुग्ध के बर्तनों को, छाछ के बर्तनों को धोने से भी पानी निर्जीव हो जाता है । दाल का पानी, चावल का पानी, दाख का पानी आदि अनेक प्रकार से धोवन पानी आप लोगों के घरों में सहज रूप से प्रायः प्रतिदिन बनता है । उस पानी को एकत्रित करने का विवेक रख लिया जाय तो समय पर किन्हीं संत महापुरुषों के पधारने पर आप पानी बहरा कर महान् पुण्य का बन्धन कर सकते हैं । क्योंकि आहार तो कहीं पर भी उपलब्ध हो सकता है । धोवन-पानी की उपलब्धि भी सहज हो सकती है, किन्तु कब-जब गृहस्थ को विवेक विज्ञान हो ।

हर सद् गृहस्थ का कर्तव्य हो जाता है कि साधु-साध्वी गांव या शहर में चाहे हों या न हों, किन्तु सहज रूप में तैयार हुए पानी का विवेक रखे तो न मालूम किस समय संत-मुनिराज पधार जायें, और आपको जलदान का महान् लाभ मिल जाय । संत-मुनिराज पधारें या न पधारें, अगर आपके घर में धोवन पानी सुरक्षित होगा तो जितनी बार आपकी दृष्टि उस बर्तन की ओर जायेगी उतनी बार आपके मन

में शुभ भावना आयेगी कि धोवन-पानी पड़ा है, कोई मुनिराज पधार तो उनके उपयोग में आ जाय। इस भावना से भी आप पुण्यानुबंध करेंगे। कभी-कभी तो साधु जीवन में ऐसे समय भी आते हैं कि जब अचित्त, फासुक जल के अभाव में तृषा-परिषह को सहन करते-करते साधक परलोक की यात्रा पर प्रयाण कर जाते हैं।

पानी के अभाव में महाप्रयाण

एक बार स्वर्गीय गुरुदेव शांत क्रान्ति के जन्म दाता आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० सा० सरदारशहर वर्षावास के लिये बीकानेर से थली प्रान्त की ओर विहार कर रहे थे। गर्मी का समय था। थली प्रांत में प्रासुक पानी सहज रूप से उपलब्ध नहीं होता था। आचार्य प्रवर आदि संतगण का सभी परिषहों को सहन करते हुये विहार चल रहा था। छः संत होने से सुविधा के लिये दो विभाग कर दिये गये थे। आचार्य प्रवर आदि तीन संत विहार करते हुए डूंगरगढ़ पहुंच गये। तीन संत एक गांव पीछे थे। वहां गवेषणा करने पर भी प्रासुक पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ। स्वल्प पानी से तीनों मुनियों को तृषा शांत होना सम्भव नहीं थी। सूर्य पर कुछ बादल थे, अतः तीनों मुनिवर मध्याह्न में ही यह सोचकर आगे बढ़ गये थे कि तीन कोस की दूरी पर डूंगरगढ़ में युवाचार्य श्री (आचार्य प्रवर) विराजमान हैं, वहां प्रासुक पानी मिल जायेगा। कुछ दूर चले होंगे कि बादलों के हट जाने से सूर्य प्रचण्डता के साथ तपने लगा। धरती तप्त हो चुकी थी—तथापि तीनों मुनिवर दृढ़ता के साथ आगे बढ़ रहे थे। किन्तु वयोवृद्ध मुनिवर श्री मोतीलालजी म० सा० को डूंगरगढ़ के डेढ़ कोस दूर रहते चक्कर आने लगे। कण्ठ सूखने लगे, घबराहट बढ़ रही थी, उन्होंने अपनी स्थिति का भान साथी मुनियों को कराया। परिस्थिति की गम्भीरता पर विचार कर उन मुनियों में से एक मुनि तो पानी लेने के लिये डूंगरगढ़ की ओर बढ़ गये और एक मुनि वृद्ध मुनि श्री को एक खेजड़ी की छाया में विश्रान्ति के लिये ले गये। इधर आचार्य प्रवर का डूंगरगढ़ से विहार हो चुका था। जब मुनिश्री पानी के लिये शहर में पहुंचे, इधर-उधर जैनी भाइयों ने पूछा तो न तो उन्होंने आचार्य प्रवर के विराजने का स्थल ही बतलाया, न ही प्रासुक पानी ही बहराया, किन्तु हँसी-मजाक करने लगे। मुनिश्री धैर्यता के साथ आगे बढ़ गये तो आसारामजी

हैं। वे सहज ही महान् पुण्यानुबंध कर लेते हैं। शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में संत-महापुरुषों को उत्कृष्ट भावना से आहार-दान दिया था। परिणाम स्वरूप महान् पुण्यानुबंध किया। इतनी विशाल ऋद्धि-समृद्धि को प्राप्त किया कि सम्राट श्रेणिक का वैभव भी उसके सामने फीका था।

जलदान

जलदान से पुण्यार्जन होता है। दाता निस्वार्थ भावना से विविध रूप में जल दान देते हैं। पंच महाव्रतधारी साधक को दिया जाने वाला जल का दान तो धर्म के साथ-साथ महान् पुण्यबंध कराने वाला होता है। पंच महाव्रत धारी साधु कुएँ बावड़ी आदि के सचित्त जल को पीने की बात तो दूर रही, उसको स्पर्श भी नहीं करते। उनके लिये तो बीस प्रकार का धोवन रूप अचित्त पानी या उष्ण पानी ही एषणीय रूप में उपयोग में आता है, और वह भी उनके लिए बनाया हुआ नहीं हो।

बर्तन आदि तो प्रायः सभी घरो में धुलते हैं। इन बर्तनों का धोया पानी राख के स्पर्श से अचित्त हो जाता है। इस प्रकार दुग्ध के बर्तनों को, छाछ के बर्तनों को धोने से भी पानी निर्जीव हो जाता है। दाल का पानी, चावल का पानी, दाख का पानी आदि अनेक प्रकार से धोवन पानी आप लोगों के घरों में सहज रूप से प्रायः प्रतिदिन बनता है। उस पानी को एकत्रित करने का विवेक रख लिया जाय तो समय पर किन्हीं संत महापुरुषों के पधारने पर आप पानी बहरा कर महान् पुण्य का बन्धन कर सकते हैं। क्योंकि आहार तो कहीं पर भी उपलब्ध हो सकता है। धोवन-पानी की उपलब्धि भी सहज हो सकती है, किन्तु कब-जब गृहस्थ को विवेक विज्ञान हो।

हर सद् गृहस्थ का कर्तव्य हो जाता है कि साधु-साध्वी गांव या शहर में चाहे हों या न हों, किन्तु सहज रूप में तैयार हुए पानी का विवेक रखे तो न मालूम किस समय संत-मुनिराज पधार जायें, और आपको जलदान का महान् लाभ मिल जाय। संत-मुनिराज पधारें या न पधारें, अगर आपके घर में धोवन पानी सुरक्षित होगा तो जितनी बार आपकी दृष्टि उस बर्तन की ओर जायेगी उतनी बार आपके मन

में शुभ भावना आयेगी कि धोवन-पानी पड़ा है, कोई मुनिराज पधार तो उनके उपयोग में आ जाय। इस भावना से भी आप पुण्यानुबंध करेंगे। कभी-कभी तो साधु जीवन में ऐसे समय भी आते हैं कि जब अचित्त, फासुक जल के अभाव में तृषा-परिषह को सहन करते-करते साधक परलोक की यात्रा पर प्रयाण कर जाते हैं।

पानी के अभाव में महाप्रयाण

एक बार स्वर्गीय गुरुदेव शांत क्रान्ति के जन्म दाता आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० सा० सरदारशहर वर्षावास के लिये बीकानेर से थली प्रान्त की ओर विहार कर रहे थे। गर्मी का समय था। थली प्रांत में प्रासुक पानी सहज रूप से उपलब्ध नहीं होता था। आचार्य प्रवर आदि संतगण का सभी परिषहों को सहन करते हुये विहार चल रहा था। छः संत होने से सुविधा के लिये दो विभाग कर दिये गये थे। आचार्य प्रवर आदि तीन संत विहार करते हुए डूंगरगढ़ पहुंच गये। तीन संत एक गांव पीछे थे। वहां गवेषणा करने पर भी प्रासुक पानी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ। स्वल्प पानी से तीनों मुनियों को तृषा शांत होना सम्भव नहीं थी। सूर्य पर कुछ बादल थे, अतः तीनों मुनिवर मध्याह्न में ही यह सोचकर आगे बढ़ गये थे कि तीन कोस की दूरी पर डूंगरगढ़ में युवाचार्य श्री (आचार्य प्रवर) विराजमान हैं, वहाँ प्रासुक पानी मिल जायेगा। कुछ दूर चले होंगे कि बादलों के हट जाने से सूर्य प्रचण्डता के साथ तपने लगा। धरती तप्त हो चुकी थी—तथापि तीनों मुनिवर दृढ़ता के साथ आगे वढ़ रहे थे। किन्तु वयोवृद्ध मुनिवर श्री मोतीलालजी म० सा० को डूंगरगढ़ के डेढ़ कोस दूर रहते चक्कर आने लगे। कण्ठ सूखने लगे, घबराहट बढ़ रही थी, उन्होंने अपनी स्थिति का भान साथी मुनियों को कराया। परिस्थिति की गम्भीरता पर विचार कर उन मुनियों में से एक मुनि तो पानी लेने के लिये डूंगरगढ़ की ओर बढ़ गये और एक मुनि वृद्ध मुनि श्री को एक खेजड़ी की छाया में विश्रान्ति के लिये ले गये। इधर आचार्य प्रवर का डूंगरगढ़ से विहार हो चुका था। जब मुनिश्री पानी के लिये शहर में पहुंचे, इधर-उधर जैनी भाइयों से पूछा तो न तो उन्होंने आचार्य प्रवर के विराजने का स्थल ही बतलाया, न ही प्रासुक पानी ही बहराया, किन्तु हँसी-मजाक करने लगे। मुनिश्री धैर्यता के साथ आगे वढ़ गये तो आशारामजी

झंवर का मकान आ गया। उन्होंने मुनिराज को भक्ति भाव से अपने यहां सहज रूप से उपलब्ध धोवन पानी बहराया। मुनिश्री पानी लेकर पुनः वयोवृद्ध मुनिश्री के पास शीघ्रता के साथ पहुंचने लगे—वे लगभग फर्लाङ्ग–डेढ़ फर्लाङ्ग दूर रहे होंगे, इसी बीच वयोवृद्ध मुनि श्री मोतीलालजी म० ने संथारा पूर्वक प्राण त्याग दिये। यह होती है संयम के प्रति दृढ़ता। प्राण चले जायें पर संयम की मर्यादाओं को नहीं तोड़ना।

सज्जनो ! ऐसी विकट परिस्थिति में संतों को प्रासुक पानी की शीघ्र उपलब्धि हो जाती तो सम्भव है मुनिश्री का जीवन बच जाता। किन्तु कई लोगों ने धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं समझने के कारण पानी न बहरा कर उन मुनिश्री की मजाक की। खैर उससे मुनिश्री के तो कर्मों की निर्जरा ही हुई किन्तु उन भाइयों ने तो कर्मों का बंधन किया। यह तो एक ऐतिहासिक घटित घटना का यथार्थ चित्रण है। मेरा तो आपसे यह कहना है कि आप सहज रूप से बनने वाले प्रासुक पानी का विवेक रखें तो जलदान के महान् पुण्य से लाभान्वित हो सकते हैं।

टंकी का पानी धोवन नहीं है

वर्तमान युग में ऐसी तर्क भी सामने आती है कि आजकल टंकी से फिल्टर होकर आने वाला पानी अचित्त निर्जीव हो जाता है। अतः साधक सीधा नल से भी पानी ले सकता है। किन्तु बन्धुओ ! विचारणीय विषय यह है कि टंकी से बनने वाले फिल्टर पानी की निर्जीवता संदिग्ध है। दूसरी बात नलों में तो पानी पहले के दिनों का भरा रहता है। कहीं-कहीं तो कई दिनों तक पानी नलों के मोड़ में रह जाने से अनन्तकादिक जीवों की भी उत्पत्ति हो जाती है। नया आने वाला पानी इस सजीव पानी से मिलकर आने से नल के पानी की परिपूर्ण निर्जीवता तो रह ही नहीं सकती। साधु के लिये परिपूर्ण रूप से प्रासुक पानी ही उपादेय है। भगवान् ने धोवन पानी लेने का विधान किया है। धोवन से तात्पर्य बर्तन आदि को धोने से जो पानी तैयार होता है उसे धोवन कहते हैं। अतः टंकी का पानी धोवन भी नहीं है। इन अनेक कारणों से नल का पानी साधु के लिए कतई ग्राह्य नहीं है। यदि कोई साधक ऐसा पानी ग्रहण करता है तो उसका अहिंसा महाव्रत सुरक्षित नहीं रह सकता।

स्थान दान

पुण्य का तीसरा भेद लयन पुण्य है। मकान आदि का दान लयन पुण्य में आता है। साधु को ठहरने के लिये मकान देने वाला शय्यातर महान् पुण्य का अर्जन करता है। क्योंकि मकान देने वाला गृहस्थ गौण रूप से संत-मुनिराजों को अन्न, जल ही नहीं, ज्ञान-दर्शन, चारित्र, तप आदि बहुत कुछ देता है। उसके द्वारा दिया गया मकान मुनिराजों की संयमाराधना में सहायक होता है। यह तो संत-मुनिराजों के लिये स्थान देने की बात हुई। स्वधर्मी आदि बन्धुओं को आश्रय देने से भी पुण्य बंध होता है। यही नहीं समझ लीजिये, आप यहां पर बैठे हैं, व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं। जन-समुदाय के अधिक हो जाने से स्थान की संकुचितता का प्रसंग है। ऐसे समय में किसी का घुटना अपने घुटने से अड़ गया और गुस्सा आ गया तो वहां कर्म बंधन की स्थिति बन जाती है। ऐसे ही प्रसंगों पर जो अपने अंगों को संकुचित करके दूसरों को बैठने का स्थान देता है तो वह पुण्यार्जन कर लेता है।

शयन दान

पुण्य का चौथा भेद है—पाट, पाटले, शय्या संस्तारक आदि का दान करने से शयन पुण्य का प्रसंग बनता है।

वस्त्र दान

पुण्य का पाँचवा भेद वत्थ पुण्य का है वस्त्र देने से पुण्य होता है। दीन-हीन प्राणियों को निःस्वार्थ शुभ भाव से वस्त्र देने पर भी पुण्यार्जन का प्रसंग बन जाता है। मैंने ऐसा सुना है, रायपुर के सेठ श्रीलक्ष्मीचन्दजी धारीवाल शीतकालीन ऋतु में रात्रि में बाजारों में पहुंचते तथा फुटपाथ पर पड़े व्यक्तियों पर गर्म वस्त्र डालकर आगे बढ़ जाते। यह उनका रोज का क्रम था। वे दान देकर भी उसे गुप्त रखना चाहते थे। इस प्रकार दिये जाना वाला वस्त्र दान, वस्त्र पुण्य की कोटि में आता है।

मनः पुण्य

छठा भेद है—मन में पवित्र भावना रखने से तथा निस्वार्थ भाव से समस्त प्राणियों के प्रति अनुकम्पा परक आत्मीय भावना रखने से मन पुण्य की स्थिति बनती है।

वचन पुण्य

सातवां भेद है—निस्वार्थ भाव से मुंह से पवित्र मधुर शब्द बोलने से, पंच परमेष्ठी का गुण-गान करने से वचन पुण्य का प्रसंग बनता है।

काय पुण्य

आठवां भेद है—निस्वार्थ भाव से काया द्वारा किसी की सेवा करने से काय पुण्य होता है।

नमस्कार पुण्य

नवंवां भेद है—निस्वार्थ भाव से विशिष्ट पुरुषों को वन्दन-नमस्कार करने से पुण्य होता है।

पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है

पुण्य की बहुत ही संक्षिप्त व्याख्या मैं आपके समक्ष रख पाया हूँ। यह पुण्य भी कर्म-विमुक्ति में सहायक होने से उपादेय है। कई साधक पाप की तरह पुण्य को सोने की बेड़ी बताकर हेय बतला देते हैं। किन्तु शास्त्रकारों की दृष्टि में पाप की तरह पुण्य हेय नहीं है। भगवती सूत्र के शतक एक उद्देशक चार में कहा है—

नेरयिस्स वा तिरिक्ख जोणियस्स वा, मणुसस्स वा, देवस्स वा जे कडे पाव कम्मे, नत्थि तस्स अवे इत्ता मोक्खो। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा कृत पाप कर्म है, इसका वेदन किये बिना इससे छुटकारा नहीं होता।

उपर्युक्त सूत्र में पापकर्म को बाधक बतलाया है। शास्त्रकारों की दृष्टि में पाप की तरह ही पुण्य भी मुक्ति में बाधक होता तो शास्त्रकार पाप के साथ ही पुण्य का भी कथन कर देते, किन्तु शास्त्रकारों ने ऐसा नहीं किया है। करते भी कैसे? क्योंकि शास्त्रकारों के ज्ञानालोक में पाप की तरह पुण्य एकान्ततः हेय नहीं है।

पाप कर्म की प्रकृति का तो १० गुणस्थान के बाद विच्छेद हो जाता है, किन्तु पुण्य प्रकृति का बन्ध आगे के गुणस्थान तक चलता रहता है। अतः स्पष्ट है कि पाप की तरह पुण्य भी हेय नहीं है।

पुण्य के तीन रूप–हेय–ज्ञेय–उपादेय

पुण्य, आत्मा के लिये हेय, ज्ञेय और उपादेय तीनों हैं। इसका स्पष्टीकरण करने के लिये मैं नाव का रूपक दिया करता हूँ—कोई व्यक्ति समुद्र पार करने के लिये तट पर पहुँचा तो उसने देखा, दो प्रकार की नावें पड़ीं हैं। एक पत्थर की तो दूसरी काष्ठ की। वह व्यक्ति विवेकशील प्रज्ञा से चिन्तन कर पत्थर की नाव को छोड़कर काष्ठ की नाव पर बैठता है और समुद्र पार करने लगता है। जब तक किनारा नहीं आ जाय तब तक नाव को छोड़ नहीं सकता। यदि मध्य में वह यह सोचकर नाव को छोड़ दे कि किनारे जाने पर तो नाव छोड़नी ही पड़ेगी, क्यों न अभी ही छोड़ दिया जाय तो वह किनारे पहुँचे बिना ही समुद्र में डूब जाएगा। अतः उस व्यक्ति के लिये नाव, उस किनारे तक ग्राह्य है, किनारे पर पहुँचने के बाद त्याज्य है। यह तो एक उदाहरण है।

पुण्य कर्म की स्थिति भी इसी प्रकार है—बन्धुओ! संसार समुद्र को पार करने वाली भव्य आत्माओं के समक्ष पाप और पुण्य की, पत्थर एवं काष्ठ के समान दो नावें पड़ी हैं। भव्य आत्मायें इन दोनों नावों का ज्ञेय दृष्टि से ज्ञान कर हेय दृष्टि से पत्थर की नाव के समान पाप को छोड़, उपादेय प्रज्ञा से काष्ठ की नाव के समान पुण्य को ग्रहण कर लेती है। यह पुण्य का ग्रहण संसार समुद्र के उस पार पहुँचने तक चलता है। अतः पुण्य को पाप की तरह ही हेय नहीं मानना चाहिये।

शक्ति और व्यक्ति

मुक्ति रूप परम सोपान को पाने के लिये साधक पुण्यार्जन भी करता है। उपर्युक्त पुण्य की नव विधा में वचन पुण्य भी बतलाया है। जिनेश्वर भगवंतों के गुण-गान करने से भी पुण्य बंध होता है। कवि आनन्दघन जी ने भी शीतल जिनपति की स्तुति बड़ी ही विलक्षण प्रकार से की है। उस स्तुति में सरोवार होने के लिये उसका कुछ हार्द समझना भी आवश्यक है—

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन प्रभुता,
निर्ग्रन्थता संयोग रे।
योगी - भोगी, वक्ता - मौनी,
अनुपयोगी - उपयोगे रे ।। शीतल ।।

वीतराग देव अनन्त आत्म वीर्य (शक्ति) से सम्पन्न हैं। उनकी शक्ति इतनी सबल है कि यदि मेरु पर्वत को उठाना हो तो वे उठा सकते हैं। भुज बल से अथाह समुद्र को भी पार कर सकते हैं। यही नहीं, सम्पूर्ण लोक को उठाकर गेंद की भाँति आलोक में फैंक सकते हैं। यह सब प्रभु की शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये है। वीतराग देव त्रिकाल में भी ऐसा कभी नहीं करते। ऐसे परमात्मा में ज्ञानादि शक्तियों का पूर्ण व्यक्तिकरण अलग-अलग रूप में होता है। व्यक्ति से यह तात्पर्य भी लिया जा सकता है कि संसारी प्राणियों से परम स्वरूप परमात्मा विलक्षण होने से, वे विशिष्ट व्यक्ति हैं। इस प्रकार तीर्थंकर देव शक्तिवान् के साथ ही विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी हैं।

त्रिभुवन–प्रभुता–निर्ग्रन्थता

चौंतीस अतिशय एवं अष्टमहाप्रतियों से युक्त होने से त्रिभुवन के स्वामी हैं। दूसरी दृष्टि से इसका अर्थ लिया जाय तो परमात्मा में आत्मा के समस्त गुण अभिव्यक्त हो चुके हैं, अतः समस्त आत्माओं के स्वामी हैं। त्रिभुवन प्रभुता के साथ ही प्रभु संसार के समस्त मोह बन्धनों को त्याग कर, पंच महाव्रतों को ग्रहण कर अकिंचन्य भाव में रमण कर रहे हैं, इसलिये प्रभु में निर्ग्रन्थता का गुण भी है।

योगी और भोगी

वड़ा आश्चर्य होगा, आपको सुनकर कि भगवान् योगी होते हुए भी भोगी हैं। अरे! योग और भोग परस्पर में बिल्कुल विरुद्ध हैं। जहां योग होता है वहां भोग कैसे हो सकता है और जहां भोग होता है वहां योग कैसे हो सकता है? जैन धर्म की यही विशेषता है कि वह परस्पर विरुद्ध प्रतिभासमान गुणों में भी स्याद्वाद सिद्धान्त के द्वारा सामंजस्य वना देता है। शीतल जिनपति में मन, वचन, काय की परिपूर्ण समीक्षणता पा लेने से योगी का गुण तो विद्यमान था ही, भोगी भी हैं प्रभु। भोग शब्द से कोई भगवान् विलासी नहीं हैं वे तो आत्म गुण के भोगी हैं। भोगान्तराय आदि कर्मों को क्षपित कर देने से भगवान् स्वात्म रमण रूप भोग में तन्मय होने से भोगी भी हैं।

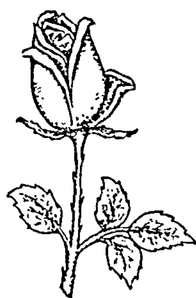
वक्ता और मौनी

द्वादशाङ्ग रूप प्रवचन के उपदेष्टा होने से प्रभु वक्ता हैं और सदा स्वात्म भाव में रमण करने के कारण मौनी भी हैं।

अनुपयोगी और उपयोगी

प्रभु वीतरागी बन चुके हैं। उन्हें किसी भी तत्त्व का बोध पाने के लिये उपयोग लगाने की आवश्यकता नहीं है। बिना उपयोग लगाये ही वस्तु तत्त्व को जानने से प्रभु अनुपयोगी हैं, साथ ही उनमें ज्ञान-दर्शन का उपयोग सतत प्रवाहमान होने से वे उपयोगी हैं।

सुज्ञ आत्माओ ! इस प्रकार जिनेश्वर भगवंतों के विलक्षण गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हुए मन, वचन, काया की एकाकारता के साथ उनकी स्तुति का प्रसंग बनेगा, समीक्षणता का विकास होगा तो निश्चित ही एक दिन परमात्म भाव का वरण कर सकेंगे।



[६]

समीक्षण श्रेय और प्रेय का [१]

- श्रेय मार्ग – आध्यात्मिकता, प्रेय मार्ग – भौतिकता
- प्रेय मार्ग से आत्मा का भारीपन
- श्रेय मार्ग से आत्मा का हल्कापन
- एक ज्वलन्त प्रश्न
- समाधान की ओर
- कर्त्ता के तीन रूप
- प्रेय मार्ग की प्रेरिका

———

कहणं भंते। जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छति।
जयंती ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छं दंसण सल्लेणं।
एवं खलु जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंत्ति।
भगवती सूत्र शतक १२/२

हे भगवान ! जीव किस कारण से गुरुत्व भाव को प्राप्त करता है ?

जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का समाधान दिया प्रभु महावीर ने—जयन्ती ! प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक के अट्ठारह पाप कर्मों के गर्हित आचरण से गुरुत्व अर्थात् भारीपन को प्राप्त करते हैं।

कहणं भंते। जीवा लहुयत्तं हव्व मागच्छंति।
जयन्ती ! पाणाइवाय वेरमणेणं जावमिच्छा दंसण सल्ल
वेरमणेणं एवं खलु जयन्ती जीवा लहुयत्तं हव्व मागच्छंति।

हे भगवन् ! जीव लघुत्व भाव कैसे प्राप्त करता है ?

जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का समाधान दिया प्रभु महावीर ने—जयन्ती ! जीव प्राणातिपात के विरमण से यावत् मिथ्या दर्शन के विरमण से लघुत्व भाव को प्राप्त करता है।

श्रेय मार्ग—आत्मा को कर्मों से हल्की करता है।
प्रेय मार्ग—आत्मा को कर्मों से भारी बनाता है।

श्री श्रेयासं जिन अन्तरयामी
आतमरामी नामी रे ।
अध्यातम मत पूरण पामी
सहज मुक्ति गति गामी रे। श्री श्रेयासं....
निज स्वरूप जे किरिया साधे कहिए रे,
ते अध्यातम लहीये रे ।
जे किरिया करी चउगति साधे
ते न अध्यात्म कही रे ।। श्री श्रेयासं....

श्रेयांस प्रभु के स्तुति गान का आज भव्य प्रसंग उपस्थित हुआ है। यह प्रसंग मानव जीवन के समक्ष दो मार्ग उपस्थित करता है—एक श्रेय का दूसरा प्रेय का ।

श्रेय मार्ग पर चलने वाली आत्मा जन्म-मरण के दुःख से विलग होकर परम सुख और परम शांति को वरती है। सदा-सदा के लिए परमानन्द स्वरूप में रमण करने लगती है। मनुष्य जीवन के उन्नयन का यदि कोई मार्ग है तो ज्ञानी जनों की दृष्टि में श्रेय मार्ग ही है। आप सभी ने अनंत-अनंत पुण्य का अर्जन करके इस अमूल्य मानव तन को पाया है। जिस तन में रह कर आत्मा, श्रेय मार्ग पर निराबाध रूप से चलती हुई चरम लक्ष्य का वरण कर सकती है, उस तन में रहती हुई आत्मा श्रेय मार्ग को यदि नहीं अपनाती है तो और कोई ऐसी जिन्दगी नहीं, ऐसा कोई उपस्थान नहीं कि जिससे वह व्यष्टि से समष्टि की ओर जा सके। अर्थात् व्यक्ति, परिवार, समाज, देश, विश्व आदि सारी परिधियों से ऊपर उठता हुआ सिद्ध स्वरूप में रमण कर सके ।

श्रेय मार्ग परमात्मा तक जाने का व्यवस्थित और शृंखलाबद्ध मार्ग है। जिस मार्ग पर चलने पर स्व और पर दोनों का कल्याण होता है। यह मार्ग—अज्ञानांधकार से भरे संसार में राग द्वेष की झंझावातों के द्वारा चतुर्गति रूपी समुद्र में डूब रही आत्मा को परमानन्द के किनारे पहुँचाने वाला पतवार है। इस मार्ग की व्याख्या ज्ञानियों ने मात्र सैद्धान्तिक रूप से नहीं अपितु प्रयोगात्मक रूप से उपस्थित की है क्योंकि इसी मार्ग पर चल कर ज्ञानियों ने सिद्धत्वावस्था प्राप्त की ।

एतदर्थ यह मार्ग भव्य मानवों के, उन्नति पथ पर बढ़ने के लिए

विशेषतः समाचरणीय है। किन्तु जो मानव इस मार्ग से स्खलित होता हुआ प्रेय मार्ग की ओर बढ़ता है, वह साधक आत्म-सुख से पीछे हटता हुआ सुखाभास के रूप में लगने वाले सुख एवं भयंकर दुःखों को पाता हुआ नवीन-नवीन कर्मों को उपार्जित करता रहता है। ऐसा मानव जीवन में कई तरह की समस्याएँ पैदा करता रहता है। सामाजिक कुरीति-रिवाजों की सर्जना भी करता रहता है, आत्मानन्द से विपरीत होने वाली सारी की सारी क्रिया प्रतिक्रियाएं प्रेय मार्ग की कोटि में आती हैं।

श्रेय मार्ग—आध्यात्मिकता, प्रेय मार्ग—भौतिकता

श्रेय मार्ग को ही कवि ने आध्यात्म रूप में तथा [illegible] भौतिक रूप में प्रस्तुत किया है। श्रेयांस प्रभु ने अन्तर पथ [illegible] आत्म-स्वरूप का अन्वेषण करते हुए राग-द्वेष को पूर्णतया [illegible] आध्यात्म पद को प्राप्त किया तथा सहज रूप से मुक्ति [illegible] को प्राप्त कर लिया। यह परम सुख की अनुभूति [illegible] पर ही हो पाती है।

कई साधक श्रेय मार्ग का नाम लेकर भी [illegible] हुए प्रेय मार्ग पर प्रवृत्ति करने लगते हैं। ऐसे [illegible] करते हुए कवि ने कहा है :—

सयल संसारी इन्द्रिय [illegible]

अर्थात्—जो साधक एन्द्रियक [illegible] सुविधाओं में आसक्त हैं, वे आत्म[illegible] हैं, वे श्रेय मार्ग के राही न होकर प्रेय [illegible] कौन हो सकता है, इसके लिए कवि ने [illegible] है :—

मनि [illegible]

अर्थात्—मुख्य रूप से वे ही आतमरामी होते हैं जो संसार की सारी ही वैषयिक कामनाओं एवं लालसाओं से दूर हों। साधुत्व अवस्था में रहकर भी जो साधक वैषयिक लालसाओं में लिप्त हैं, प्रबल काषायिक भावनाओं से भरे हैं, वे प्रेय मार्ग के राही हैं, किन्तु संसारी अवस्था के बीच रहने वाले मानव यदि एन्द्रियक विषयासक्ति से उपरत हैं, काषायिक प्रबल भावनाओं से परे हैं या फिर एन्द्रियक विषयों से उपरत होने की ओर गतिशील हैं, जीवन समीक्षण की ओर जिन की गति है, वे श्रेय मार्ग के राही हैं।

प्रेय-मार्ग से आत्मा का भारीपन

जयन्ती श्रमणोपासिका के गुरुत्व-लघुत्व सम्बन्धी प्रश्न के द्वारा भी श्रेय और प्रेय मार्ग का स्पष्टीकरण हो जाता है, भगवती सूत्र के बारहवें शतक के द्वितीय उद्देशक में जयन्ती श्रमणोपासिका का वर्णन आता है। आत्म जागरण के लिए उसने भगवान् से अनेक प्रश्न पूछे थे, उनमें से एक प्रश्न यह भी था :—

कहणं भंते। जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ?
जयन्ती ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छा दंसण सल्लेणं।
एवं खलु जीवा गरुयत्तं, हव्वमागच्छंति।

हे भगवान् ! जीव किस कारण से गुरुत्व भाव को प्राप्त करता है ? जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न का भगवान् ने समाधान दिया—जयन्ती ! जीव प्राणातिपात से लेकर मिथ्या दर्शन शल्य तक के अट्ठारह पाप कर्मों के गर्हित आचरण से गुरुत्व अर्थात् भारीपन को प्राप्त करते हैं। ऐसे भारीपन को प्राप्त करता हुआ वह जीव चतुर्गति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रभु ने आत्मा के भारी होने के कारण अट्ठारह पाप बतलाए हैं। आप सभी को संभव है—अट्ठारह पापों के नाम तो याद होंगे ही ? अगर याद न हों तो अट्ठारह पापों के नाम याद कर लेना चाहिए।

अट्ठारह पापों में सबसे पहला पाप—प्राणातिपात बतलाया है। जीव-हिंसा द्वारा भी आत्मा कर्मों का बन्धन करती है। उस कर्म बन्धन से आत्मा भारी बनती है। यह भारीपन आत्मा को अध:पतन की ओर

ढकेल देता है । हिंसा की व्याख्या करते हुए वाचक उमास्वाति ने कहा है :—

प्रमत्त योगात् प्राणं व्यपरोणं हिंसा ।

प्रमत्त योग से किसी के प्राणों का व्यपरोपण कर देना हिंसा है। इसी प्रकार मृषावाद-झूठ बोलने से; अदत्ता दान-चोरी करने से; मैथुन-विषय सेवन से, परिग्रह-ममत्व रखने से भी आत्मा कर्मों से भारी बनती है ।

आज का धन लोलुपी व्यक्ति किस प्रकार से हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों का सेवन करता हुआ धन एकत्रित कर रहा है। धनार्जन की यह वृत्ति मानव से क्या-क्या अनीति और कुकृत्य करा डालती है, मुझे इसका स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में तो आप लोगों की बुद्धि बहुत ही पैनी एवं तीक्ष्ण बन रही है, जहाँ सरकारी असेम्बलियों (Assembly) विधान सभा में कोई अनीति न होने पाए, इसके लिए नियम बनाए जाते हैं वहां आज का व्यापारी, अफसर या कोई भी धनलोलुपी व्यक्ति उन नियमों से कैसे बचा जाय और किस प्रकार धन एकत्रित किया जाय, इसके लिए अनेक गलियें निकाल लेता है। आज सरकार ने किस प्रकार से नियमों का प्राकार बना रखा है, वह आपसे छिपा हुआ नहीं है। फिर भी मानव दो नम्बर के रास्तों से धन की अतृप्त लालसा को पूरी करने में जुटा हुआ है।

सुज्ञ आत्माओ ! यह सब प्रेय मार्ग है। ऐसे मार्ग चलने वाले व्यक्ति अपनी आत्मा को कर्मों से भारी बनाते हैं और चतुर्गति संसार में भटकते रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि पाप स्थानों की व्याख्या बहुत विस्तृत है। उन सबकी व्याख्या करने के लिए मुझे बहुत समय चाहिए। अतः अभी तो आपको संक्षिप्त में ही प्रेय एवं श्रेय मार्ग का स्वरूप बतला रहा हूँ।

श्रेय मार्ग से - आत्मा का हल्कापन

जयन्ती श्रमणोपासिका ने भगवान् से जिस प्रकार आत्मा के भारीपन के विषय में प्रश्न किया उसी प्रकार आत्मा हल्की कैसे होती है इस विषय में भी प्रश्न किया है :—

कहणं भंते जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ?
जयन्ती ! पाणाइवाय वेरमणेणं जाव मिच्छादंसण
सल्ल वेरमणेणं एवं खलु जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति ।

हे भगवान् ! जीव लघुत्व भाव कैसे प्राप्त करता है ? जयन्ती श्रमणोपासिका के इस प्रश्न पर भगवान् ने समाधान दिया—जयन्ती ! जीव प्राणातिपात के विरमण से यावत मिथ्या दर्शन के विरमण से लघुत्व भाव को प्राप्त करता है ।

आत्मा का मौलिक स्वभाव हल्कापन है । जिस प्रकार मोटे रूप से रुई हल्की और लोह भारी लगता है । रुई ऊपर उठने लगती और लोह नीचे गिरने लगता है । इसी प्रकार आत्मा ज्यों-ज्यों कर्मों से हल्की होती जाती है, त्यों-त्यों ऊपर उठने लगती है, क्योंकि उसका चरम लक्ष्य ऊपर की ओर है । किन्तु जब कर्मों से भारी होती जाती है त्यों-त्यों वह पतन की ओर बढ़ने लगती है । आत्मा के ऊपर उठने का स्वभाव ही उसके हल्केपन का परिचायक है । किन्तु कर्मों का भारीपन उसे संसार में रुलाता है । आत्मा को ऊपर की ओर ले जाने के लिए श्रेय मार्ग पर चलना होगा । आत्मा का समीक्षण करना होगा । श्रेय मार्ग द्वारा ही आत्मा हल्केपन को प्राप्त करती है । श्रेय मार्ग को ही अट्ठारह पापों की निवृत्ति के रूप में प्रतिपादित किया है ।

जो व्यक्ति "आत्मन: प्रतिकूलायनि परेमांय म समाचरेत्"

अपनी आत्मा के प्रतिकूल लगने वाला आचरण दूसरों के लिए नहीं करता है । सभी आत्माओं के प्रति आत्मीय भाव रखता है, व्यवसायी कार्यों में भी कम से कम हिंसा, झूठ, चोरी आदि हो, इस विषय में सतर्कता रखता है । क्रोधादिक कषायों को दूर हटाने के लिए प्रयत्न करता है । ऐसा व्यक्ति श्रेय मार्ग पर चलता हुआ अपनी आत्मा को हल्की बनाता है, वह हल्कापन बढ़ते-बढ़ते जिस दिन परिपूर्ण हल्केपन की स्थिति में परिणित हो जाता है अर्थात् जब उसकी आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से विलग हो जाती है, तब वह परम सुख के स्थान को पा लेता है ।

एक ज्वलन्त प्रश्न

प्रेय मार्ग चलने वाला केवल पुरुष वर्ग ही नहीं होता, हिंसा, झूठ, चोरी आदि का आचरण मात्र पुरुष ही नहीं करता, किन्तु स्त्रियां भी

करती हैं। जब तक व्यक्ति शादी नहीं करता, तब तक एक व्यष्टि इकाई का स्वामी होता है, और जब वह शादी कर लेता है तब दाम्पत्य जीवन इकाई का रूप ले लेता है। उसी इकाई में संतानों का प्रसंग भी समाविष्ट हो जाता है, यहां विचारणीय विषय यह है कि ऐसे संयुक्त परिवार रूप, इकाई का स्वामी पुरुष होता है जो दुकान पर बैठ कर जितने भी कर्म कर रहा है, पाप कर रहा है, उन पाप कर्मों का भागीदार वह व्यापारी ही है, या उनके साथ बैठने वाले पुत्र भी हैं? साथ ही क्या उसकी धर्मपत्नी और अन्य बाल-बच्चे भी हैं जो कि उस परिवार की सदस्यता को लेकर चल रहे हैं, वे सभी भागीदार होंगे?

इधर घरेलू कार्य की दृष्टि से जो बहिनें रसोई बनाने आदि कार्य करती हैं। उसमें पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन छहों प्रकार के जीवों का हनन होता है। आज के आधुनिक साधनों के द्वारा कभी-कभी तो मनुष्य तक की हिंसा हो जाती है, इस प्रकार के हिंसात्मक कार्यों से होने वाले पाप कर्मों का भागीदार कौन होगा? क्या रसोई बनाने वाली महिला ही होगी या पुरुष वर्ग तथा परिवार से सम्बन्धित सभी व्यक्ति? इस प्रकार का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। कई अध्ययन-शील व्यक्ति अन्य तर्क भी दे सकते हैं। वे दें या न दें किन्तु मैं स्वयं भी आपके नॉलेज के लिए वे तर्क भी रख देता हूँ जहाँ शास्त्र में कहा गया है :—

अप्पाकत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पामित्तम मित्तं च, दुपट्ठिअ सुप्पट्ठिओ॥

सुख और दुःख का कारण पुण्य और पाप हैं, इन पुण्य और पाप का कर्त्ता स्वयं आत्मा है, जो करता है, वही भरता है। जैसा करता है, वैसा भरता है।

अतः करने वाला व्यक्ति ही पाप का भागीदार बनता है। जो पाप करता ही नहीं है वह उसका भागीदार कैसे बन सकता है?

गीता में भी इसी प्रकार कहा है :—

उद्धरेदात्मनात्मानं आत्मानंमवसा दयेत्।
आत्मनेव आत्मनोबन्धु, आत्मनेव आत्मनोरिपु॥

हे अर्जुन ! अपनी आत्मा का उद्धार तू स्वयं कर, दूसरा तुम्हारी आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता। तेरा पतन भी तू ही करेगा, तेरा उद्धार भी तू ही करेगा। इसका तात्पर्य है कि अगर पाप तुम करोगे तो उसका फल तुम्हें ही मिलेगा। दूसरे को उस पाप का फल कैसे मिल सकता है ? इन उद्धरणों से यह जिज्ञासा और प्रबल हो जाती है कि पुरुष के द्वारा व्यापारिक कार्यों में किये गए पाप का और महिला द्वारा भोजनादि पकाने के लिए किये गये पाप का भागीदार कौन होगा ? क्या व्यापारिक पाप का भागीदार पुरुष ही होगा या स्त्री और परिवार भी ? क्या भोजनादि में होने वाले पाप की भागीदार महिला ही होगी या पुरुष एवं उसके परिवार के सदस्य भी ?

समाधान की ओर

प्रेय मार्ग पर चलने वाले परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा (जो परिवार से सम्बन्धित) हिंसा की जाती है उसका कुछ न कुछ अंश पारिवारिक सभी सदस्यों को मिलता है। पुरुष के द्वारा जो व्यापार में हिंसादिक पाप कर्म किये जाते हैं, उन पाप कर्मों का भाग उस परिवार की महिला एवं बच्चे-बच्चियों को भी मिलता है, क्योंकि पुरुष के द्वारा अनैतिक आचरण द्वारा किए गये धनार्जन पर मालिकी तथा उपयोग परिवार के सभी सदस्य करते हैं। इसी प्रकार महिला द्वारा भोजन आदि कार्यों में की जाने वाली हिंसा के पाप कर्म का भाग भी परिवार के सभी सदस्यों को लगता है, क्योंकि उस भोजन का उपयोग परिवार के सभी सदस्य करते हैं।

शास्त्रकारों का जो यह कथन है कि आत्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है, यह सच है। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं लिया जा सकता कि स्त्री भोजनादि में जो पाप करती है उसका सारा पाप उसे ही लगेगा, पुरुष को नहीं। यदि ऐसा होगा तो फिर नौकर जो रसोई बनायेगा तो उस रसोई से होने वाली हिंसा का पाप उस नौकर को ही लगेगा। यही नहीं बड़े-बड़े व्यवसायों में भी सभी कार्य प्रायः मुनीमजी ही किया करते हैं। सेठ तो बैठा रहता है, तब उन व्यवसायों में होने वाले हिंसात्मक आदि अनैतिक कार्यों का भागीदार मुनीम ही होना चाहिए। और यदि ऐसा है तो उनसे होने वाले धनार्जन का स्वामी भी मुनीम ही होगा। किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः केवल किसी के द्वारा कुछ कर लेने मात्र से सारा

गुरुदेव ने–श्रावकजी की ओर देखा तो वे बोल उठे—गुरुदेव ! इससे पूछिये तो सही मैंने इसे व्याख्यान श्रवणार्थ जाने के लिए कब इन्कारी की है ? हमारे तो महान् पुण्य का उदय हुआ है कि क्रान्तिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. हमारे गांव में पधारे हैं। उनकी पीयूष वर्षिणी वाणी प्रवाहित हो रही है। अतः मेरा इन्कार करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इन दोनों की बातों को सुनकर गुरुदेव असमंजस में पड़ गये, सोचा किस की बात सच है, दोनों ही सामने खड़े हैं। गुरुदेव को विचार में पड़े देख सेठानी बोली–गुरुदेव—श्रावकजी का कहना उचित है। ये इस प्रकार तो मना नहीं करते। बात यह है कि मेरे सोने की चूड़ी की टीप टूट गई है, मैंने इन्हें कहा–आप इसे जुड़ा कर दीजिए किन्तु यह जुड़ा कर लाते नहीं हैं, तो मैं सोने की चूड़ी पहने बिना व्याख्यान में कैसे आऊँ ? सेठानी की बात सुनकर गुरुदेव सोचने लगे—अहो कितनी नासमझ बहन है, इसे धार्मिक जैसे श्रेय कार्यों में भी प्रेय वस्तु की आसक्ति बाधक बन रही है। व्याख्यान श्रवण और सोने की चूड़ी से क्या सम्बन्ध ? किन्तु इस बहन की दृष्टि में व्याख्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सोने की चूड़ी है। गुरुदेव तो उसे अल्प शब्दों में उद्बोधन देकर अपने स्थान पधार गए।

सज्जनो ! क्या बाइयों को सोने की चूड़ी पहनना आवश्यक है ? पोशाक सजाकर व्याख्यान स्थल पर जाना उचित है ? आज के युग में फैशनेबिल चीजें, सोने की चूड़ियाँ, जंजीरें पहिनकर न तो बाजार में जाना ही उचित है और न ही व्याख्यान स्थल पर। कितना अच्छा हो कि ये बहिनें श्रेय मार्ग को समझें और प्रेय मार्ग से मोड़ खायें। व्याख्यान स्थल पर आएँ तो सीधीसादी पोशाक का विवेक रखें। जेवर पहिनने का मोह नहीं रखना चाहिए। इससे मुक्ति नहीं मिलेगी और अधिक कर्मों का बन्धन होगा।

जो बहिनें व्याख्यान में बढ़िया कपड़े एवं जेवर पहिनकर जाती हैं, वे जाकर बहनों के बीच में बैठेंगी और अपने गहनों, कपड़ों को निरखती रहेंगी। समीपस्थ बहिनों का ध्यान भी उसी तरफ जायेगा। उन बहनों के मन में भी ईर्ष्या भाव जागृत होगा, वे भी वैसे गहने पाने के लिए आर्तध्यान करने लगेंगी। व्याख्यान श्रवण का लाभ नहीं उठा पायेंगी। ऐसे अवसर पर बहिनें श्रेय मार्ग पर न बढ़कर प्रेय मार्ग की

डिजाइनदार साड़ियां खरीद कर दें, इस भावना से वह व्यापार को कराने वाली कर्त्ता बनती है, यदि पुरुष कमाकर उसकी आवश्यकता पूर्ति कर देता है तो वह व्यापार की अनुमोदक कर्त्ता बनती है। इस प्रकार व्यापारिक हिंसा में पुरुष के साथ स्त्री भी सहभागी होती है।

अतः स्पष्ट है कि पाप करने वाला कोई भी हो किन्तु उससे सम्बन्धित सभी व्यक्ति उस पाप के सहभागी होते हैं।

प्रेय मार्ग की प्रेरिका

कभी कभी महिलाएँ पुरुषों को प्रेय मार्ग की ओर ढकेल देती हैं। उनकी हर मांग पूरी होनी चाहिए। पुरुषों को कितना ही अन्याय, अत्याचार करना पड़े पर उसको तो डिजाइनदार साड़ियां चाहिए, गहनें चाहिए।

पुरुष को कम्पनी सरकार का आर्डर मानना ही पड़ता है। आज के व्यक्ति सरकार के आदेशों को तो ठुकरा भी सकते हैं, उनके लिए कई गलियां भी निकाल लेते हैं किन्तु कम्पनी सरकार के आर्डर में कोई गली नहीं निकल पाती। उसका तो पालन करना ही पड़ता है, इस प्रकार की महिलाएं स्वयं ही अधःपतन के गर्त में गिरती हैं और अपने पति को भी गर्त में गिराती हैं।

ऐसी महिलाओं की रुचि धर्म कार्यों में होते हुए भी उनके मस्तिष्क में भौतिक तत्त्वों का आकर्षण अधिक होता है।

एक रूपक—एक बार स्व. ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. एवं स्व. शांत क्रान्ति के जन्मदाता युवाचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. साथ ही किसी गांव में विराज रहे थे। भिक्षाचर्या के लिए स्वयं आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा. पधारे। भ्रमण करते-करते वे एक श्रेष्ठी के घर में पधारे। गोचरी करने के पश्चात् गुरुदेव ने श्राविका को व्याख्यान में आने की प्रेरणा दी। गुरुदेव की बात सुन कर श्राविका बोली—गुरुदेव मेरी तो आने की बहुत इच्छा रहती है किन्तु आपके श्रावकजी आने नहीं देते।

गुरुदेव ने—श्रावकजी की ओर देखा तो वे बोल उठे—गुरुदेव ! इससे पूछिये तो सही मैंने इसे व्याख्यान श्रवणार्थ जाने के लिए कब इन्कारी की है ? हमारे तो महान् पुण्य का उदय हुआ है कि क्रान्तिकारी आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. हमारे गांव में पधारे हैं। उनकी पीयूष वर्षिणी वाणी प्रवाहित हो रही है। अतः मेरा इन्कार करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। इन दोनों की बातों को सुनकर गुरुदेव असमंजस में पड़ गये, सोचा किस की बात सच है, दोनों ही सामने खड़े हैं। गुरुदेव को विचार में पड़े देख सेठानी बोली—गुरुदेव—श्रावकजी का कहना उचित है। ये इस प्रकार तो मना नहीं करते। बात यह है कि मेरे सोने की चूड़ी की टीप टूट गई है, मैंने इन्हें कहा—आप इसे जुड़ा कर दीजिए किन्तु यह जुड़ा कर लाते नहीं हैं, तो मैं सोने की चूड़ी पहने बिना व्याख्यान में कैसे आऊँ ? सेठानी की बात सुनकर गुरुदेव सोचने लगे—अहो कितनी नासमझ बहन है, इसे धार्मिक जैसे श्रेय कार्यों में भी प्रेय वस्तु की आसक्ति बाधक बन रही है। व्याख्यान श्रवण और सोने की चूड़ी से क्या सम्बन्ध ? किन्तु इस बहन की दृष्टि में व्याख्यान से भी अधिक महत्त्वपूर्ण सोने की चूड़ी है। गुरुदेव तो उसे अल्प शब्दों में उद्बोधन देकर अपने स्थान पधार गए।

सज्जनो ! क्या बाइयों को सोने की चूड़ी पहनना आवश्यक है ? पोशाक सजाकर व्याख्यान स्थल पर जाना उचित है ? आज के युग में फैशनेबिल चीजें, सोने की चूड़ियाँ, जंजीरें पहिनकर न तो बाजार में जाना ही उचित है और न ही व्याख्यान स्थल पर। कितना अच्छा हो कि ये बहिनें श्रेय मार्ग को समझें और प्रेय मार्ग से मोड़ खायें। व्याख्यान स्थल पर आएँ तो सीधीसादी पोशाक का विवेक रखें। जेवर पहिनने का मोह नहीं रखना चाहिए। इससे मुक्ति नहीं मिलेगी और अधिक कर्मों का बन्धन होगा।

जो बहिनें व्याख्यान में बढ़िया कपड़े एवं जेवर पहिनकर जाती हैं, वे जाकर बहनों के बीच में बैठेंगी और अपने गहनों, कपड़ों को निरखती रहेंगी। समीपस्थ बहिनों का ध्यान भी उसी तरफ जायेगा। उन बहनों के मन में भी ईर्ष्या भाव जागृत होगा, वे भी वैसे गहने पाने के लिए आर्तध्यान करने लगेंगी। व्याख्यान श्रवण का लाभ नहीं उठा पायेंगी। ऐसे अवसर पर बहिनें श्रेय मार्ग पर न बढ़कर प्रेय मार्ग की

ओर बढ़ जाती हैं। धर्मी बहनें, इस फैशन को छोड़ें। आचार्य भगवन् फरमाते थे—

"फैशन से फांसी और सादगी की आजादी" इस फैशन से कितनी ही आत्माएँ कर्मों से दबती जा रही हैं, प्रेय मार्ग की ओर बढ़ रही हैं।

आप लोगों के हाथ में अच्छा अवसर आया है—प्रेय मार्ग से हट कर श्रेय मार्ग की ओर आने का। ऐसे अवसर को हाथ से न जाने दें।

क्रमशः............



[१०]

समीक्षण श्रेय और प्रेय का [२]

- राह कौन सी—श्रेय या प्रेय की
- श्रेय मार्ग की प्रेरिका
- झूठा अभिमान वकील सा. का
- विपरीत परिणाम पत्नी पर
- पत्नी से परिवर्तन पति में
- प्रेय मार्ग और दहेज
- श्रेय मार्ग और धनोपार्जन
- छोटी बहू का श्रेय कार्य
- पाँच स्वर्ण मुद्राएँ

———

अब तक आपके समक्ष श्रेय-प्रेय मार्ग की स्वरूप व्याख्या के साथ प्रेय मार्ग का कुछ स्पष्टीकरण भी आ चुका है। प्रेय मार्ग में प्रवृत्ति जहां मानव को अवनति की ओर ले जाती है तो श्रेय मार्ग की प्रवृत्ति मानव को उन्नति की ओर ले जाती है। श्रेय मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मानव की दृष्टि भौतिकता से हट कर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होती है। उनका लक्ष्य जड़ पदार्थ न होकर आत्मान्वेषण होता है। ऐसे साधकों को कवि ने आत्मरामी कहा है। आत्मरामी साधक समीक्षण दृष्टि द्वारा श्रेय मार्ग प्रवृत्ति करता हुआ अन्ततः परम सुख को प्राप्त कर लेता है।

राह कौन सी—श्रेय या प्रेय की

गृहस्थ जीवन को एकान्ततः प्रेय मार्ग का राही नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ जीवन में रह कर भी कई व्यक्ति श्रेय मार्ग के राही बन जाते हैं। आचारांग सूत्र में एक महत्त्वपूर्ण सूत्र आया है—

जे आसवा ते परिसव्वा, जे परिसव्वा ते आसवा।

जो आश्रव के स्थान हैं वे निर्जरा के स्थान बन जाते हैं और निर्जरा के स्थान भी आश्रव के स्थान बन सकते हैं। अतः मुनि वेष में रहते हुए जीवन को एकान्ततः श्रेय मार्ग और गृहस्थ जीवन को एकान्ततः प्रेय मार्ग नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ जीवन में रह कर के भी कई भव्यात्माएं देशतः समीक्षण ध्यान द्वारा आत्मोत्थान में प्रवृत्ति करती हुई श्रेय मार्ग की राही बन जाती हैं।

किन्तु गृहस्थ जीवन की गाड़ी भी पति और पत्नी के द्वारा चलती है।

अतः दोनों के विचारों में समीकरण होना आवश्यक है। यदि दोनों के विचार भौतिकतापरक होंगे, तो वे प्रेय मार्ग की ओर मुड़ जायेंगे और यदि आध्यात्मिकता परक होंगे तो वे श्रेय मार्ग के राही बन जायेंगे। अभी मैंने आपको गणेशाचार्य के जीवन का संस्मरण सुनाया था। वह सेठानी श्रेय मार्ग में जाने की इच्छा रखते हुए भी भौतिकतत्त्वों का आकर्षण उसके लिए बाधक बन रहा था। यदि कोई बहिन श्रेय मार्ग की अनुगामिनी है तो वह अपने प्रेय मार्गगामी पति को श्रेय मार्ग का राही बना देगी। जहां बहिनें पति को प्रेय मार्ग का राही बना

सकती हैं, वहाँ वहिनें पति को श्रेय मार्ग का राही भी वना सकती हैं। ऐसी ही घटना मैं आपको सुनाता हूँ—जिसके द्वारा आपको ज्ञात हो सकेगा कि—श्रेय-मार्गानुगामिनी धर्मपत्नी अपने प्रेय मार्गनुगामी पति को श्रेयानुगामी कैसे वनाती है।

श्रेय मार्ग की प्रेरिका

एक वहुत वड़े वकील थे, जिनकी प्रतिभा वहुत तीक्ष्ण थी। मुकदमों में किस प्रकार दाव-पेच करके अपने पक्ष को जिताना वे अच्छी तरह जानते थे। गलत केस भी यदि उनके हाथों आ जाता तो वे उसे भी अपने वुद्धि वल के द्वारा न्यायालय में सही प्रमाणित कर देते। एक वार की घटना है कि उनके पास एक ऐसा केस आया कि एक भाई को सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने थे और वह देने की स्थिति में नहीं था, सामने वाले ने उस पर केस (दावा) कर दिया, उस व्यक्ति ने भी अपने पक्ष को रखने के लिए इन वकील सा. को अपना वकील बना लिया। वकील सा. यह अच्छी तरह जानते थे कि जिसका केस मैंने लिया है उसे सामने वाले व्यक्ति को पचास हजार रुपये देने हैं, किन्तु केस जव वकील सा. ने अपने हाथ में ले लिया तो ऐसे झूठे केस को भी जिताने के लिए लगाने लगे अपनी वुद्धि की दौड़। आखिर वुद्धि ने कमाल दिखाया। एक के वाद एक तर्क कोर्ट में पेश करने लगे। आखिर उन्होंने अपने पक्ष को जिता ही दिया। जिताया ही नहीं अपितु जिसको उसे पचास हजार रुपये देने थे उसे देने की वात दूर रही, उससे पचास हजार रुपये लेने निकलवा दिये। देखिये, आज के कोर्ट का न्याय। जहाँ दूध का दूध और पानी का पानी होना चाहिए, वहाँ ऐसे वकीलों के परिणामस्वरूप आज कैसे अन्धकारमय निर्णय सामने आते हैं, जहाँ दु:ख का मारा व्यक्ति अपना न्याय लेने के लिए न्यायालय में आए और उसकी ऐसी स्थिति वने तो उसके दिल पर क्या वीतती है ? आज तो कई सुज्ञ व्यक्ति अपनी हानि सहन कर लेते हैं, किन्तु कोर्ट में लड़ने नहीं जाते। वकील साहव तो केस जीत लेने के कारण वहुत प्रसन्न हो रहे थे, मन ही मन फूले नहीं समा रहे थे। जीत की खुशी में उन्मत्त होते हुए वे घर पर पहुँचे। भोजन करने के लिए वैठे ही थे कि उनकी धर्मपत्नी भोजन परोस रही थी, इतने में ही जिस पक्ष को उन्होंने जिताया था, उस पक्ष का व्यक्ति वहुत खुश होता हुआ वहाँ आ पहुँचा और दस हजार रुपयों के नोट वकील साहव को लेने के लिए आग्रह करने लगा।

झूठा अभिमान वकील साहब का

वकील साहब समझ गये, मैंने इसके पक्ष को जिताया उसी के फलस्वरूप यह दस हजार रुपये देने का आग्रह कर रहा है, लेकिन मेरे इस बुद्धि के चमत्कार को मेरी पत्नी कैसे जानेगी, मैं अपने मुँह से कहूँ, इसकी अपेक्षा इसके मुँह से कहलाऊँ तो ज्यादा अच्छा होगा। यह सोच कर वकील साहब तिरछी नजर से उसे देखते हुए बोले "यह रुपये किस बात के हैं?" इस पर वह व्यक्ति हाथ जोड़ कर विनम्रता के साथ बोला— वकील सा. यह रुपये आपके बुद्धि बल के चमत्कार के परिणाम हैं। आपने कोर्ट में वह चमत्कार दिखाया कि जिससे मेरा असत्य पक्ष भी, सही साबित हो गया। मुझे जो सामने वाले व्यक्ति के पचास हजार रुपये देने थे, उसके बदले आपने पचास हजार रुपये और दिलवाये, इस प्रकार मुझे एक लाख रुपये की आमदनी करवा दी। इतने रुपये तो मैं नहीं दे सकता किन्तु आपकी फीस के दस हजार रुपये दे रहा हूँ।

विपरीत परिणाम पत्नी पर

वकील सा. सोच रहे थे कि इस व्यक्ति की बात सुनकर मेरी पत्नी बहुत खुश होगी और कहेगी कि बहुत अच्छा किया आपने, मैं आपकी बुद्धि की दाद देती हूँ, अब मेरे बहुत जेवर और पोशाक बन जाएँगे, अपने ही विचारों में खोए वकील सा. ने ज्यों ही अपनी धर्मपत्नी की ओर देखा तो उनके विचारों पर कुठाराघात हो गया। उनकी सारी भावनाओं पर पानी फिर गया। पत्नी के खुश होने की बात तो दूर रही। उसकी आँखों में धर-धर आँसू आ रहे थे।

वकील साहब की तो सारी प्रसन्नता ही कहीं गायब हो गई। वे सहमते हुए पत्नी से बोले—अरे, तुम रो क्यों रही हो ? लो ये दस हजार रुपये मैं तुम्हें दे देता हूँ इससे तुम जी चाहो सो बनवा लेना। इसके अतिरिक्त भी जो तुम्हारी इच्छा होगी सो भी पूरी कर दूंगा, लेकिन तुम रोती क्यों हो ?

पत्नी से परिवर्तन पति में

पत्नी का रोना इसलिए तो था नहीं कि उसे रुपये चाहिए: उसकी आत्मा तो इसलिए कराह रही थी कि अहो ! कितना घोर

अन्याय हो रहा है। जिस कोर्ट से न्याय की अपेक्षा रखी जाती है उसी कोर्ट में यह घोरतम अन्याय और वह भी मेरे पति द्वारा, तुच्छ रुपयों के लिये। वह बोल उठी पति से। मुझे नहीं चाहिए ऐसा रुपया और न ही मुझे ऐसी कोई भी फैशनेबल साड़ी या जेवर ही चाहिए। मैं एक पोशाक से भी अपनी गुजर कर सकती हूँ। किन्तु मुझे अनीति का एक पैसा भी नहीं चाहिए। ईमानदारी का तकाजा था कि आप इस व्यक्ति से पचास हजार रुपये सामने वाले को दिलवाकर सही इन्साफ करवाते। लेकिन आपने पचास हजार रुपये उसे दिलवाने की बात तो दूर रही बल्कि उससे पचास हजार रुपये और निकलवा लिये, क्या आपने सोचा कि जिसके एक लाख का घाटा हुआ उसका कितना कलेजा टूटा होगा ? कलम और बुद्धि से होने वाली कितनी क्रूर हिंसा है यहां। ऐसे कृत्यों से भारी कर्मों का बन्धन होता है।

मैं आपकी धर्मपत्नी और आप मेरे पति, अतः मेरे पति ऐसे हिंसाकारी कार्यों से उपरत होकर ऊपर उठें। न्याय और नीति से वित्तोपार्जन करें। जिससे यह जीवन भी सुखी बने और पर जीवन भी सुखमय बन सके। अतः मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आप इस प्रकार के अनीति पूर्ण कार्यों को छोड़ें। ऐसे धन की अपेक्षा सीधा और सात्विक जीवन जीना बहुत उत्तम है।

पत्नी की मानवीय भावना और आध्यात्मिक जीवन का प्रभाव वकील सा. पर भी गहरा पड़ा। वे भी सोचने लगे–जब मेरी पत्नी भी अनीति पूर्ण धन को नहीं चाहती है तो फिर इसे रख कर क्या करना है ?

वकील सा. ने उस भाई से कहा—यह रुपये तुम वापिस ले जाओ। मेरी पत्नी इस प्रकार के अनीतिपूर्ण धन को रखना बिल्कुल पसन्द नहीं करती। तुम्हें भी जो पचास हजार रुपये और आए हैं, उन्हें तो वापस सामने वाले व्यक्ति को देने पड़ेंगे।

देखिये बहिन की धार्मिक भावना—समीक्षण दृष्टि के अभ्यास ने क्या चमत्कार बताया, प्रेय मार्ग की ओर बढ़ने वाले अपने पति को भी श्रेय मार्ग की ओर लगा दिया। ऐसी शक्ति भी बहिनों में होती है, वह अनीति युक्त कार्यों में लगे अपने पति को धर्म की ओर लगा सकती है, ऐसी ही बहिनें श्रेय मार्ग की प्रेरिका बन जाती हैं।

प्रेय मार्ग और दहेज

वर्तमान युग में कितनी कुप्रथाएं, कुरूढ़ियाँ चल रही है। दहेज-प्रथा के भूत ने सारे समाज में आतंक फैला रखा है। दहेज की वेदी पर कई कुंवारी बहिनों ने अपना बलिदान दे दिया है, तो कई नव-विवाहित बहिनों को अपना होम करना पड़ा है। शिष्ट कहलाने वाला समाज भी दहेज प्रथा से अछूता नहीं है। बाहरी प्लेटफार्म पर दहेज का विरोध करने वाले बहुत मिलते हैं, सामाजिक मीटिंगों में लम्बे-चौड़े भाषण देने वाले भी बहुतेरे हैं। किन्तु जब तक विरोध करने वाले भी कई व्यक्तियों के समक्ष स्वयं के लड़के के सम्बन्ध का प्रसंग आएगा तो दहेज लेने में नहीं चूकेंगे। ऊपरी तौर पर तो यह प्रदर्शन करते रहते हैं कि हम दहेज नहीं मांगते, देने वाला अपनी बेटी को देता है, लाख दे चाहे करोड़, हमें उससे कोई मतलब नहीं है। हमें तो लड़की गुणवान चाहिए। ऐसे बोलने वाले व्यक्ति भी प्रकारान्तर से मांगने में नहीं चूकते हैं। मेरे कानों में ऐसे भी शब्द पड़ते हैं कि कई लड़कों के पिता ऐसा कहते हैं "साहब पहले अमुक शहर के व्यक्ति आए थे, वे इतना देने को कह गए थे" इसका तात्पर्य इससे कम तो आप क्या देंगे। इसी प्रकार के अन्य तरीकों के द्वारा भी दहेज की मांग की जाती है। यह कुप्रथा समाज के लिए एक भयंकर अभिशाप बनी हुई है।

जिन धर्म के उपासक कहलाने वाले जैनी, जो कि छोटे से छोटे जन्तु को भी मारने में हिचकते हैं, ऐसे अहिंसक व्यक्ति यदि दहेज-प्रथा के रोग से ग्रस्त हैं तो वे सच्ची तरह से अहिंसा की उपासना नहीं कर सकते।

आप सभी श्रेय मार्ग के राही बनना चाहते हों तो प्रेय मार्ग को सबल बनाने वाली इस कुप्रथा को त्याग देना चाहिए। बिना सत्पुरुषार्थ के उपार्जित किया गया धन जल्दी से पच नहीं सकता, व्यक्ति को कभी भी परमुखापेक्षी नहीं होना चाहिए।

श्रेय मार्ग और धनोपार्जन

न्याय और नीति से उपार्जित किया गया थोड़ा सा धन भी बहुत लाभदायक होता है। अनीति से उपार्जित करोड़ों का धन भी शान्ति

देने वाला नहीं बनता। आज के युग में प्रायः लोगों का यह दृष्टिकोण बना हुआ है कि किसी भी रीति से धन का उपार्जन करना चाहिए। और परिणाम स्वरूप आपको देखने को मिलेगा कि करोड़ों की सम्पत्ति वाले भी तनावग्रस्त हैं, उन्हें भी शान्ति नहीं है। इसमें मूल कारण यह भी है कि उपार्जित धन नीति का नहीं है।

श्रेय मार्ग का राही बनने वाले साधक को नीति से उपार्जित धन का उपयोग करना चाहिए। नीति से उपार्जित धन से कैसा श्रेय होता है। इसके लिए मैं आपको एक घटना सुना देता हूँ।

एक गांव में अंगदत्त नाम का एक श्रेष्ठी रहता था, उसके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी, उसके चार पुत्र थे। उन चारों पुत्रों का विवाह भी योग्य कन्याओं के साथ कर दिया था। सभी प्रकार से सम्पन्न था वह किन्तु यह सम्पन्नता अधिक दिनों तक नहीं टिक पाई। कुछ ऐसा उतार आया कि उसकी सम्पन्नता विपन्नता में परिणित होने लगी। विपन्नता भी इस तरीके की आई कि जीवन निर्वाह करना भी मुश्किल होने लगा। सेठाई में फैशन के जो तौर-तरीके अपनाए थे, अब उनका निर्वाह करना मुश्किल हो गया।

ऐसी विकट परिस्थिति में भी सेठ अपनी फैशनपरस्ती को नहीं छोड़ना चाहते थे। उनका निर्वाह करने के लिए वे छल-कपट, अनीति के द्वारा धन का उपार्जन करने लगे।

छोटी बहू का श्रेय कार्य

श्रेष्ठी के व्यापार करने के तौर तरीके जब उसकी छोटी पुत्र-वधू मदन मंजरी को ज्ञात हुये तो उसे यह बिलकुल अच्छा नहीं लगा। जब उसके पति घर पर आये तो उसने उन्हीं से प्रश्न कर लिया—पतिदेव ! आज-कल व्यापार का रंग-ढंग किस प्रकार चल रहा है ? पति ने कहा— प्रिये ! क्या कहूं, आज-कल बड़ी विकट स्थिति है, पिताजी की पोजीशन घट गयी है, धन-सम्पत्ति के मद में जो फिजूल के रीति-रिवाज चालू किए थे, आज वे दुःखदायी बन गये हैं। हमने कुआ खोदा और हम ही गिर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अपनी इज्जत को बनाए रखने के प्रयास में सभी प्रकार का व्यापार करके, किसी भी प्रकार से धन कमाने में लगे हुए हैं।

इस बात को सुनकर मदन मंजरी बोली— पतिदेव ! यह क्या हो रहा है ? इस झूठी इज्जत के पीछे इस प्रकार अनीति पर चलेंगे तो इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जायेंगे। मुझे नहीं चाहिए, धन दौलत। मैं एक सफेद साड़ी में तथा टूटी-फूटी झोंपड़ी में दिन काट सकती हूं। लेकिन इस प्रकार का अनीतिपूर्ण व्यापार नहीं होना चाहिए।

पति बोले—प्रिये ! इसे मैं कैसे रोक सकता हूँ, यह सब काम पिताजी के हैं। वे ही इसे रोक भी सकते हैं। आप उन्हें मना कर दीजिए कि वे इस प्रकार से व्यापार नहीं करें, मदन मंजरी ने पति से कहा। तब वे बोले, नहीं, मैं तो पिताजी को नहीं कह सकता, मैं उन्हें कहूँ और वे मुझे डाट दें तब क्या करूं।

पतिदेव का साहस नहीं देखा तो मदन मंजरी स्वयं ही श्वसुरजी को कहने के लिए तत्पर हो गई। देखिए बहिन का साहस। क्या भावना थी उसमें धर्म और नीति की। कहां आज का युग किसे परवाह, पति कैसे व्यापार कर रहे हैं, नीति से कमा रहे हैं या अनीति से। किसी भी प्रकार कमाएं, बस हमारी तो आवश्यकता पूर्ति होनी चाहिए।

मदन मंजरी ने साहस किया और वह श्वसुरजी के पास पहुंच कर बहुत विनम्र शब्दों में निवेदन करनी लगी—पिताश्री (श्वसुरजी) आज कल का व्यापार किस रीति नीति से चल रहा है ? पुत्र-वधू के मुँह से यह प्रश्न सुनकर श्रेष्ठी अंगदत्त कुछ चौंके— सोचने लगे, इसे क्या मालूम कि अभी व्यापार किस प्रकार चल रहा है।

सेठजी कुछ गम्भीर होकर बोले—पुत्र वधू क्या बताऊँ ? इस समय धनोपार्जन की विकट समस्या आ खड़ी हुई है, रीति नीति से व्यापार करने पर धनोपार्जन नहीं होता। बिना धन के घर-गृहस्थी अच्छी तरह से चल नहीं सकती, इसलिए छल-कपट के साथ व्यापार करना पड़ता है।

बहुत ही विनम्रता के साथ मदन मंजरी बोली—पिताश्री ! अनीति एवं छल-कपट द्वारा उपार्जित धन से इज्जत नहीं बचाई जा सकती, ऐसा धन कभी शांति देने वाला नहीं। मेरा तो आपसे यही निवेदन है कि आपश्री इन धन्धों को छोड़कर न्याय नीति से व्यापार करें। न्यायोपार्जित सूखी रोटी भी शांति देने वाली बनेगी।

पुत्र-वधू के विनम्र शब्दों का सेठ अंगदत्त पर प्रभाव पड़ा। उसके कथनानुसार सेठ ने घर की सीधी-सादी स्थिति बना दी, खान-पान, रहन-सहन सब सीधा-सादा कर दिया, व्यापार भी नीति और विवेक के साथ करने लगे। नीति से उपार्जित धन से घर का खर्च चलने के बाद सिर्फ पांच स्वर्ण मुद्राएं बचीं।

मदन मंजरी ने कहा—आप फिक्र न कीजिए। बस पूर्ण नीति के साथ व्यापार करते रहिए एक न एक दिन पुण्य कर्म का उदय होगा। सारी स्थिति पूर्ववत् हो जायेगी।

पाँच स्वर्ण मुद्राएँ

जिस नगर में श्रेष्ठी निवास करता था। उस नगर के राजकुमार को भयंकर दाहज्वर हो गया। बहुत उपचार करने पर भी उसका रोग सीमित नहीं हुआ। उसी समय एक योगी किसी अन्य नगर से वहां आ पहुँचा। उसके कानों में जब राजकुमार के दाहज्वर की बात पड़ी तो वह अनुकम्पा भावना से, राजकुमार को बचाने के लिए राज भवन जा पहुँचा। योगी ने सम्राट् से कहा - राजन्! तुम्हारे पुत्र को स्वस्थ तो मैं कर सकता हूँ किन्तु इसकी स्वस्थता के लिए बिलकुल न्याय से उपार्जित पाँच स्वर्ण-मुद्राएँ चाहिए। मैं मंत्र पढ़कर उन मुद्राओं पर पानी डालूँगा। उस पानी को राजकुमार को पिलाने पर राजकुमार स्वस्थ हो जायेगा।

सम्राट् विचार में पड़ गये कि न्याय से उपार्जित धन कहाँ मिले। आखिर उन्होंने नगर में पटह बजवा दिया। मदन मंजरी ने भी पटह सुना। उसने सेठ अंगदत्त से कहा—"पिताश्री! मौका आ गया है, इस परमार्थ के काम को हाथ से न जाने दीजिए। आप ये पांचों स्वर्ण मुद्राएं ले जाइये और सम्राट् को कह दीजिये कि ये पांच स्वर्ण मुद्राएं न्याय से उपार्जित हैं।" सेठ अंगदत्त ने वैसा ही किया। सम्राट् ने वे पांचों स्वर्ण मुद्राएं योगी के समक्ष रख दीं। योगी ने मंत्र जाप करना प्रारम्भ कर दिया। मंत्र जाप कर के ज्यों ही स्वर्ण मुद्राओं पर पानी डाला, त्यों ही वे चमक उठीं। योगी ने वह पानी राजकुमार को पिलाया—पीते ही राजकुमार का दाहज्वर समाप्त हो गया। सारे नगर में प्रसन्नता छा गई। सम्राट् ने रत्नों से भरी मंजूषा योगी को भेंट करनी चाही किन्तु योगी ने कहा—सन्यासी अकिंचन होते हैं। मैं तो यह रत्न मंजूषा नहीं

रखता। यदि आपको देना ही है तो इन सेठजी को दीजिए। इनकी स्वर्ण मुद्राओं के कारण ही राजकुमार स्वस्थ हुए हैं। सम्राट् ने खुश होकर वह रत्नों की भरी मंजूषा अंगदत्त के हाथों में सौंप दी और बहुत ठाट-बाट के साथ समारोह पूर्वक उसे घर पहुँचाया। सारे नगर में उसकी ख्याति फैल गई। अब तो व्यापार भी वेग के साथ चलने लगा। सेठ अंगदत्त के पास करोड़ों की सम्पत्ति हो गई। अब उसका जीवन शांति के साथ चलने लगा। न्याय नीति से उपार्जित धन से सारे परिवार में शांति छा गई। सारा का सारा परिवार श्रेय मार्ग का राही बन गया।

रूपक बहुत लम्बा है। संक्षेप में मेरा तो इतना ही कहना है कि श्रेयांस नाथ भगवान की प्रार्थना के माध्यम से आप श्रेय मार्ग के राही बनें। बहिनों में मदन मंजरी के समान धार्मिक भावना एवं साहस का संचार होना चाहिए। बहिनों में यदि मदन मंजरी के समान धार्मिक भावना एवं साहस आ जाय तो शीघ्र ही शांति का शुभ संचार हो सकता है।

परम शांति को पाने के जिज्ञासु आत्माओं को श्रेय मार्ग का राही बनना चाहिए। गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सारी गतिविधि इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे कम से कम हिंसा हो। मनसा, वाचा, कर्मणा को यथाशक्य श्रेय मार्ग में नियोजित करना चाहिए। जीवन की हर गतिविधि में समीक्षण का संचार होना चाहिये। जो भी भव्य आत्मा श्रेय मार्ग की राही बनेगी, वह निश्चय ही एक दिन परम शांति को पा लेगी।

---

[११]

इन्द्रिय-समीक्षण

- सिद्ध और संसारी
- श्रोत इन्द्रियरामी का परिणाम
- रूपासक्ति का परिणाम
- सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव
- कटु परिणाम रसना का
- दुर्गतिकारिका स्पर्शना
- सुखाभास में सुख प्रतीति
- सुख पुद्‌गलों में नहीं स्वयं में
- शक्ति को अन्तः में नियोजित करो

....

इन्दियाइं वसेकाउं अप्पाणं उवसंहरे ।
—उत्तराध्ययन सूत्र–२२/४७

पांच इन्द्रियों को वश में करके अपनी आत्मा का उपसंहरण करना चाहिये ।

इन्द्रियरामी जीव एन्दियक पदार्थों में ही सुख मानकर चलते हैं । ऐसे इन्द्रियरामी जीव कभी भी शाश्वत शांति प्राप्त नहीं कर सकते । शाश्वत शांति की प्राप्ति के लिये तो इन्द्रियों को वश में करने के साथ ही आत्मा को भी वश में करना होगा । एकेन्द्रिय में आसक्त होने पर भी प्राणी अपने जीवन का प्राणान्त कर देता है तो पांचों इन्द्रियों में आसक्त होने पर जीवन की क्या स्थिति बनती है ?

जन्म-जन्मान्तर तक वह विषयासक्त आत्मा संसार में भटकती रहती है । अत: इन्द्रियों को उत्पथगामी विषयासक्ति से हटाकर सुपथगामी आत्म जागरण की ओर नियोजित करना चाहिए ।

....

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातममत पूरम पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।
सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनि गण, आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे ।। श्री ।।

श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना से श्रेय पथ की ओर गतिशील बनने की प्रेरणा मिलती है। यद्यपि इन कड़ियों की संक्षिप्त विवेचना गत दिनों में हो चुकी है तथापि इन्हें कुछ विस्तार से समझना आवश्यक है।

सिद्ध और संसारी

जीवों के मुख्यतया दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी। जिन आत्माओं ने कर्मों का सर्वथा प्रणाश कर दिया है, संसार के समस्त बंधनों से जो परिपूर्णतः विलग हो चुकी हैं। ऐसी आत्माएँ, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती हैं। वे आत्माएं अध्यात्म का चरम छोर पा लेती हैं। उनके लिए अब कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रहता है। वे आत्माएं कृतकृत्य हो जाती हैं। किन्तु जो जीव संसारी हैं और जो भौतिक तत्त्वों में ही सुख मानकर चलते हैं। ऐन्द्रियक क्षणिक सुखों में ही जिन्हें आनन्द आता है। नैतिक या अनैतिक किसी भी प्रकार से एन्द्रिय सुख प्राप्त कर उसे भोगने में जो दिन रात रहते हैं। वे जीव चार गति —चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हैं।

इन्द्रियरामी जीव एन्द्रियक पदार्थों में ही सुख मानकर चलते हैं। लेकिन शास्त्रकारों ने कहा है कि एक इन्द्रिय पर आसक्त जीव भी अपने अमूल्य जीवन को खो बैठता है, तो जो जीव पांचों एन्द्रियक विषयों में आसक्त है, उसकी दशा का तो फिर कहना ही क्या ? इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है—

इन्दियाइं वसेकाउं, अप्पाणं उवसहंरे।

पांच इन्द्रियों को वश में करके अपनी आत्मा का उपसंहरण समीक्षण करना चाहिये। जो आत्मा इन्द्रियासक्त होकर पतन की ओर बढ़ रही है, उसे उत्थानोन्मुख बनाना चाहिये। इन्द्रियां पांच प्रकार की बतलाई गई हैं—

श्रोतेन्द्रिय को कान, चक्षु इन्द्रिय को आँख, घ्राणेन्द्रिय को नाक, रसनेन्द्रिय को जिह्वा तथा स्पर्शनेन्द्रिय को त्वचा कहा जाता है।

श्रोत इन्द्रिय कान में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के शब्द आते हैं। प्रशंसात्मक शब्द मन को प्रफुल्लित करने वाले होते हैं। निंदात्मक शब्द मन को अप्रसन्न करने वाले होते हैं, इन प्रशंसा और निन्दा भरे शब्दों पर होने वाला राग और द्वेष का भाव कर्म बंधन कराने वाला बन जाता है। कान के विषय में आसक्त मृग अपने जीवन को खो बैठता है। विषधर सर्प जिसके डंक मात्र से प्राणियों का वध हो जाता है, ऐसा सर्प भी कर्णेन्द्रिय के वशीभूत होकर अपनी शक्ति खो देता है। जब सपेरा पुंगी बजाने लगता है, उस पुंगी की मधुर झंकार को सुनकर सर्प अपना भान भूल जाता है, और झूम उठता है। बिल से निकल कर सपेरे के सामने कुंडलि मारकर पुंगी के नाद में तन्मय हो जाता है। उसकी आसक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह सपेरा उसे पकड़ कर, उसके मुँह से जहर की ग्रन्थि निकाल देता है, तब भी उसे भान नहीं रहता है। यही हाल मृग-हरिण का है। जो सहज रूप से किसी की पकड़ में नहीं आ सकता। जंगलों में इधर से उधर लम्बी चौकड़ियां मारता रहता है, वह भी संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर उसमें आसक्त हो जाता है, उस संगीत को श्रवण करने के लिये वह संगीत गायक के सामने चला जाता है और उसकी आसक्ति उसे बंधन में फंसा देती है। आज के अधिकांश मानवों का भी यही हाल है। छोटे-छोटे बच्चे भी जहां फिल्मों के अश्लील गीतों की गुंजार आ रही हो, वहां खड़े हो जाते हैं। बड़े-बड़े व्यक्ति अपने आवश्यक कामों को छोड़ कर गीतों की गूंज में आसक्त बन जाते हैं।

क्या आपने सोचा कि यह आसक्ति क्या गुल खिलायेगी ? कर्णेन्द्रिय पर आसक्ति जब सर्प और मृग को परतंत्र बना देती है, उनके जीवन प्रणाश का कारण बन जाती है तो उसी कर्णेन्द्रिय के विषय में आसक्त इन्द्रियरामी मानव की क्या दशा होगी ?

बंधुओ, यह सोचने का विषय है कि आज आपको चिन्तनशील मस्तिष्क मिला है। वीतराग वाणी श्रवण करने को मिल रही है। इसे श्रवण करके भी यदि एन्द्रियक सुख में फंसे रहोगे तो फिर आत्मरामी बनने का मौका कब मिलेगा ?

रूपासक्ति का परिणाम

श्रोतेन्द्रिय का विषय कान से संबंधित है तो चक्षु इन्द्रिय का विषय आंख से संबंधित है। आंख के सामने भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के रूप आते हैं। इन्द्रियगामी जीव अच्छे पर राग और बुरे पर द्वेष कर बैठता है, जो कि उसके पतन का कारण बन जाता है।

रूप के लोभी पतंगिये को आपने देखा होगा, रात्रि में जब बल्ब का तेज प्रकाश होता है तो उसे देखकर वह अज्ञानी पतंगा उस पर मोहित हो जाता है, और उसे पाने के लिये उस पर झंपापात करने लगता है। ज्योंही वह बल्ब पर गिरता है, त्योंही उसके उष्ण प्रकाश से मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ता है, कुछ क्षणों पश्चात् जब उसकी मूर्छा दूर होती है और वह पुनः उसी बल्ब के प्रकाश को पाने के लिए उस पर झंपापात करता है, उस समय वह नहीं जान पाता कि इसी पर पूर्व में झंपापात किया था तथा इसकी उष्णता से मूर्छित होकर गिर पड़ा था। वह अज्ञानी बार-बार बल्ब पर झंपापात करके अपने जीवन से हाथ धो बैठता है।

सुज्ञ माने जाने वाले मानव को उस पंतगिये के इस हाल पर तरस आती होगी।

सज्जनो! वह तो नासमझी के कारण से अपने जीवन को खो बैठता है पर समझदार कहलाने वाला मानव का क्या हाल हो रहा हैं? कहीं वह भी तो ऐसी अज्ञानता नहीं कर रहा है? रूप में आसक्त मानव भी अपना भान खो बैठता है। हित-अहित के विवेक से विकल हो उठता है। उसकी प्रतिभा कुंठित हो जाती है। रूपासक्ति उसके इसी जीवन को ही नहीं जन्म-जन्मान्तर को बर्बाद कर देती है। बौद्ध धर्म के सुत्तपिटक में भी इसी विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है :—

> पतन्ति पज्जोत मिवाधि पातका।
> दिट्ठे सुत्ते इति-हेके निविट्ठा।

जिस प्रकार पतंगे जलते प्रदीप के रूप से आकर्षित होकर, उस पर झंपापात करते हुए अपना प्राणान्त कर देते हैं। उसी प्रकार दृष्ट एवं श्रुत वस्तुओं के व्यामोह में फंसकर अज्ञ जन भी अपने जीवन का पतन

कर लेते हैं। रूपासक्ति मानव को किस प्रकार पतन की ओर ढकेलती है। इसके लिए एक छोटी सी घटना है :—

रूप का लोभी एक श्रेष्ठी पतंगियों की तरह ही रूप के मोहक जाल में फंसा हुआ था। उसकी दृष्टि सुन्दर से सुन्दर रूप को देखने के लिये उत्कण्ठित रहती थी। अपनी पत्नी के रूप पर तो वह इतना अधिक आसक्त था कि उसका रूप सर्वाधिक सुन्दर मानता था। प्रायः अधिकांश समय उसका मस्तिष्क सुन्दर-सुन्दर रूपों की ही कल्पना किया करता था—मेरी पत्नी का रूप कितना सुन्दर है ?

एक बार उसकी पत्नी के मुँह पर भयानक फोड़ा हो गया, जिससे उसका रूप भी विकृत बन गया। फिर भी श्रेष्ठी के मन में यह आसक्ति जमी हुई थी—मेरी पत्नी बहुत सुन्दर है। रात-दिन इन्हीं विचारों में घुलते-घुलते आयुष्य बंधन का समय आ गया। उस समय भी उसके यही विचार चल रहे थे—अहो ! मेरी पत्नी कितनी रमणीय, प्रिय, सुन्दर है। इन्हीं विचारों के मध्य में श्रेष्ठी ने आयुष्य बंधन पूरा किया और मरकर अपनी पत्नी के ही फोड़े में कीड़े के रूप में जन्म लिया।

बंधुओ ! सोचिये अपने-अपने दिलों में रूप के भयंकर परिणामों को। कहां तो उन्नत मानव जीवन के साथ श्रेष्ठी को भौतिक तत्त्वों की समुपलब्धि थी और कहां उसके जीवन का कितना पतन हो गया, मानव जीवन को छोड़कर एक किलबिले कीड़े के रूप में जन्म लेना पड़ा। अब श्रेष्ठी न मालूम कितने भवों तक संसार में भ्रमण करेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता।

रूपासक्ति मानव को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देती है। प्राग्-ऐतिहासिक घटनाएँ इस बात की साक्षी हैं, रावण और मणिरथ भी तो रूप में ही आसक्त हुए थे। सती सीता के रूप पर आसक्त हो रावण ने अपनी सोने की लंका जला डाली। सारी ऋद्धि और समृद्धि ही नहीं गई, अपितु अपने जीवन से भी वह हाथ धो बैठा। यही हाल मणिरथ का हुआ था। जिस छोटे भाई युग बाहु को वह इतना अधिक चाहता था कि अपने बाद राज्य का उत्तराधिकारी उसे ही घोषित किया था, किन्तु सती मदन रेखा के रूप को देखकर मणिरथ बेभान हो गया। उसके हृदय में रूपासक्ति की ऐसी विस्फोटक आग सुलग गई थी, जिस आग को बुझाने

के लिए रूपासक्त मणिरथ ने अपने प्रिय भाई को भी छल वल के द्वारा खत्म कर डाला। इतने पर भी रूपासक्ति की आग शांत न हो पाई। अन्तत: उस आग ने स्वयं मणिरथ को ही खत्म कर डाला। इतिहास ऐसी एक नहीं अनेक घटनाओं से भरा पड़ा है।

सुगंध-दुर्गंध में आसक्ति भाव

चक्षु इन्द्रिय के वाद तीसरी इन्द्रिय घ्राण है। यह इन्द्रिय गंध से सम्वन्धित है। पुद्गलों के परिवर्तन से कोई पदार्थ सुगंध के रूप में तो कोई पदार्थ दुर्गन्ध के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सुगन्धित पदार्थों में एन्द्रियक रमण संसार को वढ़ाने वाला होता है, दुर्गन्धित पदार्थों पर घृणा भी आत्मा के पतन का कारण वनती है।

संसार के समस्त पौद्गलिक पदार्थ परिवर्तनशील हैं। पुद्गलों के परिवर्तन से सुगंध दुर्गन्धमय और दुर्गन्ध सुगंधमय हो जाती है। अज्ञ मानव इस पौद्गलिक परिवर्तन के तथ्य को न समझकर सुगंधित पुद्गलों में आसक्त वन जाता है, यह आसक्ति भाव भी उसके जीवन को खत्म करने वाला वन जाता है। घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत होकर कस्तूरी मृग कस्तूरी की सुगंध में आसक्त होकर जंगल में इधर से उधर दौड़ लगाता हुआ अपने जीवन से हाथ धो वैठता है।

कटु परिणाम रसना का

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर मानव खाद्य-अखाद्य के विवेक को न रखता हुआ, अभक्ष्य पदार्थों को भी खा वैठता है। जहाँ मानवों का आहार शाकाहार होना चाहिए वहाँ आज देश में माँसाहार का कितना तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा है। अण्डे जैसे मांसाहारी तत्त्व को भी शाकाहार वतलाकर लोगों को खिलाने का प्रयास किया जा रहा है। अण्डे निश्चित रूप से मांसाहार हैं (इसकी विवेचना समय पर करने का भाव है) जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर ऐसे अभक्ष्य पदार्थ को खाने वाले अपने जीवन को पतन के अंधकूप में ढकेल देते हैं।

सही माने में सोचा जाय तो मानव का आहार मांस नहीं है। आपने कभी सुना या देखा होगा कि डाक्टर लोग जव किसी मरीज को खून की वोतल चढ़ाने लगते हैं तव सवसे पहले उसके खून की जांच की

जाती है। मरीज के शरीर में रहा हुआ रक्त और उसे दिये जाने वाले रक्त का मिलान हो जाय, तब ही उसके रक्त चढ़ाया जाता है। यदि रक्त का मिलान न होने पर रक्त दे दिया जाय तो वह घातक परिणाम उपस्थित कर देता है।

सज्जनो! विचार करने की बात है कि जब मानव के रक्त का भी मिलान आवश्यक है तो जो पशुओं का मांस है क्या, वह बेमेल मांस मानव के लिये घातक सिद्ध न होगा? मांसाहार परलोक में तो हानिकारक होता ही है किन्तु इस जीवन के लिये भी घातक सिद्ध होता है। सिद्धान्त की दृष्टि से मांसाहार नरक का हेतु बतलाया गया है।

जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर व्यक्ति अपने जीवन को किस प्रकार खो बैठता है, इसके लिए एक शास्त्रीय रूपक है—

एक सम्राट् के शरीर में भयंकर रोग पैदा हो गया। अनुभवी चिकित्सकों ने उनका इलाज करना प्रारम्भ किया। सही तरीके से इलाज होने पर सम्राट् का भयंकर रोग भी समाप्त हो गया। सम्राट् स्वस्थ हो गये। चिकित्सकों ने सम्राट् को यह स्पष्ट हिदायत दी—आपको अगर स्वस्थ रहना है तो आप कभी भी आम्र फल का सेवन न करें। आम्रफल आपके लिए अपथ्य है। जिस दिन भी आपने आम्रफल खा लिया तो उत्पन्न हुए रोग का कोई इलाज नहीं होगा। सम्राट् ने चिकित्सकों की बात ध्यान से सुनी और मन में यह निर्णय किया कि मैं अब कभी भी आम नहीं खाऊँगा।

अपथ्य तत्त्व के न खाने से सम्राट् की स्वस्थता बढ़ने लगी। सम्राट् का जीवन शांति से व्यतीत होने लगा। बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन सम्राट् जब अपने प्रधान को साथ लेकर जंगल में भ्रमण करने के लिये निकले। घूमते-घूमते जब वे थक गए, तो विश्रान्ति के लिये किसी वृक्ष की छाया में बैठने लगे। संयोग वश वह वृक्ष आम का ही था। आम्रवृक्ष को देख कर मंत्री ने कहा—राजन्! अपने को इस वृक्ष की छाया में नहीं बैठना है, हम दूसरे वृक्ष की छाया में चलें।

सम्राट् ने कहा—वृक्ष की छाया में बैठने में क्या है। वैद्यों ने तो आम खाने को मना किया है, छाया में बैठने को तो नहीं। राजा उसी वृक्ष

के नीचे बैठ गया, मंत्री भी राजा के साथ वहीं बैठ गया। कुछ समय के बाद राजा की दृष्टि वृक्ष पर लटक रहे, सुन्दर-सुन्दर, भीनी-भीनी सुगंध देने वाले आम्रफलों पर पड़ी।

राजा ने कहा—देखो मंत्रीवर! कितने सुगंधित व सुन्दर फल हैं, कितने सुस्वादु व मधुर होगें ये फल?

मंत्री ने कहा—राजन् कुछ भी हो आपके लिये तो यह अपथ्य हैं, आपको तो मन में भी इन्हें खाने की बात नहीं सोचनी चाहिये। किन्तु राजा आम्रफलों पर मुग्ध हो चुका था। पथ्य-अपथ्य की बातों की ओर उसका ध्यान नहीं गया। सम्राट् बोला—अरे! अब तो बहुत वर्ष बीत चुके हैं, मेरी बीमारी भी अब बिल्कुल चली गई है। अब किसलिये पथ्य रखा जाय, इतने में तो एक पका आम टूटकर सम्राट् की गोदी में आ पड़ा। मैं कोई बहुत आम तो खा नहीं रहा हूँ, यह कहते-कहते मंत्री के बहुत मना करने पर भी राजा उसे खाने के लिये उद्यत हुआ। अब भी मंत्री ने खूब समझाया पर जिह्वा के वश हुआ सम्राट् कहां सुनने वाला था? आखिर उस आम को चूस ही लिया। अपथ्य पदार्थ के अन्दर जाते ही रोग भयंकर रूप से उभरा और सम्राट् की तत्काल मृत्यु हो गई। यह है रसेन्द्रिय के वश में होने का परिणाम। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए।

अपथ्य आम को खाकर सम्राट् अपना राज्य एवं जीवन गंवा बैठा।

दुर्गतिकारिका स्पर्शना

रसना के पश्चात् पांचवी इन्द्रिय स्पर्शना है। स्पर्श सुखों में रमण, मानवीय जीवन को अन्दर से खोखला बना देता है। स्पर्श विषय मानव को क्षणिक समय के लिए सुखकारी महसूस हो सकता है, अतंत: तो महा दुःख देने वाला बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र में ही प्रभु ने बतलाया है—

खण मित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा,
पगम्म दुक्खा, अणिगाम—सुक्खा।
संसार मोक्खस्स, विपक्ख भूया,
खाणी अणत्थाण, उकाम भोगा॥

यह स्पर्श विषयक काम भोग क्षण मात्र सुख देने वाले हैं, किन्तु दीर्घकाल तक दुःख देने वाले हैं। जिसमें स्वल्प सुख हो और बहुत दुःख हो, वे सुखदायी कैसे हो सकते हैं ? ये संसार को बढ़ाने वाले हैं, अनर्थों की खान हैं, तथा मुक्ति के लिए शत्रु के समान हैं।

बंधुओ ! स्पर्शनेन्द्रिय में रमण करने वाला मानव कभी भी वास्तविक शांति प्राप्त नहीं कर सकता। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इस स्पर्श सुख में इतना अधिक आसक्त था कि मृत्यु के अन्तिम क्षणों में भी पटरानी कुरुमति, कुरुमति का नाम रटता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप चक्रवर्ती के विशाल वैभव को छोड़कर भयंकर सर्वाधिक दुःखप्रद सातवीं नरक का मेहमान बन गया।

महाशक्ति सम्पन्न हाथी भी इसी स्पर्श सुख के वशीभूत होकर अपनी प्रबल शक्ति को गंवा बैठता है।

एक इन्द्रिय पर आसक्ति भी महान् अनर्थ का कारण बन जाती है। इसलिये आनन्द घनजी ने श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से स्पष्ट कहा है—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।

एन्द्रियक विषयों में रमण करने वाला प्राणी संसार के भव प्रपंच को बढ़ाता है।

सुखाभास में सुख प्रतीति

एन्द्रियक सुख वास्तविक सुख नहीं है, सुखाभास है। काच का टुकड़ा हीरे के समान चमचमाहट करता है, किन्तु वास्तविक हीरा नहीं है। उसे हीरा मानने की भूल हीरे की परख से अनभिज्ञ व्यक्ति ही कर सकता है ठीक इसी प्रकार इन्द्रिय-विषय है। इनमें सुख की अनुभूति सामान्य जन ही कर सकते हैं। अन्तर की अनुभूति रखने वाला व्यक्ति कभी भी एन्द्रियक सुखों में आसक्त नहीं होता है।

आत्मा का स्वभाव इन एन्द्रियक सुखों में रमण करने का नहीं है। क्योंकि पांच इन्द्रियों में आनन्द नहीं आता है, अज्ञानता वश आनन्द मान लिया जाता है। आपने श्वान को देखा होगा जो गलियों में इधर उधर घूमा करता है। जब कभी श्वान किसी हड्डी के टुकड़े को देखता है, तब

सोचता है कि इस हड्डी में कहीं खून होगा, इसे मैं प्राप्त कर लूँ। यही सोचकर वह हड्डी के टुकड़े पर दांत गड़ाता है और देखता है कि खून निकला या नहीं ? जब यह लगा कि खून नहीं निकला तो बड़ी जोर से हड्डी को दांतों के बीच दबाने लगता है। किन्तु हड्डी से तो खून निकलने वाला है ही नहीं, लेकिन दांतों पर अधिक जोर देने से मसूड़ों से खून रिसने लगा, श्वान उसे ही हड्डी से निकला खून मानकर चूसने लगता है। उसी में उसे आनन्द आने लगता है।

श्वान तो अज्ञानी है किन्तु आज का अज्ञ मानव भी हड्डी के समान बाहरी तत्वों में आनन्द मान रहा है और उसी को पाने के लिये अपनी शक्ति लगा रहा है। परन्तु पर पदार्थों में आनन्द कहां है ? क्या इस पाटे में आनन्द है ? सुख है ? यदि पाटे में आनन्द हो तो पाटा आनन्द का अनुभव करे। किन्तु पाटा आनन्द की अनुभूति नहीं करता है क्योंकि उसमें आनन्द है ही नहीं। क्या मिष्ठान्न में आनन्द है ? क्या भोजन में आनन्द है ? मिष्ठान्न या भोजन कोई भी पौद्गलिक पदार्थ स्वयं आनन्द रूप नहीं है। उसमें आनन्द थोपा जाता है। जिस प्रकार हड्डी आनन्द रूप नहीं है, किन्तु खुद का खून ही चूस कर अज्ञानी कुत्ता आनन्द की अनुभूति करने लगता है। मिष्ठान्न एवं भोजन में आनन्द नहीं है। न ही ये आनन्द की अनुभूति ही करते हैं। आनन्द लेने वाला चैतन्यवान प्राणी होता है। किन्तु वह अज्ञतावश इन तुच्छ पदार्थों में आनन्द मान बैठता है।

सुख पुद्गलों में नहीं स्वयं में

बन्धुओ ! सुख पौद्गलिक पदार्थों में नहीं है, स्वयं आत्मा में है। आत्मा वैभाविक अवस्था में रहती हुई पुद्गलों में सुख मान बैठती है। इन्द्रियां उन भौतिक तत्वों को पाने को उत्कंठित हो उठती हैं। इन्द्रियों के पीछे आत्मीय शक्ति काम करती है। कोई भी इन्द्रिय बाहरी तत्वों से अधिकाधिक सुख की प्राप्ति नहीं कर सकती। जिस इन्द्रिय को जिस विषय से सुख की अनुभूति होती है उस इन्द्रिय को उसी विषय से बार-बार सम्बन्धित किया जाय तो वह विषय सुख देने के स्थान पर दुःखप्रद बन जायेगा।

जिस प्रकार कान है, कान मधुर गीत सुनने का रसिक है अर्थात् सर्वदर्शी आत्मा कान के माध्यम से गीत सुनकर सुखानुभूति करती है।

यदि उसी गीत को उसे बार बार सुनाया जायेगा, तो वह गीत जो सुख देने वाला था, वह उतना ही दुःख देने वाला बन जाएगा।

जिह्वा के माध्यम से प्राणी जिस मिष्ठान्न को अधिक खाना चाहते हैं। उसी मिष्ठान्न को उसे बार-बार खिलाया जायगा तो वह उसके लिए हानिकारक बन जायगा। यही स्थिति सभी इन्द्रियों की है। आत्मा इन्द्रियों के माध्यम से कभी पौद्‌गलिक वस्तुओं से शाश्वत् सुख की अनुभूति नहीं कर सकती है। सुख बाहर नहीं अन्दर है।

शक्ति को अन्तः में नियोजित करो

इन्द्रियों के माध्यम से जो शक्ति पौद्‌गलिक तत्त्वों में खर्च हो रही है। उसे अन्दर में नियोजित करें तो अन्तः में विद्यमान सुख का अक्षय स्रोत उद्‌घाटित हो उठेगा।

कवि ने इसीलिये कहा है—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे॥

एन्द्रियक विषयों से हटकर आत्मरामी बनिये। जब भव्य पुरुष अपनी सारी शक्ति को एन्द्रियक विषयों से हटाकर आत्मरमण में नियोजित कर देगा तो निश्चित ही एक न एक दिन सुख का परम स्रोत उद्‌घाटित कर लेगा।

श्रेयांस जिनेश्वर ने अपनी सारी इन्द्रियों को पौद्‌गलिक विषयों से हटाकर आत्म रमण में नियोजित किया था। भौतिक तत्त्वों से पराङ्‌मुखी बनकर अध्यात्म की ओर सन्मुख हुए थे। निष्काम भाव से रमण करने लगे थे। इसी निरासक्त आत्मसाधना के द्वारा उन्होंने परम स्वरूप को प्राप्त कर लिया था।

सुज्ञ बंधुओ! यदि अनन्त सुख को प्राप्त करना है तो इन्द्रियों की शक्ति को वैषयिक तत्त्वों से हटाइये और आत्म स्वरूप के जागरण में नियोजित करिये। इन्द्रिय और मन का समीक्षण करिये। तब एक दिन अवश्य ही आत्मारामी आत्मानन्द को पा लेगा।



[१२]

भौतिक और आध्यात्मिक समीक्षण

- आध्यात्मिकता और भौतिकता के परिवेश में श्रेय और प्रेय
- अध्यात्म – श्रेय पथ
- श्रेय का प्रभाव प्रेय पर
- भौतिकता बनाम प्रेम पथ
- श्रेय सिद्धान्त कौन सा ?



पढ़मं नाणं तओ दया

दशवैकालिक सूत्र ४/१०

पहले ज्ञान और फिर आचरण होना चाहिए । जब तक किसी भी विषय का बोध नहीं होता, तब तक उस विषय में सही रूप से प्रवृत्ति नहीं हो सकती । सही रूप से प्रवृत्ति करने के लिये सम्बन्धित विषय का बोध होना आवश्यक है ।

भौतिक पदार्थों की उपलब्धि के लिए भी जब उन तत्त्वों के बोध की आवश्यकता होती है तो आध्यात्मिक पथ पर बढ़ने के लिए तो तद्विषयक सम्यक् बोध की अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है ।

निज स्वरूप जे क्रिया साधे, ते अध्यात्म लहिये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे।।
श्री श्रेयांस..............।।3।।

भव्य उपासको ! आपके समक्ष श्रेयांस नाथ भगवान की प्रार्थना का प्रसंग चल रहा है। श्रेयांस प्रभु चौवीस तीर्थङ्करों में से ग्यारहवें तीर्थङ्कर हैं। श्रेयांस शब्द श्रवण करते ही जीवन में श्रेय भावना साथ ही श्रेय पथ पर बढ़ने की तमन्ना जागृत हो उठती है।

श्रेय-मार्ग एवं प्रेय-मार्ग की संक्षिप्त व्याख्या कल मैं आपके समक्ष कर चुका हूं। श्रेय मार्ग पर चलने वाले साधक की अवस्था कैसी बनती है ? और प्रेय मार्ग पर चलने वाले साधक की दशा कैसी बनती है ? इसका स्वरूप भी उदाहरणों के द्वारा मैं समझा चुका हूं।

आध्यात्मिकता और भौतिकता के परिवेश में श्रेय और प्रेय

आज श्रेय मार्ग एवं प्रेय मार्ग को आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के परिवेश में समझाने के लिए स्तुति की तीसरी कड़ी से प्रभु की अभ्यर्थना की गयी है। किस प्रकार का आचरण अध्यात्म से सम्बन्धित है और किस प्रकार का आचरण भौतिकता से सम्बन्धित है, इसका निर्देश दिया गया है।

जब तक साधक को किस प्रकार का आचरण करना चाहिए, जिससे आत्म विकास सध सके। इसका ज्ञान न होगा, तब तक वह श्रेय मार्ग की साधना पर नहीं बढ़ सकता। प्रभु ने इसीलिए पहले ज्ञान और फिर आचरण का संकेत दिया है—

पढमं नाणं तओ दया।

पहले ज्ञान और फिर आचरण होना चाहिए। जब तक हित-अहित का ज्ञान नहीं होता—कौनसा मार्ग आत्मा के लिए हितकर है, कल्याणप्रद है, जीवन को सुखी और शान्त बनाने वाला है ? कौनसा रास्ता इस आत्मा को चार गति - चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण कराने वाला है ? दुःखों का भिन्न-भिन्न रूप में सर्जन कराने वाला है ? इन बातों का विवेक जितना आवश्यक है। इसी बात का विवेक श्रेयांस प्रभु की स्तुति में कराया गया है।

जैसा कि कड़ी में कहा है—

निज स्वरूप जे क्रिया साधे, ते अध्यात्म लहिये रे।

जिस क्रिया-आचरण से सच्चे अर्थ में निज स्वरूप को प्राप्त करने की या स्वरूप में स्थिर होने की साधना की जाती है। वही अध्यात्म क्रिया है ऐसी अध्यात्म क्रिया ही श्रेय मार्ग को प्रशस्त बनाने वाली है।

अध्यात्म – श्रेय पथ

निश्चय दृष्टि से निजस्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि से युक्त मन, वचन, काया के व्यापार को अप्रमत्त भाव की ओर अग्रसर करना अध्यात्म क्रिया कहलाती है। मन, वचन, काया का अहिंसा पूर्ण व्यवहार ही स्व-पर के लिए कल्याणकारी होता हैं।

स्थूल दृष्टि से तो मुख्यतः काया और वचन का ही व्यापार परि-लक्षित होता है। मन में होने वाला व्यापार दृष्टिगत नहीं होता है किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के ज्ञान में तो मन का व्यापार भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। मन में भी संसार के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीय व्यवहार होना चाहिए। समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझना चाहिए।

"आत्मवत् सवभूतेषु" के सिद्धान्त को सदा मन में रखना चाहिये। जिस साधक का मन आत्मीय व्यवहार में तन्मय है उस साधक के मानसिक विचारों का प्रभाव निश्चित रूप से अन्य प्राणियों पर भी पड़ता है।

श्रेय का प्रभाव प्रेय पर

भगवान् महावीर जब छद्मस्थावस्था में विचरण कर रहे थे। विचरण के दौरान वे एक बार भयानक जंगल में प्रवेश करने लगे। जंगल में प्रवेश करने के स्थल पर ही कुछ ग्रामीण व्यक्ति खड़े थे। उन्होंने भगवान् को उस जंगल में जाने से रोकने की कोशिश की।

वे वोले—अरे तुम्हें मालूम नहीं है इस जंगल में महा भयानक विषधर रहता है। जिसकी फुंकार मात्र से प्राणियों के प्राण चले जाते

है। जिस जंगल के मानवों की तो बात दूर रही, पशु-पक्षी भी दौड़कर अन्य वनों में चले गये हैं। ऐसे वन में मत जाओ। किन्तु अध्यात्म स्वरूप में रमण करने वाले श्रेय पथानुगामी भगवान् कहां रुकने वाले थे? वे उन ग्रामीण भाइयों की उपेक्षा कर आगे बढ़ते चले गये। ग्रामीण व्यक्ति एक दूसरे को कहने लगे यह कैसा साधु है, जो किसी की बात सुनता ही नहीं है। जिसे अपने जीवन की परवाह नहीं है। मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना के अनुसार सभी अपनी अपनी बात कहने लगे।

प्रभु महावीर तो अपने ही ध्यान में मस्त उस भयानक जंगल की ओर बढ़ते चले गए, जिधर महा भयंकर विषधर का बिल था। विषधर को ज्यों ही मानव की गंध आई, त्यों ही उसकी कोपाग्नि भड़क उठी। वह सोचने लगा—अहो! यह कितना साहसी है, आगे बढ़ता ही जा रहा है। मैं इसे अपनी एक फुंकार में भस्म कर देता हूं यह सोचकर सर्प ने विष भरी फुंकार की, किन्तु उस महा मानव पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। यह देख वह और अधिक क्रोधित हुआ तथा प्रभु के पैरों में जोरदार डंक मारा। डंकित स्थल से धवलरक्त प्रवाहित होने लगा। यह देखकर तो सर्प हतप्रभ हो गया। वह उस शक्तिशाली पुरुष को निहारने लगा।

इसी अवसर पर उसे भगवान् का सन्देश मिला 'बुज्झह किं न बुज्झह' जाग, जाग, क्यों नहीं जग पा रहा है! प्रभु के आत्मीयपूर्ण व्यवहार से सर्प के अन्तर्चक्षु खुल गये। बीते हुये भव के चित्र उसके हृदयपट पर उभरने लगे। प्रभु के सम्पर्क को पाकर पतितोन्मुख आत्मा उत्थानोन्मुख बन गई। घटना चाहे किसी भी रूप में हो परन्तु यह सब प्रभु के मन, वचन, काया से आचरित अहिंसा पूर्ण व्यवहार का ही प्रभाव था। प्रभु निश्चय और व्यवहार दोनों ही अपेक्षाओं से श्रेय-अध्यात्म पथ पर चल रहे थे। प्रभु ने निज की अनुभूति के साथ ही संसार के समस्त प्राणियों के हित के लिये श्रेय पथ प्रतिपादित किया है।

भौतिकता बनाम श्रेय पथ

सूत्र में अध्यात्म भाव की विवेचना के अनन्तर किस क्रिया के आचरण से साधक भौतिकता की ओर उन्मुख हो जाता है, इसका वर्णन किया है।

जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यात्म कहिये रे ।

जो क्रिया नरकादि चारों गतियों में से किसी भी गति में ले जाने वाली हो, वह क्रिया अध्यात्म की नहीं है । ऐसी क्रिया भौतिक परक है ।

सुज्ञ बन्धुओ ! आज के युग में अध्यात्म के नाम से कई साधक अनेक प्रकार की अज्ञान युक्त कठोर क्रिया करते रहते हैं । भद्रिक मानस उनकी कठोर क्रिया को देखकर खुश हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में ऐसे साधक महासाधक की संज्ञा पा लेते हैं । यथार्थ में ऐसे साधकों की क्रिया आध्यात्मिक न होकर भौतिक होती है । बाह्य रूप से चाहे वे साधक अपनी कठोर क्रिया को आध्यात्मिक बतलाते हैं, लेकिन भीतर में तो अपनी प्रसिद्धि, पदप्रतिष्ठा या अन्य कोई स्वार्थ पूर्ति की भावना ही सन्निहित रहती है ।

कई साधकों के मन में अपनी कठोर क्रिया के फलस्वरूप देवलोक या भौतिक सुख पाने की कामना रहती है या फिर कई साधक मनुष्य लोक के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कठोर क्रिया का प्रदर्शन करते हैं । अन्य निर्मल चरित्री साधकों को निकृष्ट बताकर स्वयं को उत्कृष्ट बतलाते हैं ।

ऐसे साधकों द्वारा की जाने वाली क्रिया को आनन्दघनजी आध्यात्मिक न बतलाकर भौतिक बतलाते हैं । ये क्रियायें साधक को मुक्ति का राही न बनाकर चारगति में परिभ्रमण कराने वाली बनाती हैं ।

श्रेय सिद्धान्त कौन सा ?

श्रेयानुगामी साधक को श्रेय सिद्धान्तों का ज्ञान होना भी आवश्यक है । आज विश्व में सिद्धान्तों की, मतों की, पंथों की, सम्प्रदायों की प्रचुरता है । चार व्यक्ति भी जहाँ एकत्रित हो जाते हैं, वे भी अपने कुछ न कुछ सिद्धान्त बनाने की चेष्टा करते हैं । चार व्यक्तियों की बात तो दूर रही, एक ही व्यक्ति स्वयं भी अपने आप में थोड़ी समझ अधिक लेकर चलता है तो वह कह बैठता है कि ये मेरे सिद्धान्त हैं, तथा अपने कल्पित सिद्धान्तों को बतलाकर जनमानस को अपनी ओर आकर्षित

करने का प्रयास करता है, जब कुछ भद्रिक लोग उस ओर आकर्षित हो जाते हैं तो वह अपना नया पथ या सम्प्रदाय खड़ा कर लेता है।

वस्तुतः चिन्तन किया जाय तो इस प्रकार के कल्पित सिद्धान्तों से श्रेय साधना नहीं बन सकती है। छद्मस्थ व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं हो सकते। छद्मस्तता वश कहीं स्खलन हो ही जाता है। स्खलित सिद्धान्तों का आचरण साधक को लक्ष्य से हटा देता है।

निर्दोष मूल सिद्धान्तों का प्रतिपादन तो पूर्ण ज्ञानी साधक ही कर सकता है, जो साधक सत्पुरुषार्थ के बल पर आत्मा में स्थित घातिक कर्मों की पर्तों को हटा देता है अर्थात् जिस साधक के घनघातिक कर्म चतुष्टय क्षपित हो गये हैं, जिसकी आत्मा अनन्त ज्ञानालोक से जगमगा उठी है, जिसके अन्तः में अंशतः भी रागद्वेष की भावना नहीं है। ऐसा साधक ही एकान्ततः निर्दोष सिद्धान्तों का प्ररूपण कर सकता है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों के द्वारा प्रतिपादित होने से द्वादशाङ्गी बिल्कुल निर्दोष है। आज जो अलग-अलग मतों, पंथों की प्रचुरता दिखलाई दे रही है। वह सच्चे ज्ञान के अभाव का ही परिणाम है, अरिहंत प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित एकादशाङ्ग रूप श्रेयस पथ आज भी विद्यमान है।

सज्जनो ! श्रेय पथ कौनसा है ? इसके क्या सिद्धान्त हैं ? इसका विज्ञान प्राप्त करके ही इस पथ पर बढ़ने का प्रयास करेंगे तो निश्चित श्रेयस पद पायेंगे।

आज का दिन प्रश्नोत्तर का था। किन्तु प्रश्नकर्त्ता न होने से मैंने आपको कुछ उद्बोधन देना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच ज्ञात हुआ कि प्रश्नकर्त्ता आ गये हैं। अतः अब मैं प्रवचन को यहीं समाप्त करता हूं। अवशेष समय में जो भी व्यक्ति प्रश्न करना चाहे तो वह प्रश्न कर सकता है।

[आचार्य प्रवर द्वारा इस प्रकार जनता को सम्बोधित किये जाने पर लोगों से जो जिज्ञासायें रखीं उन जिज्ञासाओं के साथ ही आचार्य प्रवर द्वारा प्रदत्त समाधान भी प्रस्तुत किया जा रहा है।]

जिज्ञासा 1—वर्तमान जीवन में मनुष्य के जो कुछ भी शुभ या अशुभ परिणाम बन रहे हैं वे परिणाम तथा जिन अच्छे या बुरे कार्यों

में वह लग रहा है, वे कार्य क्या पूर्वकृत कर्मों के ही परिणाम स्वरूप हैं या अन्य कोई रहस्य है ?

प्रश्नकर्ता—चौथमलजी भंसाली

समाधान—सुज्ञ बन्धुओ ! पूर्व जन्मों में कृत कर्मों का परिणाम तो हमारे समक्ष स्पष्ट है, यह मानव तन, मन और वचन रूप त्रिपुटी की प्राप्ति पूर्व कृतकर्मों का ही परिणाम है, मन में होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय तथा शरीरादि द्वारा किये जाने वाले अच्छे या बुरे कार्यों में पूर्वकृत कर्मों की छाया होती है । वर्तमान जीवन पूर्व कृतकर्मों की परिणति रूप होते हुये भी मानव अपनी विवेकशील प्रज्ञा द्वारा सत्पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का नव निर्माण कर सकता है ।

यदि जीवन की हर गतिविधि को पूर्वकृत कर्मों का परिणाम मान लिया जायेगा तो उसमें ये प्रश्न पैदा हो जायेंगे । प्राणी जो कुछ भी वर्तमान जीवन में क्रिया-कलाप कर रहा है, वह पूर्व कृतकर्मों का परिणाम है । वर्तमान में क्रिया-कलाप उसके पूर्वकृत कर्मों को क्षपित-नष्ट कर रहे हैं । इस प्रकार जब वह कृत कर्म क्षपित कर चुका तो फिर उसकी मोक्ष हो जानी चाहिये । इस पर यदि कहा जाय कि नहीं वह पूर्व कर्मों के भोग के साथ नये कर्म भी कर रहा है, जो कि उसके अगले जन्म का निर्माण करने वाले हैं । ऐसे कर्म भी क्या पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप हैं या उसका अपना पुरुपार्थ है ? यदि उसे पूर्व कर्मों का परिणाम माना जायेगा तो कोई भी प्राणी मोक्ष पा ही नहीं सकता, कर्म की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहेगी । भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुरुपार्थवाद रह ही नहीं पायेगा । अतः स्पष्ट है कि प्राणियों को होने वाली सुख और दुःख की अनुभूति पूर्व कृत कर्म के परिणामस्वरूप होते हुये भी उस समय में होने वाली राग-द्वेष की भावना या समभाव की साधना उसके अगले जीवन का सर्जन करने वाली बनती है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मों के आश्रित नहीं है, आज जो कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ क्रिया-कलापों से है । आत्मा ही अपने अच्छे या बुरे जीवन का सर्जन करने वाली है ।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है :—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

आत्मा ही अपने सुख दुःख की कर्त्ता और भोक्ता है, अशुभ कार्यों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी शत्रु है और शुभ विचारों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी मित्र है।

अतः शुभ या अशुभ अध्यवसाय, अच्छे या बुरे कार्य स्वयं के द्वारा ही निर्मित किये जाते हैं। कर्म तो मात्र निमित्त हैं।

जिज्ञासा 2—जो मूर्तिपूजक लोग हैं, वे बहुत खर्च करके, बड़े-बड़े मन्दिर बनवा कर अनुष्ठान करवाते हैं, वे क्यों नहीं छोटी मूर्ति बनवाकर छोटे मकान में स्थापित कर लेते ? इस पर आप श्री के क्या विचार हैं ?

प्रश्नकर्त्ता आर० एल० सिंघवी
प्रिंसिपल—कॉमर्स कॉलेज (अहमदाबाद)

समाधान - प्रश्नकर्त्ता का आशय सम्भव है, श्रेय कार्य की ओर इंगित कर रहा है। जहां लाखों करोड़ों का खर्च करके विशाल मन्दिर बनवाया जाता है, वहां उन रुपयों को बचा करके क्यों नहीं परोपकार में, दीन दुखियों के कष्टों को मिटाने में, शिक्षण कार्यों में या अन्य किसी परमार्थ कार्य में लगा दिये जावें ? जिससे रचनात्मक कार्यों के साथ अधिक पुण्यवानी का अर्जन किया जा सके। क्यों सिंघवी सा० क्या आपके प्रश्न के पीछे यही आशय रहा है न ?

जी हां—सिंघवी साहब ने कहा। हां तो सज्जनो ! यह सभी के समझने का विषय है। मैं तो यही कह सकता हूं कि जितने भी व्यर्थ के खर्चे हैं, उन्हें सीमित करके अधिक सारी शक्ति प्राणी मात्र की रक्षा एवं परमार्थ के कार्यों में नियोजित करना अधिक उपयुक्त है जिससे आत्मा में समता का निर्झर हो।

प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सभी बाह्य परिधियों से हटाकर सीधे निज आत्मिक आचरण की ओर अधिक बल दिया है। स्वयं गौतम स्वामी को जिनेश्वर महावीर ने कहा—तुम जिन को नहीं देख

में वह लग रहा है, वे कार्य क्या पूर्वकृत कर्मों के ही परिणाम स्वरूप हैं या अन्य कोई रहस्य है ?

प्रश्नकर्त्ता—चौथमलजी भंसाली

समाधान—सुज्ञ बन्धुओ ! पूर्व जन्मों में कृत कर्मों का परिणाम तो हमारे समक्ष स्पष्ट है, यह मानव तन, मन और वचन रूप त्रिपुटी की प्राप्ति पूर्व कृतकर्मों का ही परिणाम है, मन में होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय तथा शरीरादि द्वारा किये जाने वाले अच्छे या बुरे कार्यों में पूर्वकृत कर्मों की छाया होती है। वर्तमान जीवन पूर्व कृतकर्मों की परिणति रूप होते हुये भी मानव अपनी विवेकशील प्रज्ञा द्वारा सत्पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का नव निर्माण कर सकता है।

यदि जीवन की हर गतिविधि को पूर्वकृत कर्मों का परिणाम मान लिया जायेगा तो उसमें ये प्रश्न पैदा हो जायेंगे। प्राणी जो कुछ भी वर्तमान जीवन में क्रिया-कलाप कर रहा है, वह पूर्व कृतकर्मों का परिणाम है। वर्तमान में क्रिया-कलाप उसके पूर्वकृत कर्मों को क्षपित-नष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार जब वह कृत कर्म क्षपित कर चुका तो फिर उसकी मोक्ष हो जानी चाहिये। इस पर यदि कहा जाय कि नहीं वह पूर्व कर्मों के भोग के साथ नये कर्म भी कर रहा है, जो कि उसके अगले जन्म का निर्माण करने वाले हैं। ऐसे कर्म भी क्या पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप हैं या उसका अपना पुरुषार्थ है ? यदि उसे पूर्व कर्मों का परिणाम माना जायेगा तो कोई भी प्राणी मोक्ष पा ही नहीं सकता, कर्म की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहेगी। भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुरुषार्थवाद रह ही नहीं पायेगा। अतः स्पष्ट है कि प्राणियों को होने वाली सुख और दुःख की अनुभूति पूर्व कृत कर्म के परिणामस्वरूप होते हुये भी उस समय में होने वाली राग-द्वेष की भावना या समभाव की साधना उसके अगले जीवन का सर्जन करने वाली बनती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मों के आश्रित नहीं है, आज जो कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ क्रिया-कलापों से है। आत्मा ही अपने अच्छे या बुरे जीवन का सर्जन करने वाली है।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है :—

अप्पाकत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ।।

आत्मा ही अपने सुख दुःख की कर्त्ता और भोक्ता है, अशुभ कार्यों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी शत्रु है और शुभ विचारों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी मित्र है।

अतः शुभ या अशुभ अध्यवसाय, अच्छे या बुरे कार्य स्वयं के द्वारा ही निर्मित किये जाते हैं। कर्म तो मात्र निमित्त है।

जिज्ञासा 2—जो मूर्तिपूजक लोग हैं, वे बहुत खर्च करके, बड़े-बड़े मन्दिर बनवा कर अनुष्ठान करवाते हैं, वे क्यों नहीं छोटी मूर्ति बनवाकर छोटे मकान में स्थापित कर लेते ? इस पर आप श्री के क्या विचार हैं ?

प्रश्नकर्त्ता आर० एल० सिंघवी
प्रिंसिपल—कॉमर्स कॉलेज (अहमदाबाद)

समाधान—प्रश्नकर्त्ता का आशय सम्भव है, श्रेय कार्य की ओर इंगित कर रहा है। जहां लाखों करोड़ों का खर्च करके विशाल मन्दिर बनवाया जाता है, वहां उन रुपयों को बचा करके क्यों नहीं परोपकार में, दीन दुखियों के कष्टों को मिटाने में, शिक्षण कार्यों में या अन्य किसी परमार्थ कार्य में लगा लिये जायें ? जिससे रचनात्मक कार्यों के साथ अधिक पुण्यवानी का अर्जन किया जा सके। क्यों सिंघवी सा० क्या आपके प्रश्न के पीछे यही आशय रहा है न ?

जी हां—सिंघवी साहब ने कहा। हां तो सज्जनो ! यह सभी के समझने का विषय है। मैं तो यही कह सकता हूं कि जितने भी व्यर्थ के खर्च हैं, उन्हें सीमित करके अवशेष सारी शक्ति प्राणी मात्र की रक्षा रूप परमार्थ के कार्यों में नियोजित करना अधिक उपयुक्त है जिससे आत्मा से ममत्व का विसर्जन हो।

प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सभी बाह्य परिधियों से हटाकर उन्हें निपट आत्मिक जागरण की ओर अधिक बल दिया है। स्वयं गौतम स्वामी को जिनेश्वर महावीर ने कहा—तुम जिन को नहीं देख

में वह लग रहा है, वे कार्य क्या पूर्वकृत कर्मों के ही परिणाम स्वरूप हैं या अन्य कोई रहस्य है ?

प्रश्नकर्त्ता—चौथमलजी भंसाली

समाधान—सुज्ञ बन्धुओ ! पूर्व जन्मों में कृत कर्मों का परिणाम तो हमारे समक्ष स्पष्ट है, यह मानव तन, मन और वचन रूप त्रिपुटी की प्राप्ति पूर्व कृतकर्मों का ही परिणाम है, मन में होने वाले शुभाशुभ अध्यवसाय तथा शरीरादि द्वारा किये जाने वाले अच्छे या बुरे कार्यों में पूर्वकृत कर्मों की छाया होती है । वर्तमान जीवन पूर्व कृतकर्मों की परिणति रूप होते हुये भी मानव अपनी विवेकशील प्रज्ञा द्वारा सत्पुरुषार्थ के बल पर अपने जीवन का नव निर्माण कर सकता है ।

यदि जीवन की हर गतिविधि को पूर्वकृत कर्मों का परिणाम मान लिया जायेगा तो उसमें ये प्रश्न पैदा हो जायेंगे । प्राणी जो कुछ भी वर्तमान जीवन में क्रिया-कलाप कर रहा है, वह पूर्व कृतकर्मों का परिणाम है । वर्तमान में क्रिया-कलाप उसके पूर्वकृत कर्मों को क्षपित-नष्ट कर रहे हैं । इस प्रकार जब वह कृत कर्म क्षपित कर चुका तो फिर उसकी मोक्ष हो जानी चाहिये । इस पर यदि कहा जाय कि नहीं वह पूर्व कर्मों के भोग के साथ नये कर्म भी कर रहा है, जो कि उसके अगले जन्म का निर्माण करने वाले हैं । ऐसे कर्म भी क्या पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप हैं या उसका अपना पुरुषार्थ है ? यदि उसे पूर्व कर्मों का परिणाम माना जायेगा तो कोई भी प्राणी मोक्ष पा ही नहीं सकता, कर्म की अविच्छिन्न परम्परा चलती रहेगी । भगवान् द्वारा प्रतिपादित पुरुषार्थवाद रह ही नहीं पायेगा । अतः स्पष्ट है कि प्राणियों को होने वाली सुख और दुःख की अनुभूति पूर्व कृत कर्म के परिणामस्वरूप होते हुये भी उस समय में होने वाली राग-द्वेष की भावना या समभाव की साधना उसके अगले जीवन का सर्जन करने वाली बनती है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मों के आश्रित नहीं है, आज जो कुछ भी सुख-दुःख मिलता है, वह आत्मा के द्वारा किये गये शुभाशुभ क्रिया-कलापों से है । आत्मा ही अपने अच्छे या बुरे जीवन का सर्जन करने वाली है ।

भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा है :—

अप्पाकत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिअ सुपट्ठिओ ।।

आत्मा ही अपने सुख दुःख की कर्त्ता और भोक्ता है, अशुभ कार्यों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी शत्रु है और शुभ विचारों में प्रवृत्त आत्मा ही अपनी मित्र है ।

अतः शुभ या अशुभ अध्यवसाय, अच्छे या बुरे कार्य स्वयं के द्वारा ही निर्मित किये जाते हैं । कर्म तो मात्र निमित्त है ।

जिज्ञासा 2—जो मूर्तिपूजक लोग हैं, वे बहुत खर्च करके, बड़े-बड़े मन्दिर बनवा कर अनुष्ठान करवाते हैं, वे क्यों नहीं छोटी मूर्ति बनवाकर छोटे मकान में स्थापित कर लेते ? इस पर आप श्री के क्या विचार हैं ?

प्रश्नकर्त्ता आर० एल० सिंघवी
प्रिंसिपल–कॉमर्स कॉलेज (अहमदाबाद)

समाधान—प्रश्नकर्त्ता का आशय सम्भव है, श्रेय कार्य की ओर इंगित कर रहा है । जहां लाखों करोड़ों का खर्च करके विशाल मन्दिर बनवाया जाता है, वहां उन रुपयों को बचा करके क्यों नहीं परोपकार में, दीन दुखियों के कष्टों को मिटाने में, शिक्षण कार्यों में या अन्य किसी परमार्थ कार्य में लगा लिये जायें ? जिससे रचनात्मक कार्यों के साथ अधिक पुण्यवानी का अर्जन किया जा सके । क्यों सिंघवी सा० क्या आपके प्रश्न के पीछे यही आशय रहा है न ?

जी हां—सिंघवी साहब ने कहा । हां तो सज्जनो ! यह सभी के समझने का विषय है । मैं तो यही कह सकता हूं कि जितने भी व्यर्थ के खर्च हैं, उन्हें सीमित करके अवशेष सारी शक्ति प्राणी मात्र को रक्षा रूप परमार्थ के कार्यों में नियोजित करना अधिक उपयुक्त है जिससे आत्मा से ममत्व का विसर्जन हो ।

प्रभु महावीर ने भव्य प्राणियों को सभी बाह्य परिधियों से हटाकर उन्हें निपट आत्मिक जागरण की ओर अधिक बल दिया है । स्वयं गौतम स्वामी को जिनेश्वर महावीर ने कहा—तुम जिन को नहीं देख

रहे हो ! जबकि स्वयं भगवान् सामने उपस्थित हैं। प्रभु ने फरमाया कि तुम जिन को तभी देख सकते हो जव तुम स्वयं जिन वन जाओगे। अतः स्पष्ट है प्रभु की दिव्य दृष्टि में शरीर का भी महत्त्व नहीं था, उनके ज्ञान में आत्मा का परम स्वरूप रहा हुआ था।

जिज्ञासा 3—आप श्री ने अपने प्रवचन में वतलाया संसार में श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं। श्रेयस् मार्ग का अंतिम परिणाम दुखों से पूर्ण निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति है किन्तु विश्व में ऐसा देखने में आता है कि प्रेय मार्ग की ओर लोगों का मन अधिक आकर्षित रहता है, ऐसा क्यों ? इसके साथ एक प्रश्न और यह है कि जीवन शुद्धि का आनन्द प्राप्त करने के लिए प्रभु भक्ति, उपदेश, ज्ञान या धर्म ही पर्याप्त है ?

प्र० कर्त्ता– श्री कांतिलाल शाह

समाधान—विश्व का प्रत्येक प्राणी जन्म-जन्मान्तर से मोह कर्म से घिरा हुआ है। मोह कर्म का आवरण इतना घनीभूत होता है कि जिससे आत्मा को हित-अहित का यथार्थ विवेक नहीं रह पाता, यह आत्मा अनन्त-अनन्त जन्मों से प्रेय मार्ग की ओर ही अधिक अग्रसर रही है। कुछ पुण्यवानी से मनुष्य जन्म को प्राप्त कर लिया तथा जन्म-जन्मान्तर से प्रेय मार्ग की ओर ही अधिक आकर्षित होते हैं।

यह कारण तो पूर्व जन्म से सम्बन्धित है, वर्तमान जीवन में भी अनेकों कारण उसे प्रेय मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले बनते हैं। आज का युग अधिकाधिक भौतिकता की ओर दौड़ता जा रहा है, सभी ओर धन सम्पत्ति की ही धूम मची हुई है। वातावरण भी इतना अश्लील बन चुका है कि जिधर देखो उधर प्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने वाले साधन मनुष्यों को मिल रहे हैं। परिवार, समाज, राष्ट्र एवं सारे विश्व में भौतिक सुखों की प्रधानता परिलक्षित है। इस प्रकार के वातावरण का प्रभाव मानव को सहज ही प्रेय मार्ग की ओर मोड़ देता है।

श्रेय मार्ग की ओर प्रवृत्ति कराने वाले साधन संसार में बहुत अल्पमत हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् द्वारा प्रतिपादित, श्रेय मार्ग की उपलब्धि भी भव्य उपासकों को बहुत दुर्लभ हो गई है, श्रेय मार्ग के

प्रतिपादक साधक भी बहुत विरले मिलेंगे । अधिकांश साधकों के मन में यह भावना रहती है कि अमुक व्यक्ति मेरा भक्त बन जाय । उसे भक्त बनाने के लिए वे उसके अनुकूल ही उपदेश देंगे जो कि सही अर्थों में श्रेय मार्ग को बताने वाला नहीं होगा । और जहां श्रेय मार्ग की उपलब्धि होती भी है वहां पर भी कई भाई-बहिन इसलिए पहुंचते हैं कि धर्म ध्यान आदि श्रेय कार्य को करने से हमें भौतिक सुख सम्पत्ति मिल जाय । हमारे दुःख दूर हो जायें या मेरे कोई सन्तान नहीं है तो सन्तान हो जाय । उनकी भावनायें उन्हें श्रेय स्थान पर लाकर भी प्रेय मार्ग की ओर मोड़ देती हैं । बहुत विरले मानव सच्चे अर्थों में श्रेय मार्ग को अपना पाते हैं ।

इसके अतिरिक्त प्रेय मार्ग में लोगों को जिस सुख का आभास होता है हाँलाकि वहां वास्तविक सुख नहीं है । किन्तु मृग मरीचिका की तरह साधारण मानवों का उधर ही अधिक आकर्षण बढ़ता है ।

दूसरा प्रश्न आपका था कि भक्ति, ज्ञान या धर्म ही आत्मिक आनन्द के लिए पर्याप्त है ? सुज्ञ बन्धुवर ! प्रभु ने निपट ज्ञान या मात्र आचरण को ही आत्मानन्द में कारण नहीं माना है । किन्तु ज्ञान और क्रिया का सम्मिलित रूप ही परमानन्द का कारण बनता है । ज्ञानी जनों ने स्पष्ट कहा है—

'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः'

ज्ञान-क्रिया के आचरण से ही आत्मा परमानन्द को प्राप्त कर सकती है । इसी बात को स्पष्ट करने के लिए एक अंध-पंगु का उदाहरण भी मिलता है ।

भयानक दावानल से अपने को बचाने के लिए एक अंधा और दूसरा पंगु विह्वल हो उठे । लेकिन अकेला अंधा या अकेला पंगु अपने को बचा नहीं सकता । पंगु के आंखें होते हुए भी पैर न होने से दौड़ नहीं सकता । अंधे के पैर न होते हुए भी आंख न होने से वह दावानल से बच नहीं सकता किन्तु जब पंगु व अंधा दोनों को शक्तियां मिल जाती हैं तो वे उस दावानल से बच सकते हैं । इसी प्रकार यह आत्मा राग द्वेष पूर्ण भयानक दावानल से बचकर परमानन्द को तभी प्राप्त कर सकती है जब वह ज्ञान और क्रिया को सम्मिलित रूप से जीवन में अपनावे ।

अकेला ज्ञान या अकेली क्रिया आत्मा को सुखी नहीं बना सकती। परमानन्द का स्रोत तो स्वयं के भीतर ही विद्यमान है, आवश्यकता है ज्ञान, क्रिया की सम्मिलित साधना से उस स्रोत पर आए कर्म कलिमल को हटाने की।

जिज्ञासा 4—मेरा प्रश्न कल के व्याख्यान से सम्बन्धित है। आप श्री ने कल प्रवचन में फरमाया था, अनीति की कमाई में स्त्री-पुरुष दोनों सहभागी हैं, तो उसी अनीति की कमाई से घरों में रसोई भी बनती है। जिसे संत-सती भी ग्रहण करते हैं, तो क्या वे उसके सहभागी नहीं होंगे ? साथ ही अनीति की कमाई सामाजिक कार्यों में भी काम में आती है, जिससे संघ के सकल सदस्य भी क्या उस कमाई में सहभागी नहीं बनेंगे ?

प्र० कर्त्ता—हेमन्तकुमार नाहर

समाधान—सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि नीति या अनीति किससे सम्बन्धित है। चैतन्य से या जड़ से। क्या यह पाटा नीति अनीति को समझता है ? क्या इसमें नीति या अनीति का परिणाम आ सकता है ?

जी नहीं (प्रश्नकर्त्ता ने कहा)

अतः स्पष्ट है—नीति या अनीति, चैतन्य आत्मा के परिणाम हैं। आत्मा के अशुद्ध परिणाम अनीति और आत्मा के शुद्ध परिणाम नीति हैं। मैंने जो कल कहा था कि व्यापार में होने वाली अनीति–पाप का भागीदार जैसे वह भाई होता है। वैसे ही उसकी धर्मपत्नी भी होती है। क्योंकि अनीति करने का परिणाम उस व्यापारी का है तो अनीति कराने का परिणाम उसकी धर्मपत्नी का है। इन परिणामों के कारण ही दोनों को पाप का भाग मिलता है । परिणाम के कारण जीवों के साथ कर्मों का बन्धन होता है। अब आपका प्रश्न है कि उस नीति से अर्जित धन से बनाए गए भोजन को संत-सती भी लेते हैं तो उन्हें भी उसका पाप लगना चाहिए ? यहां पर यह विचार करना है कि कर्म बन्धन या पाप का हिस्सा तदनुरूप परिणामों के होने पर आता है। क्या संतों की भावना श्रावकों से अनैतिकता से काम कराने की है ?

सच्चा संत मनसा, वाचा कर्मणा कभी भी अनैतिकता नहीं चाहता। संत जीवन अंगीकार करने के साथ ही सभी सावद्य पापकारी कार्यों का त्याग हो जाता है। पापकारी कार्यों के अन्तर्गत अनीति भी आ जाती है। संत स्वयं अनीति करते नहीं, किसी से करवाते नहीं और करने वाले को अच्छा भी नहीं समझते। ऐसी स्थिति में संतों को अनीति से किए व्यापार का भाग कैसे मिल सकता है ?

हाँ संत अन्न और जल तो गृहस्थों के घरों से ही लेते हैं। परन्तु संतों के नीति और अनीति का प्रावधान दूसरी प्रकार से है। जिस प्रकार आपके व्यापार करने की मूल्य सूची सरकार द्वारा निर्धारित की जाती है, उसके अनुसार यदि व्यापार किया जाता है तो वह नीति का होता है। यदि उस मूल्य सूचो को तोड़कर व्यापार किया जाता है तो वह अनीति का होता है। जिस प्रकार सरकार ने आपके लिए मूल्य सूची बना रखी है, उसी प्रकार संतों के लिए अन्न और जल ग्रहण करने के लिए सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु महावीर ने सारा विधान कर रखा है, साधु को 42 दोष टाल कर आहार-पानी लाना होता है। साधु पांच महाव्रत पालन करने के साथ ही 42 दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करता है तो वह अन्न-जल उसके लिए नैतिक है। यदि वह भगवान् द्वारा बतलाए गए नियमों का पालन नहीं करता है तो उसका अन्न-जल ग्रहण अनैतिक बन जाता है।

यह तो मैं पहले बतला चुका हूं कि स्वयं अन्न या जल नीति या अनीति नहीं है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक छोटा रूपक है। किसी करोड़पति के भवन निर्माण हेतु बहुत से मजदूर काम कर रहे हैं, मजदूरों के लिए जितने घण्टे काम करने को कहा गया है, जो मजदूर उतने ही घण्टे ईमानदारी से काम करके सेठ से अपनी मजदूरी लेता है। सेठ ने झूठ, चोरी, अन्याय, अनीति करके जो धन कमाया है। उसी धन में से मजदूर को मजदूरी देता है। अब बतलाइये ऐसा धन मजदूर के लिए नीति का है या अनीति का ?

नीति का (प्रश्नकर्त्ता ने कहा)

क्यों ?

वह इसलिए कि मजदूर तो अपनी मजदूरी की विधि-ईमानदारी से काम करके मजदूरी ले रहा है। सेठ ने चाहे धन कैसे ही उपार्जित किया हो, उस मजदूर के लिए तो वह नीति का है।

ठीक इसी प्रकार उसी सेठ के घर में उसी अनीति से उपार्जित धन से भोजन तैयार होता है। कोई पंच महाव्रती साधु उसके घर आहार लेने पहुंच जाय और वह भगवान् के बतलाए विधि-विधान के अनुसार बयालीस दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करे तो मजदूर को प्राप्त मजदूरी की तरह ही वह आहार-पानी साधु के लिए शुद्ध एवं नीति का होता है।

दूसरी बात प्रश्नकर्त्ता की यह थी कि उसी सेठ का अनीति से उपार्जन धन समाज में काम आता है तो उस अनीति का भाग संघ सदस्यों को भी मिलना चाहिए। समझने का विषय यहां पर यह है कि शुभ भाव से समाज के सदस्य उससे पैसे ले रहे हैं। यदि समाज के सदस्य अनीति को अच्छा नहीं समझते हैं और जो पैसा ग्रहण कर रहे हैं वह भी जनहित में लगा रहे हैं। जिससे दो लाभ होते हैं, एक तो दाता का उन पैसों से ममत्व हटता है और समाज के अन्य सदस्यों को लाभ मिलता है। तो उसमें संघ के सदस्यों को उसकी अनीति का भाग कैसे आ सकता है? नहीं आता। यही नहीं, यदि पत्नी अपने पति के अनीतिपूर्ण कार्य में करने, कराने या अच्छा समझने में से किसी में भी सम्मिलित नहीं होती है। जो कथा मैं गत दिन वकील साहब की कह गया था। उनकी धर्मपत्नी ने उनके अनीति से उपार्जित पैसे को कतई स्वीकार नहीं किया, उस पैसे को वापस लौटा दिया, इस प्रकार नीति पर चलने वाली पत्नी को अनीति के पाप का हिस्सा प्राप्त नहीं होता।

जिज्ञासा 5—जन्म एक है या अनेक? यदि अनेक है तो पूर्व जन्म का स्मरण क्यों नहीं रहता? क्या देव भी मनुष्य गति पाने के लिए तड़फते हैं?

प्रश्नकर्त्ता—विमलचन्द देवड़ा

समाधान—जन्म तो अनेक ही नहीं अनन्त हैं। यह आत्मा अनन्तानन्त जन्म मरण कर चुकी है। शरीर तो वस्त्र परिवर्तन की

तरह है। जैसे वस्त्र परिवर्तन होते हैं, उसी प्रकार शरीर का भी परिवर्तन होता रहता है—पूर्व जन्म की स्मृति भी अनेक को रहती है। आपने दैनिक, पाक्षिक, मासिक आदि अनेक पत्र-पत्रिकाओं को देखा एवं पढ़ा होगा। अमुक व्यक्ति को पूर्व जन्म की स्मृतियां अभी भी हैं। पत्रिकाओं में उसके फोटो तक दिए जाते हैं।

हाँ। पूर्व जन्म के संस्कार सभी को याद नहीं रह पाते। इसका कारण यह है कि ज्यों ही गत जीवन को छोड़कर नये जीवन में प्रवेश करता है, त्यों ही उसके सामने नये संस्कार आने लगते हैं, जिससे वह गत जीवन के संस्कारों को भूलता चला जाता है। यह तो गत जीवन की बात है। आज के लोगों को इस जीवन की घटनायें भी याद नहीं रहतीं। मैं आपसे पूछता हूं कि आप पढ़ लिखकर ग्रेजुएट बन गए हैं। क्या आपको याद है कि आपकी दसवीं कक्षा के पेपर में कितने प्रश्न थे और कौन-कौन से ? क्या अब आप उनका उत्तर दे सकते हैं ?

जी नहीं—प्रश्नकर्त्ता ने कहा।

यही नहीं, आपने पांच दिन पहले कौनसी सब्जी खाई थी, यह भी आपको याद है या नहीं ?

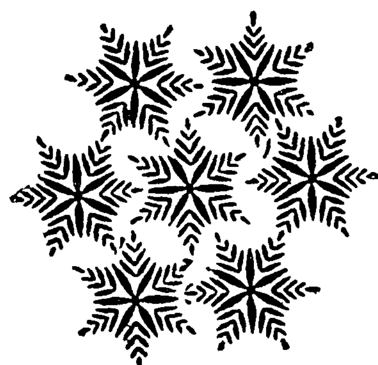
जी नहीं—प्रश्नकर्त्ता ने कहा।

तो जब आपको इतने सन्निकट जीवन की बातें भी याद नहीं रहतीं तो गत जीवन की बातें कैसे याद रह पायेंगी ? जो किन्हीं-किन्हीं को पूर्व (गत) जीवन की बातें याद आती हैं। उनको आज के जीवन से कभी-कभी पूर्व के संस्कार जागृत हो जाते हैं।

बचपन में तो प्रायः पूर्व के संस्कार जागृत रहते हैं, आपने कभी ध्यान से बच्चे की गतिविधि देखी हो तो ज्ञात होगा कि बच्चा बिना किसी कारण पालने में झूलता-झूलता किलकारियां मारने लगता है। और बिना कारण ही रोने भी लग जाता है। यही नहीं उसके चेहरे पर विविध भाव भंगिमा उभरने लगती है। जब उसे सुख की बातें याद आती हैं तो वह खिल उठता है और जब दुख की बातें याद आती हैं तो वह मुरझा जाता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका नवीन जीवन में प्रवेश

होता जाता है, पूर्व की बातें स्मृति से ओझल हो ही जाती हैं, इस कारण पूर्व भव की बातें याद नहीं रहतीं।

दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि स्वर्ग में जो सम्यक् दृष्टि देव होते हैं, वे जब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवंतों की वाणी सुनते हैं तो उनमें यह भावना बलवती हो उठती है कि हमें भी मानव जीवन प्राप्त हो और धर्म का पालन कर हम भी शीघ्र मुक्ति में चले जायें। उनके यहां तक के विचार बतलाए जाते हैं कि वे श्रावक के पुत्र नहीं बन सके तो उनके दास बनने के भी इच्छुक रहते हैं। क्योंकि श्रावक के यहां जन्म लेने से उन्हें धर्म सुनने, समझने एवं आचरण करने को मिलेगा।



[१३]

क्रिया-प्रतिक्रिया समीक्षण

- क्रिया के तीन रूप
- दो प्रकार से मन की प्रवृत्ति
- क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में
- सामायिक क्रिया
- मन की क्रिया
- विचित्र रूप महायोगी का
- श्रेणिक की वार्ता प्रभु से
- वार्ता सुमुख-दुर्मुख की
- मन की तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया
- निज समीक्षण करें

जोग सच्चेणं जोगं विसीहेइ ।
उत्तराध्ययन सूत्र – २९/५३

योग सत्य से जीव, मन, वचन और काय की क्रिया को विशुद्ध करता है ।

विश्व के प्रत्येक मानव के पास तीन योग हैं—मन, वचन और काया। इन त्रियोगों की अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा का अधःपतन हो जाता है और इन्हीं की शुभ प्रवृत्ति से आत्मोत्थान हो जाता है। आत्मोथान के लिये योग कषायजनित आत्मा की क्रिया का समीक्षण करना होगा। जब भव्य साधक अपनी मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया का समीक्षण करने लगेगा और समीक्षण के साथ उन्हें अशुभ से हटाकर शुभ में नियोजित करेगा तो लक्ष्य तक पहुँच जाएगा।

———

निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहिये रे।।
।। श्री श्रेयांस ।।

कवि ने श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना के साथ क्रिया विषयक चर्चा की है। संसार के समस्त प्राणी किसी न किसी प्रकार की क्रिया प्रति समय करते रहते हैं। क्रिया मुख्यत: योग के द्वारा की जाती है, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से जिस शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, वह योग है। वह मन, वचन, काया के मुख्य माध्यम की अपेक्षा लेकर तीन प्रकार का है। मन योग के चार, वचन योग के चार और काय योग के सात मिलाकर योग के १५ भेद भी बन जाते हैं।

कर्मबद्ध समस्त आत्माएँ सिद्धान्त की दृष्टि से २४ दंडकों में विभाजित हैं। २४ दंडकों का ज्ञान तो आप लोगों को होगा ही। सभा में दृष्टि डालने से ज्ञात हो रहा है कि कई लोगों को नहीं होगा। अत: मैं ही आपको बतला देता हूँ कि सात प्रकार की नारकी का एक दण्डक, दस भवनपति देवताओं के दस दण्डक, व्यन्तर, देवताओं का एक दण्डक ज्योतिषि देवताओं का एक दण्डक, वैमानिक देवताओं का एक दण्डक, मनुष्य का एक दण्डक, पाँच स्थावर कायिक जीवों के पाँच दण्डक, बेइन्द्रिय जीव का एक दण्डक, तेइन्द्रिय जीव का एक दण्डक, चतुरिन्द्रिय जीव का एक दण्डक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव का एक दण्डक। इस प्रकार २४ दण्डकों में सभी संसारी प्राणी आ जाते हैं। इन चौबीस ही दण्डकों में प्रत्येक दण्डक में किसी न किसी प्रकार का योग रहता है। तीन योगों में से नारकी, देवता, संज्ञी मनुष्य, संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तीन योग होते हैं। तीन विकलेन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्य में मनोयोग रहित दो योग होते हैं। पांच स्थावर कायिक जीवों में एक काय योग ही पाया जाता है।

जिन जीवों के पास जितने योग विद्यमान हैं, वे जीव उतने ही योगों से क्रियाशील बन जाते हैं। चाहे एक योग हो या तीनों ही, क्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है।

क्रिया के तीन रूप

मन, वचन, काया के योगों से होने वाली क्रिया कर्म बन्धन का

कारण बनती है। जिन क्रियाओं के साथ कषाय की प्रधानता होती है, वे क्रियाएँ अधिक कर्मों का बन्धन कराने वाली होती हैं। और जो योग सम्बन्धी क्रियाएँ कषाय रहित होती हैं वे क्रियाएँ आपेक्षिक दृष्टि से अल्पकर्म बंधाने वाली होती हैं। जैसे—प्रथम से लेकर दस गुण स्थानवर्ती आत्माओं में योग के साथ कषाय भाव भी होने से ग्यारह आदि गुणस्थानों में शमित–क्षपित की अपेक्षा अधिक कर्म बन्धन होता है।

कषाय के द्वारा मन, वचन काय की क्रिया में अधिक परिस्पन्दन होने से कर्मों का भी गहरा बन्धन हो सकता है। लेकिन कषाय रहित योग सम्बन्धी क्रियाओं में काषायिक परिस्पन्दन का अभाव होने से कर्म बन्धन अत्यल्प होता है।

ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में एक एर्यापथिकी क्रिया ही होती है। अतः वहां योग सम्बन्धित पस्पिन्दन अधिक कर्म बन्धन वाला नहीं होता है। पहले समय में कर्म बन्धन है तो दूसरे समय में छूट जाता है।

कषाय युक्त योग सम्बन्धित क्रियाओं से यदि अनिकाचित कर्म बन्धन हुआ हो तो उसे भी शुभ अध्यवसाय पूर्वक सत्पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा से विलग किया जा सकता है।

शरीर क्रिया तो दुनियां की दृष्टि में आ जाती है। वचन की क्रिया भी दृष्टि में आ जाती है, परन्तु मन की क्रिया इतनी सूक्ष्म रहती है कि स्थूल दृष्टि में नहीं आ पाती है। मन की क्रिया अन्दर में होती है। जिस प्रकार घड़ी के सैकिण्ड का कांटा अनवरत चलता रहता है, रुकता नहीं है। रुक जाय तो घड़ी ही बंद हो जाती है। उसी प्रकार मनुष्य की मानसिक क्रिया अथवा दिल की धड़कन रूप क्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है, यदि ये क्रियाएँ रुक जायें तो शरीर में स्थित चैतन्य ही स्थानान्तरित हो जाय, अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है।

दो प्रकार से मन की प्रवृत्ति

मन की स्थिति भी दो प्रकार की होती है। एक मन बाहर में प्रवृत्ति कराने वाला होता है, तो एक मन भीतर में प्रवृत्ति कराने वाला होता है। जिसे वैज्ञानिक परिभाषा में कांन्शियस माइण्ड तथा अनकांन्शियस माइण्ड कहते हैं। अर्थात् भीतरी प्रवृत्ति का

साक्षी अजागृत मस्तिष्क है, और बाहरी प्रवृत्ति का साक्षी जागृत मस्तिष्क है।

कई योगी योग बल के द्वारा बाहरी क्रियाओं को रोक लेते हैं। यहां तक कि नाड़ी संचार भी रुक जाता है, तथापि उसके अन्दर में मानसिक क्रिया के साथ सूक्ष्म रूप से शारीरिक क्रियाओं का भी संचरण होता रहता है। जब तक इन त्रियोग से सम्बन्धित क्रियाओं को सही तरीके से नहीं समझेंगे तब तक धार्मिक क्रिया या आध्यात्मिक क्रिया को भी नहीं समझ पायेंगे। जब व्यक्ति को यह समीक्षण नहीं होगा कि जो क्रिया मैं कर रहा हूँ वह संसार बढ़ाने वाली है या संसार घटाने वाली है ? भव परम्परा को बढ़ाने वाली है या भव परम्परा को उच्छिन्न करने वाली है ? तब तक उसकी क्रिया यथार्थ दशा की ओर नहीं हो पाएगी। अतः क्रिया के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

क्रिया की प्रवृत्ति शुभ में या अशुभ में

मन, वचन और काय रूप योगों के द्वारा क्रिया की प्रवृत्ति शुभ कार्य में भी हो सकती है तो अशुभ में भी। हिंसात्मक कार्य में भी हो सकती है तो अहिंसात्मक कार्य में भी जिस प्रकार सुई को सीने के काम में भी लिया जा सकता है, तो उसे किसी के चुभाया भी जा सकता है। कांटे से कांटा निकाला भी जा सकता है तो कांटे को शरीर में गड़ाया भी जा सकता है। इसी प्रकार त्रियोग से युक्त क्रिया के द्वारा आत्मा पर स्थित कर्मों के पर्तों को हटाया भी जा सकता है, तो उन्हीं त्रियोग से बंधित क्रियाओं के अशुभाचरण से आत्मा को कर्मों से मलीमष भी बनाया जा सकता है। मन, वचन, काय रूप क्रियाओं की प्रवृत्ति को किस प्रकार गतिशील करना चाहिए, इसका विवेक व्यक्ति को होना आवश्यक है। जब तक वह इस विवेक से अनभिज्ञ रहेगा तब तक आत्मा का मौलिक स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता। उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

जोग सच्चेणं जोगं विसोहेइ।

योग सत्य से जीव मन, वचन, काय की क्रिया को विशुद्ध करता है। यह विशुद्धि योग समीक्षण से सम्बन्धित है।

सामायिक की क्रिया

सामायिक करना भी एक क्रिया है। प्रथम तो सामायिक करने का विचार ही बहुत कम लोगों के मस्तिष्क में आता है। जो लोग सामायिक करते भी हैं तो सामायिक की सारी क्रिया नहीं कर पाते हैं। बहुत कम साधक विधि सहित सामायिक करने वाले होंगे। कपड़े खोलकर श्वेत चादर ओढ़ लेना, मुख वस्त्रिका का लगा लेना, थोड़ी बहुत धार्मिक पुस्तक पढ़ लेना, माला फेर लेना या और कुछ करके सामायिक पूरी कर लेना, यह सब सामायिक की ऊपरी क्रिया है। यद्यपि ये क्रियाएँ भी आपको आध्यात्मिकता की ओर बढ़ाने वाली हैं तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि हमारी सामायिक पूरी हो चुकी है। क्योंकि इतने मात्र से जो सामायिक से उपलब्धि होनी चाहिये, जो क्षमता की मात्रा आनी चाहिये, जो सभी क्षण की साधना सधनी चाहिये, वह नहीं सध पाती। सामायिक की आराधना यदि सही ढंग से की जाय तो उससे साधक को बहुत कुछ उपलब्धि हो सकती है।

आपने पूणिया श्रावक का नाम सुना होगा। पूणिया श्रावक भी तो आप ही की तरह श्रावक था। वह भी गृहस्थावस्था में रहकर सामायिक किया करता था, किन्तु उसकी सामायिक कितनी मूल्यवान थी? सम्राट् श्रेणिक का ५२ डूँगरी सोना तो उसकी दलाली में भी पर्याप्त नहीं था। प्रभु महावीर द्वारा श्रेणिक के नरक टालने के बतलाये गये उपायों में एक उपाय यह भी था कि यदि वह पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद ले, तो उसका नरक गमन टल सकता है।

बंधुओ! प्रभु ने सामायिक का कितना महत्त्व बतलाया है। सामायिक आप भी करते हैं। किन्तु वैसी विधि-क्रिया कितनी साधते हैं? यह बात आप अपने-अपने मनों में विचार लीजिये। यदि मैं सामायिक के ३२ दोष पूछने बैठूँ, तो बहुत कम व्यक्तियों को मालूम होंगे। इतने मात्र से आपको हताश नहीं होना है। किन्तु जो सामायिक आप करते हैं, लाभ उससे भी होता है किन्तु जितना चाहिए, उतना नहीं हो पाता। सामायिक की ४८ मिनट की साधना में तथा अन्य गृहीत व्रतों में दोष लग जाते हैं, तो उनकी भी आलोचना आवश्यक है। जिससे प्रायश्चित लेकर शुद्धिकरण किया जा सके। बिना प्रायश्चित लिये ही कभी अना-

लोचित अवस्था में तथा कपट पूर्ण आलोचना के परिणाम में यदि आयुष्य बंधन भी हो जाता है, तो तिर्यंचायुष्य का बंधन भी हो जाता है। प्रभु ने अढ़ाई द्वीप के बाहर भी श्रावक बतलाए हैं। वे श्रावक तिर्यंच होते हैं। जब कभी संयोगवश उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हो जाता है, तब उन्हें ज्ञात होता है कि अहो ! हमने मनुष्य जीवन में श्रावक व्रत अंगीकार किये थे। किन्तु व्रतों में जो दोष लगे, उनकी आलोचना, निन्दा नहीं की, परिणाम स्वरूप मरकर तिर्यंच बन गए। इस प्रकार वे पश्चाताप करते हुए पुनः यथाशक्य श्रावक व्रत स्वयमेव ही अंगीकार कर लेते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सामायिकादि किसी भी व्रत की आराधना क्रिया को शुद्धरीति से करने का प्रयास करना चाहिये। यदि उसमें कोई दोष लग जाय तो आलोचना कर प्रायश्चित लेकर शुद्धिकरण कर लेना चाहिये।

मन की क्रिया

कवि आनन्दघन जी का कहना है कि 'निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम कहिये रे।' जो क्रिया निज स्वरूप को बतलाने वाली होती है, उसे ही आध्यात्मिक कहा जा सकता है। मन की गति–क्रिया इतनी सूक्ष्म और तीव्र होती है कि जल्दी से साधक उसे पकड़ नहीं पाता। मन की गति–क्रिया को साधे बिना, समीक्षण किये बिना आत्म-स्वरूप सध नहीं सकता। आत्म-स्वरूप को साधने के लिये मन की गति का समीक्षण आवश्यक है। आगार अवस्था से हटकर अनगार अवस्था में विचरण करने वाला साधक भी मन की सूक्ष्म गति का यथायोग्य समीक्षण नहीं कर पाता है तो वह भी साधना पथ से गिर सकता है। मन का वेग किस तीव्रता के साथ बढ़ता है। शुभ की ओर गति करने वाला मन आत्मा को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देता है और अशुभ की ओर गति करने वाला मन आत्मा को कहाँ से कहाँ तक पहुँचा देता है ? इसका समीक्षण किस प्रकार किया जाय इसके लिए मैं उदाहरण उपस्थित कर देता हूँ—

विचित्र रूप महायोगी का

राजगृह नगरी के बाहर, दोनों, भुजाएँ ऊपर करके सूर्याभिमुख हो, एक महायोगी ध्यान साधना में तन्मय बने हुए थे। प्रातः वेला में सम्राट् श्रेणिक भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन-नमस्कार करने के लिये नगर से बाहर निकले। नगर से बाहर निकलते ही उनकी दृष्टि ध्यान

साधना में स्थित महायोगी पर गिरी। उनकी प्रखर ध्यान साधना को देखकर श्रेणिक का मस्तिष्क श्रद्धावनत हो गया। भाव-विभोर होकर सम्राट् ने महायोगी को वन्दन-नमस्कार किया और गुणशील उद्यान की ओर प्रस्थित हुआ। जब वह, भगवान् महावीर के चरणों में पहुँचा, वन्दन-नमस्कार कर भगवान् की ओर आसन पर बैंठ गया, तब तक भी उसके मन में राजगृह के बाहर ध्यानस्थ महायोगी के विषय में विचार चल रहे थे। आखिर सम्राट् ने संशयहर्त्ता, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु से पूछ ही लिया—भगवन् आपके शिष्य, जो नगर से बाहर सूर्याभिमुख हो, दोनों भुजाएं ऊपर करके ध्यान में तल्लीन हैं। यदि वे इस समय काल धर्म को प्राप्त हो जाय तो कहाँ जाय ?

सम्राट् के प्रश्न को श्रवण कर वीतरागी प्रभु जिनको न अपनो पर राग था न अन्यों पर द्वेष। जो वीतराग अवस्था में रमण कर रहे थे, स्पष्ट फरमाया—श्रेणिक! यदि वह साधक इस समय आयुष्य बन्धन कर ले तो सातवीं नरक में जाय। भगवान् ने यह उत्तर देते समय नहीं सोचा कि मैं अपने शिष्य के विषय में ऐसा कहूँगा तो जनता क्या सोचेगी। लोगों की श्रद्धा उठ जायेगी, इसलिये यह बात नहीं कहनी चाहिए। परन्तु प्रभु ने जो बात जैसी थी, वैसी ही स्पष्ट कर दी। नीतिकार ने सत्य ही कहा है—

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्ति मद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

न तो मेरा प्रभु के प्रति राग ही है, न अन्य कपिलादि दर्शनों पर द्वेष ही। युक्ति-युक्त वचन जिसके भी हों, वही ग्राह्य हैं।

प्रभु ने अपने शिष्य के प्रति भी मोह न करके, सत्य बात को स्पष्ट कर दी। ऐसे वीतरागी देवों के वचन निश्शंक ग्राह्य होते हैं।

श्रेणिक की वार्ता प्रभु से

सम्राट् श्रेणिक तो इस बात को सुनकर एकदम स्तब्ध हो गया। अहो! इतने बड़े योगी, इतनी कठोर साधना में तल्लीन, क्या वे भी सातवीं नरक में जा सकते हैं? प्रभु के वचनों में संदेह का तो कोई अवकाश ही नहीं है। इस प्रकार सम्राट् श्रेणिक के मन में विचार चल

रहे थे। विचार धारा फूट पड़ी वचनों के माध्यम से—क्या भगवन् ऐसा भी हो सकता है ? तव प्रभु ने कहा—राजन् ! यदि इस समय वे योगी काल कर जांय तो देवलोक में जांय।

यह विचित्र वात सुनकर तो सम्राट् के मन में उथल-पुथल मच गई। अरे ! कुछ क्षण पूर्व जिस योगी के लिये प्रभु ने नरक वतलाया, उसी योगी के लिये अव स्वर्ग वतला रहे हैं। यह विचित्र स्थिति कैसे वन गई ? कुछ ही क्षणों में इतना परिवर्तन कैसे हो सकता है। कुछ समझ में नहीं आ रहा है। भगवान् का कथन तो अवितथ सत्य है। मेरी अल्प वुद्धि तथ्य को समझ नहीं पा रही है। वाहर से इतनी संयमपूर्ण अवस्था परिलक्षित होते हुए भी इतना परिवर्तन किस प्रकार हो जाता है ? सम्राट् के मन में इस प्रकार विचार चल ही रहे थे। इतने में आकाश में देव दुंदभि गूँज उठी। अहो ज्ञानं। अहो ज्ञानं की तुमुल उद्घोषणा होने लगी। इस तुमुल स्वर से सम्राट् श्रेणिक की विचार धारा टूट गई। वह सोचने लगा—यह आवाज कहाँ से आ रही है ? दिव्य ज्ञानी प्रभु तो यहाँ विद्यमान हैं, और देव किसके लिए—अहो ज्ञानं अहो ज्ञानं की उद्घोषणा कर रहे हैं ?

प्रभु घट-घट के अन्तर्यामी होते हैं, उनके ज्ञान में संसार की कोई भी वस्तु अदृश्य नहीं रहती है। कवि आनन्दघनजी ने कहा है—

श्री श्रेयांस जिन अन्तरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गतिगामी रे ॥

यह वात श्रेयांस जिनेश्वर के लिए ही नहीं है। समस्त तीर्थंकर अन्तर्यामी हैं। आत्म स्वरूप में रमण करने वाले हैं। तीर्थंकर देव अध्यात्म ज्ञान में पूर्णता पाकर सहज ही मुक्तिगामी हो जाते हैं। प्रभु महावीर ने भी श्रेणिक की विचारधारा जानली और कहा—सम्राट् ! क्या सोच रहे हो ? वही योगी जिसके लिये तुम चिन्तन कर रहे थे, अव घनघाती कर्म को क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त कर चुके हैं। जितना ज्ञान मुझ में है, उतना ही ज्ञान उनकी आत्मा में भी उद्भासित हो चुका है। उनकी आत्मा इसी जगत में मुक्तिगामी वन गई है अर्थात् वे योगी इसी भव में मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

सम्राट् ने, प्रभु के मुख से ज्यों ही यह वात सुनी तो उसकी

जिज्ञासा की कोई सीमा नहीं रही, वह सोचने लगा—आज यह क्या हो रहा है ? जो साधक कुछ क्षणों पहले महानरक में जाने की स्थिति में थे। वे ही साधक कुछ क्षणों के बाद स्वर्ग में जाने वाले बन गये, तथा अब तो केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन को पाकर मुक्तिगामी बन गये है। बड़ा विचित्र रहस्य है।

वार्ता सुमुख–दुर्मुख की

भगवान् क्या फरमा रहे हैं, आप ! आप श्री के विशिष्ट ज्ञान-लोक में आलोकित तथ्य को मेरी मति समझ नहीं पा रही है। यह तो सत्य है—

"तमेव सच्चं णीसंकं जं, जिजेहिं पवेइयं"।

वही सत्य है, जो जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित है। भगवान् आपके वचनों में मुझे कोई संदेह नहीं है। परन्तु मेरी जानने की जिज्ञासा है कि नरक-स्वर्ग, अन्य वर्ग की अवस्था योगी के जीवन में कुछ ही क्षणों में किस प्रकार परिवर्तित हो गई ? प्रभु ने समाधित किया—सम्राट् की जिज्ञासा को।

राजन् ! इस परिवर्तन के लिये बाहरी परिवर्तन होना आवश्यक नहीं है। स्थूल दृष्टि में अन्तरंग का परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता है। वह परिवर्तन समीक्षण दृष्टि पूर्वक अन्तरंग के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। जिन योगी को तुमने सूर्याभिमुख होकर ध्यान साधना में देखा था उनके कानों में सुमुख और दुर्मुख नाम के दो व्यक्तियों के शब्द सुनाई दिये। सुमुख ने दुर्मुख से कहा—धन्य है ऐसे महायोगी को जो विशाल वैभव, साम्राज्य को त्याग कर कठोर साधना में तन्मय बने हुए हैं।

दुर्मुख को यह बात नहीं जँची, वह अपने नाम के अनुसार ही दुर्मति से सोचने लगा और बोला—सुमुख, तुम भोले हो, इस तथ्य को समझ नहीं पा रहे हो। यह महायोगी तो कायर है। इसने अपने अबोध बच्चे को ५०० मंत्रियों के हाथ में सौंप कर दीक्षा अंगीकार कर ली है। वे ५०० मंत्री गुप्त मंत्रणा करके इस निर्णय पर पहुँच गये हैं कि इस बच्चे को मारकर सारे राज्य को हथियालें। वे इस फिराक में हैं कि कब बच्चे को मारें और राज्य हड़पलें। इसलिए मेरा यह कहना है कि

यह योगी वन्दनीय कैसे हो सकता है ? जो अपने बच्चे की रक्षा नहीं कर सकता, वह अपनी क्या रक्षा करेगा ?

मन की तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया

सुमुख और दुर्मुख दोनों के शब्द योगी के कानों में पड़े। मन ने शब्दों पर क्रिया-प्रतिक्रिया करना प्रारम्भ कर दिया। सुमुख के शब्दों को श्रवण कर वह प्रफुल्लित हो उठा तो दुर्मुख के शब्दों को श्रवण करते ही तीव्र क्रिया-प्रतिक्रिया प्रारम्भ कर दी। अहो ! क्या ये मंत्री मेरे बच्चे को मारकर राज्य हड़प लेंगे, मेरे रहते ही। नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा, किसी भी हालत में मंत्रियों को हड़पने नहीं दूँगा। योगी भूल गये कि मैं तो "खंत्तो दंत्तो निरारंभो पवइसमण गारियं" शान्त, दान्त निरारंभी अणगार प्रवर्जित हो चुका हूँ। अब कौन मेरा है और मैं किसका हूँ। वे अपनी मूल स्मृति से विस्मृत हो गए। मन का वेग बड़ी तीव्रता के साथ प्रतिक्रिया करने लगा। मन के द्वारा ही कल्पित पांच सौ मंत्री सामने आ गये। मन से ही घमासान युद्ध प्रारम्भ हो गया। अचूक निशाने के साथ कल्पित धनुष से कल्पित तीर छूटने लगे। एक के बाद एक मंत्री तीरों से आहत होते हुए खत्म होने लगे। इस प्रकार एक नहीं, दो नहीं, ४६६ मंत्रियों को भूमिसात कर दिया गया। एक मंत्री अवशेष रह गया। इधर तरकस में तीर खत्म हो चुके थे। क्रोधवश मन तीव्रता के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया में लगा हुआ था। योगी रूप सम्राट् ने विचार किया— खैर तीर समाप्त हो गये तो कोई बात नहीं, मेरे मस्तिष्क पर मुकुट तो विद्यमान है। मैं मुकुट को भी उतार कर इस तरीके से फेंकूंगा कि यह भी खत्म हो जायेगा। मुझे एक भी शत्रु को अवशेष नहीं रखना है। कितना आवेश, कितना क्रोध और कितनी हिंसात्मक भावना चल रही थी, योगी के मन में। उन्हीं तीव्र भावनाओं के साथ उनका ऊपर उठा हाथ नीचे आने लगा। जब योगी के मन में इस प्रकार की तीव्रता चल रही थी, तब तुमने मुझे पूछा तो राजन् मैंने बतलाया—यदि उन योगी का उस समय आयुष्य बन्धन हो जाय तो सातवीं नरक में जाय।

कुछ ही क्षणों के बाद अर्थात् ज्यों ही उनका हाथ मस्तक पर गया और उनको भान हुआ—अहो, मैं तो साधु बन चुका हूँ। आगारी से अणगारी बन गया हूँ। भोग से योग की तरफ मुड़ चुका हूँ। अब मेरा है कौन ? पुत्र, राज्य, परिवार की बात तो दूर रही, यह शरीर भी मेरा

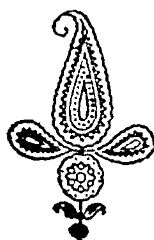
नहीं है। एक न एक दिन यह भी विलीन हो जायेगा। मैंने स्वत्व को भूल कर कैसा अकार्य कर डाला। अरे जहां साधक सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव की हिंसा नहीं करता, वायु काय के रक्षण के लिए मुख पर मुख वस्त्रिका धारण करता है। उसके हिंसा का त्रिकरण, त्रियोग से, त्याग होता है। वहां आज मैंने साधकावस्था में कितनी क्रूर मानसिक हिंसा कर डाली, अहो, मैं ऐसे पाप से अपनी आत्मा की "निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि" निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और ऐसे दुष्कृत्य को वोसिराता हूँ। इस प्रकार जब उनकी भावनाएँ, अध्यवसाय अशुभ से हट कर शुभ की ओर मुड़ने लगे, विचारों में तीव्रता के साथ समीक्षण होने लगा। जिस समीक्षणता में अशुभ विचार हटकर शुभ विचारों की प्रादुर्भूति उत्पत्ति होने लगी। तब जिन कर्मदलिकों का अशुभ रूप में संचय हो चुका था वे कर्मदलिक शुभ रूप में परिणित होने लगे। यह शुभ रूपता वृद्धिगत होती चली गई। जब उनके विचार शुभ रूप में गति कर रहे थे तब राजन् मैंने यह कहा था कि यदि इस समय वे आयुष्य बंधन करें तो उच्च देवलोक में जावें। किन्तु देवानुप्रिय! उनकी भावना शुभ, शुभतर, शुभतम होती चली गई। वे गुणस्थानों पर आरोहण करने लगे। क्रमशः सातवें, आठवें गुणस्थान में आकर क्षपक श्रेणि में प्रवेश कर गए। अन्तर्मुहूर्त में ही वे नव्वां, दसवां, बारहवां गुणस्थान पार करते हुए घनघाती कर्मों को क्षय करके केवल ज्ञान, केवल दर्शन पाकर, तेरहवें में प्रवेश कर चुके हैं। अन्तरंग के समीक्षण द्वारा जिन्होंने काषायिक क्रिया-प्रतिक्रिया को विनिष्ट कर आत्मा का सही रूप में संशोधन किया है। अर्थात् घनघाती कर्मों को विलग कर डाला और अन्त में मुक्ति को भी प्राप्त कर लिया।

सम्राट् की जिज्ञासा शांत हुई।

निज समीक्षण करें

बंधुओ! यह तो एक रूपक है, चाहे यह किसी भी रूप में हो। किन्तु इससे यह तथ्य उजागर होता है कि मन किस प्रकार से तीव्र वेग से क्रिया-प्रतिक्रिया करने लगता है। जब आत्मा के विचार अधोगामी बनते हैं, तो आत्मा कहां से कहां तक पहुंच जाती है। देखिये! उन योगी का जीवन कहां से कहां तक पहुँच गया। मालूम है आपको! क्या नाम था उनका? वे योगी थे, "प्रसन्नचन्द्र राजर्षि" और जब उनके

विचार ऊर्ध्वगामी बने और जीवन का सही समीक्षण होने लगा तो उनकी आत्मा स्वर्ग से हटकर अपवर्ग में जा पहुँची। कवि आनन्दघनजी ने यही कहा है—"निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम कहिये रे।" जो क्रिया निज स्वरूप को प्राप्त कराने वाली है अर्थात् जिस क्रिया के करने से निज स्वरूप में निखार आता है वह क्रिया अध्यात्म क्रिया है। मानसिक क्रिया के साथ वचन और काया का पुट भी रहता है। आप सभी के पास में मन, वचन और काय ये तीनों योग विद्यमान हैं। इनका किस रूप में प्रयोग करना यह आप ही के ऊपर निर्भर है। वीतराग वाणी तो आपको श्रेयस् पथ की ओर इंगित कर रही है। यदि निज स्वरूप को पाना है, दबी हुई आत्मिक शक्ति को विकसित करना है तो जिस प्रकार की क्रिया प्रभु श्रेयांस ने की थी, उसी प्रकार मन, वचन, काय योग की क्रिया को आत्म समीक्षण में नियोजित करें।



[१४]

निज स्वरूप क्या है ?

- जीव और पुद्गल
- स्वभाव पर विभाव का आधिपत्य
- लक्ष्य सम्यक् दृष्टि आत्मा का
- चित्त संभूति अनगार
- मुनि प्रवर का भव्य उपदेश
- अध्यात्म और अनाध्यात्म क्रिया के प्रतीक
- अध्यात्म क्रिया कौनसी ?
- अध्यात्म क्रिया से निज रूप की अभिव्यक्ति



"पुरिसा अत्ताण-मेव अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि"

—आचारांग ३/३

हे पुरुष तू अपने आप का निग्रहण कर, अपने आप के निग्रहण से ही समस्त दुक्खों से विमुक्ति हो पाएगी।

जब तक साधना में निज स्वरूप को जानने एवं अभिव्यक्त करने के लिए आत्मा की प्रवृत्ति नहीं होगी, तब तक आत्मा अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकती।

अध्यात्म की क्रिया वही है जिससे निज स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु जो क्रिया निज स्वरूप को अभिव्यक्त न कर संसार अभिवृद्धि कराने वाली हो, वह अध्यात्मिकी नहीं हो सकती।

क्रिया के दो रूपों से होने वाले परिणाम की अभिव्यक्ति चित्त-संभूति अनगार के घटना-क्रम से स्पष्ट हो जाती है।

———

निज स्वरूप जे क्रिया साधे, तें अध्यात्म लहिये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते अध्यातम कहिये रे।।

।। श्री श्रेयांस.........।।

बन्धुओ! निज स्वरूप क्या है? वास्तव में अपने आपका स्वरूप है क्या? जब तक उसका बोध नहीं होगा, तब तक निज स्वरूप की साधना नहीं की जा सकती। आज के युग में साधना के विभिन्न प्रकार चल रहे हैं। इसी युग में ही नहीं, प्रभु ऋषभ देव के समय में भी 363 मतों का विस्तार हो चुका था। ये विभिन्न मत अपने-अपने स्वरूप को जानने के लिए साधना करने लगे। लेकिन स्वरूप साधना की कौनसी क्रिया है, इस ज्ञान के अभाव में उनकी क्रिया मुक्ति के स्थान पर संसार को बढ़ाने वाली बन गई।

साधना कितनी ही बड़ी हो, किन्तु निज स्वरूप के विवेक के अभाव में सही लक्ष्य प्राप्त ही नहीं करा सकती। जिस यात्री को इसका भी ज्ञान नहीं है कि मुझे कहां जाना है, वह यात्री कितनी ही यात्रा कर ले, किन्तु सही स्थान पर नहीं पहुंच सकता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है—

मासे मासे उजो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजइ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स, कल्लं अग्घइसोलसिं।।

मास मास खमण की तपस्या करने वाला अज्ञानी साधक जिसे लक्ष्य का यथार्थ बोध नहीं है। वह पारणे के अन्दर भी, क्यों न कुश-डाभ के अग्र भाग पर आए, उतना ही आहार करता है। किन्तु उसका आचरण श्रुताख्यात धर्म की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।

कवि ने इसलिए कहा है कि निज-स्वरूप का ज्ञान करके जो क्रिया की जाती है, वह तो अध्यात्म को प्राप्त करने वाली होती है, किन्तु जो क्रिया निज स्वरूप बोध प्राप्त किए बिना अज्ञान दशा में की जाती है, वह क्रिया चारगति रूप संसार को बढ़ाने वाली होती है। ऐसी क्रिया अध्यात्म क्रिया नहीं कही जा सकती।

जीव और पुद्गल

यह ग्रात्मा ग्रनादिकाल से जड़ पुद्गलों से सम्वद्ध वनी हुई है। जन्म-जन्मान्तरों से कर्म पुद्गलों से जकड़ी हुई होने के कारण उसे निज स्वरूप का भान नहीं हो पा रहा है। निज स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिए यह सुन्दर अवसर प्राप्त हुग्रा है। मनुष्य जीवन में ही स्व का परिपूर्ण समीक्षण किया जा सकता है। चार गति में यही एक ऐसी गति है जिससे ग्रात्मा निज का समीक्षण करके लक्ष्य के चरम छोर पर जा सकती है। मनुष्य कितना ही वैभव पा जाय, संसार की समृद्धि भी प्राप्त कर ले, मानुषिक काम भोगों को भी विपुल मात्रा में प्राप्त कर ले, किन्तु उनसे उसे कभी भी आत्म समीक्षण नहीं होने वाला है। वर्तमान युग के अधिकांश मानव सांसारिक सुख-सम्पत्ति के पीछे स्व को भूलते जा रहे हैं। उनकी प्रत्येक गतिविधि भौतिक पुद्गलों को प्राप्त करने में ही लगी हुई है। लेकिन उन तत्त्वों से ग्राज तक सुख-शान्ति को प्राप्त नहीं कर पाये हैं। क्योंकि उन भौतिक तत्त्वों में वास्तविक सुख का अंश भी विद्यमान नहीं है। इतना होने पर भी मानव का भौतिक पुद्गलों की ग्रोर आकर्षित होने का यह कारण है कि जन्म-जन्मान्तर से उसकी ग्रात्मा उन्हीं पुद्गलों से सम्वद्ध रही है। जो व्यक्ति गन्दगी में रहने के ग्रभ्यासी हो जाते हैं, तो उन्हें कितना भी सुगन्ध में ले जाने का प्रयास किया जाय तथापि वे गन्दगी में जाना ही अधिक पसन्द करते हैं। वहुत दुर्लभ व्यक्ति होते हैं जो गन्दगी से हटकर सुगन्ध में ग्रा पाते हैं। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा भी अनादि काल से वैभाविक तत्त्वों की ग्रोर ग्रासक्त रही है। अतः ग्रव भी उसे वैभाविक तत्त्व ही ग्रच्छे लगते हैं। वह उन्हें पाने के लिए दौड़ती है। वहुत कम ग्रात्मायें ऐसी होती हैं, जो वैभाविक तत्त्वों से हटकर स्वाभाविक ग्रात्म-स्वरूप की ओर ग्राकर्षित वनती हैं।

स्वभाव पर विभाव का आधिपत्य

षट् द्रव्यात्मक लोक कहा गया है। षट् द्रव्य धर्मास्तिकाय, ग्रधर्मास्तिकाय, ग्राकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय। सम्पूर्ण लोक में इन षट् द्रव्यों का ग्रस्तित्व शाश्वत रूप से विद्यमान है। धर्मास्तिकाय, चलन क्रिया में, ग्रधर्मास्तिकाय स्थिर क्रिया

में, आकाशास्तिकाय, अवगाहन में सहयोगी बनते हैं। काल परिवर्तन में हेतु है। संसार में परिलक्षित विचित्रता में हेतु मुख्यतया पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय है। जीव और पुद्गल के संयोग से संसार में विविधता दिखलाई देती है। प्राणीवर्ग अनादि अनन्त काल से पुद्गलों से सम्पर्कित रहा है। आत्मा जब पुद्गलों के साथ अपना अभिन्न सम्बन्ध जोड़ लेती है, तब आत्मा मौलिक स्वरूप को भूल जाती है।

कोई भी पुद्गल कभी भी शाश्वत रूप से उसी रूप में नहीं रहते हैं। अर्थात् कोई भी कर्म हो, अपनी काल मर्यादा बीतने के बाद आत्मा से विलग हो जाता है। पुद्गलों का संयोग-वियोग बना ही रहता है। जब आत्मा अपने स्वभाव का समीक्षण कर सत्पुरुषार्थ की ओर गतिशील होती है, तब कर्मों का आत्मा से अपुनर्भाव के रूप में विलगीकरण हो सकता है।

श्रेयांस प्रभु ने स्व-भाव का समीक्षण कर लक्ष्य पर सतत प्रयाण किया था। परिणामतः उनकी आत्मा से वैभाविक तत्त्व हटते चले गए। स्व-स्वरूप निरन्तर निखरता चला गया। अनन्त प्रभु ने अपुनर्भाव से समस्त कर्मों का क्षपण कर मुक्तावस्था प्राप्त कर ली। आज जितनी भी आत्मायें संसार में परिभ्रमण कर रही हैं, उनका मूलतः हेतु वैभाविक तत्त्वों का आत्मा पर आधिपत्य है। जिसमें आत्मा की स्वाभाविक क्रिया गौण हो जाती है और वैभाविक क्रिया मुख्य बन जाती है।

लक्ष्य सम्यक्दृष्टि आत्मा का

जब से आत्मा सम्यक्दृष्टित्व अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब से उसका लक्ष्य निज-स्वरूप को साधने का बन जाता है। सम्यक्दृष्टि आत्मा जड़-चैतन्य के स्वरूप को समझने लगती है। पुद्गल मेरा साध्य नहीं है। आत्मा पुद्गलों से प्रतिबंधित है। मेरा लक्ष्य आत्मा को वैभाविक तत्त्वों से हटा कर शुद्ध स्वरूप में ले जाना है। इस प्रकार के आत्मिक बोध के साथ सम्यक्दृष्टि आत्मा विकास मार्ग पर बढ़ने लगती है। एक दृष्टि से विचार किया जाय तो सम्यक्त्व अवस्था आत्म विकास का प्रथम चरण है। जब तक लक्ष्यानुरूप गति नहीं होती, तब तक आत्मा अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं कर सकती। सम्यक् अवस्था निज

स्वरूप का विज्ञान कराने का प्राथमिक प्रयास है। सम्यक् बोध पा लेने पर आत्मा के विकास क्रम का सही लक्ष्य बन जाता है। सम्यक् दृष्टि आत्मा निश्चित रूप से एक न एक दिन मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेती है।

सम्यक्दृष्टि आत्मा के परिपूर्ण विकास क्रम में मानव देह बहुत सहायक बनता है, मानव तन में रह कर आत्मा परिपूर्ण विकास की दिशा में गतिशील बन सकती है। सिद्ध स्वरूप में रमण करने वाली आत्माओं ने सिद्धावस्था की प्राप्ति इस मानव तन से ही की थी, यह शाश्वत् सत्य है कि निज स्वरूप में परिपूर्ण निखार मानव तन से ही मिलता है।

प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को परिपूर्ण विकास की प्राथमिक भूमिका सम्यक्त्व की प्राप्ति होना आवश्यक है। मानव देह से जहां सम्यक्-दृष्टि आत्मा आत्मदीप जगा सकती है, तो उसी मानव देह से आत्मा पतन की ओर भी जा सकती है। भव्य आत्माओं को उन्नति का सम्यक् बोध प्राप्त कर प्रवृत्ति की दिशा में बढ़ना चाहिए।

चित्त-संभूति अनगार

निज-स्वरूप की साधना के लिए प्रस्थित हुए थे चित्त और संभूति। दोनों हरिजन पुत्र सहोदर भ्राता थे। नागरिक लोग हरिजनों को निम्नतल जाति का बतला कर उनकी निन्दा करते थे। चित्त-संभूति की गायन-कला बहुत ही सुमधुर थी। किन्तु जब भी वे गाने लगते, निम्न जाति का होने के कारण उनका अपमान कर दिया जाता था। इस प्रकार के अपमान के कड़ुवे घूंट को बार-बार पीने की स्थिति में वे नहीं थे, दोनों ने मिलकर विचार किया और वन अटवी की ओर प्रस्थान कर गए। भयानक अटवी में जाकर उन्होंने उत्तुङ्ग शिखर वाला एक पहाड़ देखा। अब तो भृगुपात पहाड़ से गिर कर प्राणाहरण करना ही उचित है। इन विचारों के साथ ज्यों ही वे पर्वत के शिखर पर पहुंचे तो वहां पर धवल वस्त्र से सुशोभित, कृश शरीर किन्तु दमकती हुई देह श्री से चमत्कृत ध्यानस्थ योगी के दर्शन कर दोनों को एक विलक्षण प्रकार की शान्ति का अनुभव हुआ। वन्दन करने के अनन्तर मुनि पुंगव के सुखद सान्निध्य में उपविष्ट हुए।

ध्यान को पूर्ण कर ज्यों ही साधक के नेत्रों का उन्मीलन हुआ तो सुदृढ़ देह वाले दो युवा पुरुषों को सामने (समक्ष) पाया। मुनिवर की करुणामय दृष्टि के वर्षण से दोनों की अन्तर्वेदना हिम की तरह पिघलती ही चली गई। अन्तर्वेदना की मूक अभिव्यक्ति ही मुनि प्रवर के लिए पर्याप्त होती है।

मुनि प्रवर का भव्य उपदेश

दोनों की अन्तर्वेदना को समझते हुए मुनिवर ने पतितपावन क्लेदोपहारक उद्बोधन दिया—

भव्य पुरुषों को दुःख विमुक्ति शांति की अवाप्ति कभी भी प्राणापहरण से नहीं मिलती। प्राणापहरण (आत्महत्या) वस्तुतः दुःख मुक्ति नहीं, अपितु दुःख की दीर्घ परम्परा को बढ़ाने वाला महाद्वार है। भद्रिक आत्मा थोड़े से घबरा कर अमूल्य जीवन को समाप्त करने के लिए तत्पर हो जाती है किन्तु वह यह नहीं समझ पाती कि इस कुकृत्य का कितना कटु परिणाम आने वाला है।

शास्त्रकारों ने आत्मघाती को महा पापी कहा है। जो व्यक्ति अपने ही ऊपर वार करना चाहता है उस व्यक्ति के कितने क्रूर परिणाम वनेंगे, जिसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।

जान बूझकर जब एक छोटे से जन्तु की भी हत्या करनी होती है, तव मन में कितने क्रूर परिणामों का संचय करना होता है। और पंचेन्द्रिय प्राणी उसमें भी मनुष्य की हत्या करने के लिए तो न मालूम कितने क्रूर परिणामों का संचय अपेक्षित होता है, इन सबसे भी बढ़कर जब अपना ही प्राणापहरण करने की स्थिति आती है, तब मन को इस भयंकर हिंसा करने के लिए कितना मजबूत करना होता है। ऐसी भयंकर हिंसा आत्मा को निश्चय ही पतन के अंधकूप में गिरा देती है।

सुज्ञ पुरुषो ! तुम दोनों तो बुद्धिमान हो, विद्या और कला में निष्णात हो, सर्वाङ्गों से परिपूर्ण हो, इतना सब कुछ होते हुए भी मात्र तथाकथित अछूत के अपमान का घूंट न पी सकने के कारण कितना वड़ा कुकृत्य करने के लिए तत्पर हो रहे हो, जो कतई योग्य नहीं है।

अब जागृत हो जाओ ! जिनवाणी का संबल पाकर आत्म सिद्धि के लिए तत्पर हो जाओ ! जिनेश्वरों का यह तुमुल उद्घोष है—

पुरिसा अत्ताण-मेव अभिनिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

हे पुरुष ! तू अपने आपका निग्रहण कर, अपने आपके निग्रहण से ही समस्त दुक्खों से मुक्ति हो पाएगी। आत्मत्व की दृष्टि से चराचर लोक की समस्त आत्मायें समान हैं। उनमें जाति-पांति का कोई भेद-भाव है ही नहीं। संसार की कोई भी आत्मा परम स्वरूप की प्राप्ति के लिए चरम पुरुपार्थ द्वारा अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

मुनि प्रवर की अमियवाणी में सरावोर होती हुई उनकी प्रसुप्त अन्तरात्मा जागृत हो उठी। सही पथ प्रदर्शन जो मिल गया था। जीवन्त साधना को अपनाने के लिए दोनों ने तत्क्षण संकल्प शक्ति की दृढ़ता के साथ जीवन का आमूलचूल परिवर्तन कर डाला। पतन से उन्नति की ओर बढ़ चले। आगारी से अणगारी बन गए। बाह्य संस्कार को त्याग कर अन्तरंग को संस्कारित करने में तन्मय हो गए।

अध्यात्म और अनाध्यात्म क्रिया के प्रतीक

साधना की श्रेणी पर आरोहण करने वाले दोनों युवा मुनि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के साथ तपाराधना में विशेषत: तल्लीन बने हुए थे। हस्तिनापुर में मासखमण के पारने के लिए भिक्षार्थ जाते समय संभूति अणगार को नमुचि मंत्री द्वारा दिए गए, त्रास से उनका प्रसुप्त क्रोध फुंफकार उठा। स्थान पर आकर तेजो-लेश्या के प्रभाव से हस्तिनापुर के आकाश को अंधकार एवं ज्वाला पटल से व्याप्त कर दिया।

इस भयानक स्थिति को उपशांत करने के लिए स्वयं चक्रवर्ती सनतकुमार अपनी पटरानी सुनन्दा के साथ संभूति अणगार के चरणों में उपस्थित हुए। प्रणति पूर्वक विनम्रता के साथ अविनय की क्षमा-याचना करने लगे। कहीं स्थलों पर ऐसा भी मिलता है कि सुनन्दा पटरानी ने भक्ति की अतिरेकता में मर्यादा को भूलकर संभूति अणगार के चरण स्पर्श कर लिए।

इस स्पर्श सुख के अनुभव ने संभूति अरणगार का साधना रूप समुद्र में चाँचल्य रूप उत्ताल तरंगें पैदा कर दीं। उनका जीवन जो निज स्वरूप की साधना की ओर अग्रसर था, वही बाह्याभिमुखी होने लगा। चित्त अनगार ने बहुत समझाया—निदान और बाह्यमुखी साधना के कटु परिणामों पर मार्मिक सन्देश दिया, किन्तु संभूति अनगार के संयम समुद्र में जो उत्तारय तरंगें उठ चुकी थीं वे शान्त नहीं हो पाईं। कहीं-कहीं घटनाक्रम इस प्रकार भी मिलता है कि चित्त अनगार संभूतिजी को समझा रहे थे कि शान्त हो जाओ ! देखो तुम्हारे से माफी मांगने के लिए स्वयं चक्रवर्ती एवं उनकी पटरानी आई हैं। तब संभूति ने सोचा कि देखूं तो सही चक्रवर्ती एवं उनकी पटरानी श्री देवी कैसी होती है। इसी दृष्टि से उन्होंने आँख खोली और पटरानी के रूप पर मोहित होकर निदान कर बैठे। खैर रूपक कैसा भी हो ! आखिर उन्होंने प्रतिज्ञा कर ही ली—"यदि इस तपस्या का यत्किंचित फल हो तो मैं आगामी भव में चक्रवर्ती बनूँ।"

बस फिर क्या था ? आध्यात्म का जीवन जो साधना को उन्नति की ओर बढ़ा रहा था, वही अब पतन को ओर बढ़ाने लगा। साधना आध्यात्मिकी न रहकर भौतिकी बन गई। यह निदान श्वेत पौष्टिक दुग्ध में फिटकरी का काम करने लगा। अन्ततः साधक जीवन पतन की ओर उन्मुख हुआ, क्यों न चक्रवर्ती पद की प्राप्ति कर ली जाय, किन्तु अन्ततः परिणाम भयानक ही निकला। इधर चित्त अरणगार ने अपने संयमी समुद्र को शान्त एवं प्रशान्त ही बनाए रखा। अन्ततः उन्हें आध्यात्म साधना का अमर फल प्राप्त हो ही गया।

अध्यात्म क्रिया कौनसी ?

कथा का कलेवर बहुत विशाल है—सज्जनो ! पर कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जब आत्मा निज स्वरूप की साधना के लिए प्रयत्नशील हो जाती है तब वह अध्यात्म भाव को प्राप्त कर लेती है। परम अध्यात्म की अभिव्यक्ति ही चरम सुख को प्राप्त कराने वाली होती है, किन्तु जब क्रिया की आराधना आत्माभिमुख न होकर बाह्याभिमुख होती है, तब वही साधना आत्मा को चार गति—चौरासी लाख जीव योनियों में इतस्ततः परिभ्रमण कराने वाली होतो है। ऐसी साधना को कभी भी अध्यात्म साधना नहीं कह सकते।

आज के कई साधक साधना के सच्चे स्वरूप को न समझ कर आराधना करने वाले अध्यात्म पथ से च्युत हो जाते हैं, वाह्य रूप से तो यही लगता है कि उनकी आत्मा अध्यात्म की साधना में प्रवृत्ति कर रही है. किन्तु यथार्थ में वह अध्यात्म साधना न होकर वाह्य-भौतिकी साधना होती है।

जिस साधक के मन के छोटे से कोने में भी यह भावना रही है कि मेरी साधना से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़े। मेरी यश कीर्ति का प्रसार हो, ऐसे साधक की साधना वाह्य रूप से कितनी कठोर एवं अध्यात्म प्रसाधिका हो, किन्तु यथार्थ में वह भौतिकी होती है। शास्त्रकारों ने यह स्पष्ट कहा है—

पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माण कामए।
वहुं पसवई पावं, मामा सल्लं च कुव्वइ॥

जो साधक पूजा प्रतिष्ठा के चक्कर में रहता है, मान और सम्मान की कामना जिसे घेरे हुई है, उसके लिए माया शल्य-वाह्य रूप से प्रतीयमान अध्यात्म साधना को करने वाला साधक वहुत से पाप कर्म का ही संचय करता है।

अध्यात्म क्रिया से निज रूप की अभिव्यक्ति

सुज्ञो ! अध्यात्म की साधना के लिए निश्चय ही सवसे पहले निज स्वरूप को साधने के लिए प्रवृत्ति करनी होगी।

कवि ने इसी वात को कविता के माध्यम से स्पष्ट किया है—

निज स्वरूप जे किरिया साधे,
ते अध्यात्म लहिये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे,
ते न अध्यात्म कहिये रे॥ श्री श्रेयांस जिन..........

श्रेयांस प्रभु की प्रार्थना भव्य आत्माओं को निज स्वरूप को साधने के लिए प्रेरित कर रही है, जितने भी तीर्थङ्कर भगवंत होते हैं,

वे सभी सर्व प्रथम निज-स्वरूप की समीक्षा करते हैं । निज-स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर ही देशना सुधा के माध्यम से अन्य प्राणियों को उद्‌बोधित करते हैं ।

अध्यातम साधना द्वारा, जिज्ञासु आत्माओं को निज-स्वरूप की जागृति कराने वाली क्रियाराधना को भी जानना होगा ।

आत्मा की परम सिद्धि को पाने के लिए जो भी साधक निज-स्वरूप की साधिका अध्यातम की क्रिया में शामिल होगा व समीक्षण दृष्टि अपनाएगा वह अवश्य ही अभीष्ट को प्राप्त करने में सफल हो सकेगा ।



[१५]

आत्मा से आत्मा का समीक्षण

- विश्व के छः प्रतिनिधि
- खिलौने आत्मा के
- संसारी आत्मा के विभाव परिणाम
- प्राणियों के विविध रूप
- अमूल्य क्षण मानव जीवन के
- शैवलाच्छदित मेंढ़क : कर्माच्छादित आत्मा
- सम्यक् दृष्टि का स्वरूप
- निज स्वरूप क्रिया साधे : चउगति साधे के प्रतीक
- संपेहए अप्पगमप्पएणं

———

संपेहए अप्पगमप्पएणं

—दशवैकालिक चूलिका २/२

आत्मा से आत्मा का संप्रेषण-समीक्षण करो ।

अनादिकाल से कर्माच्छादित यह आत्मा अपने द्वारा ही निर्मित विभाव रूपों के निमित्तों में विलस रही है ।

विश्व में विद्यमान षट् द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय गति-स्थिति रूप धर्म से रहते हैं । इसी तरह ही आकाश अवगाह रूप में, काल परिवर्तन रूप में, पुद्गल सड़न-गलन-विध्वंसक रूप निज अवस्था में रहे हुए हैं किन्तु इन पांचों द्रव्यों में चैतन्य देव की परिणतियां ही विशिष्ट स्पंदन पैदा करती हैं । जो कुछ संसार की विचित्रता दृश्यमान है उसमें चैतन्य ही मूलभूत कारण है । वह चैतन्य अनादिकाल से कर्माच्छादित अपने द्वारा ही निर्मित विभाव रूपों के निमित्तों में विलस रहा है । उसे स्वभाव में लाने के लिए ही शास्त्रकारों ने कहा है—

हे आत्मन् ! आत्मा से आत्मा का समीक्षण करो ।

……………

विश्व के छः प्रतिनिधि

श्री श्रेयांस जिन अन्तरजामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम पद पूरण पामी, सहज मुगतिगति गामी रे।।
निज स्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहिये रे।
जे किरिया करि चउगति साधे, ते न अध्यात्मक कहिये रे।।

बंधुओ ! प्रातःकाल का समय, प्राकृतिक दृष्टि से सुहावना समय है। जीवन में नई स्फूर्ति और नई प्रेरणा देने वाला है। मनुष्य का जीवन प्रकृति से बहुत प्रभावित है। और प्रकृति का प्रभाव हर प्राणी पर पड़ता ही है। संवेदनशील मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रकृति का अधिक असर तब होता है जबकि उसका चिन्तन अन्वेषणात्मक दृष्टि से, खोज की दृष्टि से रहस्य को पाने की कोशिश करता है।

इस नैचुरल नैसर्गिक रचना में जितने सदस्य रहे हुए हैं, उनमें एक ही सदस्य ऐसा है, कि जिसने अपने नैसर्गिक स्वभाव को छोड़कर, प्राकृतिक स्वभाव को छोड़कर पर पदार्थों को पाने की चेष्टा की है। उसका स्वभाव इतना जबरदस्त है कि पर्याय की दृष्टि से भले ही वह झुकता हो, परन्तु स्व-स्वरूप की दृष्टि से कभी नहीं झुकता है। इन छः खिलाड़ियों में मनुष्य रूप से वह द्रव्य प्रधान रूप से रहा हुआ है। प्रधान से तात्पर्य, सब से अधिक शक्ति सम्पन्न माना गया है। इसमें जो शक्ति है जो विवेक का दीपक है, जो क्षमता है, वह क्षमता अन्य सदस्यों में नहीं है। आप कभी कल्पना कर बैठेंगे कि महाराज ने सृष्टि के छः सदस्य बताए हैं। जैसे चैतन्य एक सदस्य है, वैसे ही अवशेष जो पांच हैं, वे भी जीव होंगे। क्योंकि आम जनता में सदस्यों की परिभाषा समान स्तर के आदमियों से ली जाती है। उसका मतलब है, दो हाथ, दो पैर, दो आंखें, नाक, कान वाले। किसी परिवार में दो सदस्य, तो किसी परिवार में छः सदस्य हैं। वैसे ही ये भी कोई छः सदस्य होंगे। लेकिन वैसी बात नहीं है। मैं जो अभी सदस्यों की बात कर रहा हूँ तो वे छः द्रव्यों से सम्बन्धित हैं धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय। वे एकाकाश में रहने की दृष्टि से एक परिवार के रूप में कहे जा सकते हैं। ये पांच द्रव्य की संज्ञा पाते हैं और जीव भी द्रव्य की संज्ञा पाता है। मैंने सदस्यों की दृष्टि से कहा है न कि जीव है इस दृष्टि से। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय भी एक स्वरूप से विद्यमान हैं।

आकाश भी इसी स्वरूप से विद्यमान है। इनके मूल में परिवर्तन नहीं होता। इनमें जो स्वभाव हैं वे तो रहेंगे ही। और पुद्गल द्रव्य भी इस संसार में सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। काल यह औपचारिक द्रव्य भी है और काल द्रव्य के रूप में भी माना गया है। इन पाचों के रूप में जो चैतन्य आत्मा है वही इन पुद्गलों को ऊँचा-नीचा करता रहता है। इन पदार्थों के साथ ज्यादा प्रीति आत्मा ही करता रहता है, क्योंकि खेलने का स्वभाव, रमण करने का स्वभाव आत्मा का ही है। वह अपने स्वरूप में रमण करना भूल जाता है तो वह पर पदार्थों में रमण करने लगता है।

खिलौने आत्मा के

बच्चा बचपन की अवस्था में खेलना पसंद करता है। वह खिलौनों से खेलता है, परन्तु बच्चे की वह खिलौने से खेलने की आदत, ज्ञान के अभाव में मनोविनोद की आदत है। जैसे बच्चे की आदत मिट्टी के खिलौने से खेलने की है, वैसे ही इस आत्मा की आदत भी बच्चे के तुल्य बनी हुई है। बच्चा वह रंग-विरंगे मिट्टी के बनाए हुए खिलौनों से खेलता है वैसे ही यह अपने हाथ के बनाये हुए खिलौनों से खेलता है। आप जरा गम्भीरता से चिन्तन कीजिये। बड़े-बड़े बंगले किसने बनाए ? फर्नीचर का सामान किसने सजवाया ? ताश, चौपड़ किसने बनवाए। ताश, चौपड़ स्वयं में तो नहीं समझते हैं कि हम ताश, चौपड़ हैं, परन्तु ताश, चौपड़ को बनाने वाली आत्मा है, और खेलने वाली भी आत्मा है, और उन्हीं से वह खेलती है, मनोविनोद करती है। सिनेमाघर (टॉकीज) किसने बनवाए, और फिल्म किसने बनाई ? वहीं इसमें आत्मा जाकर बैठती है, दूकान पर जाकर बैठती है, तो यह खिलौनों का व्यापार करती है। मिट्टी से आप सब तरह की मिट्टी ले सकते हैं, इसमें सख्त और कोमल भी है। सोना, चाँदी ये भी मिट्टी के सख्त रूप हैं। सोना, चाँदी गये तो नोट आए। ये भी तो उस तत्त्व के बने हुए हैं। अधिकांश तत्त्व इसी मिट्टी से बने हुए हैं।

संसारी आत्मा के विभाव परिणाम

जो दृश्य पदार्थ हैं—नजर आ रहे हैं वे भी अधिकांश रूप से मिट्टी पुद्गल से बने हैं और यह आत्मा उन्हीं खिलौनों से खेल रही है, और इनमें ही आनन्द मानती है। क्या कभी इन खिलौनों से विराम लेने की

मन में आती है ? कभी इन खिलौनों से खेलने की अनिच्छा भी होती है ? या वह दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती ही रहती है ? छोटे बच्चे तो इनको जल्दी छोड़कर दूसरी तरफ आ जाते हैं, परन्तु ये बड़े बड़े इनको बच्चे कहूँ या क्या ? जो इन पदार्थों में रमण करते हैं, अपने को भूल जाते हैं तो वे बच्चे ही हैं । उन्होंने अपने आपका ऐसा बना रखा है । इसी चार दिवारी में इनका घूमना होता है । इसी में आनन्द लेते हैं । रात और दिन मस्तिष्क में एक ही चक्कर घूमता रहता है । कैसे धन पैदा किया जाय ? यश कीर्ति पैदा की जाय, लेकिन वह यह नहीं सोच पाता कि ये सब वैभाविक परिणाम यथार्थ में शांति प्रदायक नहीं हैं ।

प्राणियों के विविध रूप

लेता है, तब विचार करिये कि वहां की इतनी लम्बी जिन्दगी महत्त्वपूर्ण है या मनुष्य की जिन्दगी का एक मिनिट महत्त्पूर्ण है ? एक मिनिट का मूल्य जितना मनुष्य जीवन में है, वह तेंतीस सागर का मूल्य नहीं है। उस देव भव में वह निज स्वरूप की परिपूर्ण साधना करने में समर्थ नहीं है। वहां जितनी पुण्यवानी है बस उसका उपयोग किया जाता है, यहां जो पुण्यार्जन किया है, उसका फल वहां भोग रहे हैं, परन्तु आत्म दर्शन करने का अवसर वहां नहीं मिलता है। और यहां मनुष्य जन्म में यदि साधना करें, मिट्टी के खिलौनों से ऊपर उठें और इनसे विराम लें तो बच्चा भी जब समझ जाता है तो उन खिलौनों को छोड़कर, दूसरे खिलौने पकड़ लेता है। वैसे ही मैं कहूं कि आप नैसर्गिक स्वभाव में आ जायें और कर्मों की दीवार को हटालें तो जो आनन्द आपको मिलेगा उसे आप तीन काल में भी नहीं भूल पायेगें, फिर ये संसार के खिलौने पसन्द नहीं आयेगें, परन्तु उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। प्रयत्न के बिना सहज साध्य नहीं है।

शैवालाच्छिदत मेंढ़क : कर्माच्छादित आत्मा

कभी कभी ज्ञानी जन इसको स्पष्ट करने के लिये रूपक भी देते हैं कि एक बावड़ी पानी से लबालब भरी हुई थी। जब पानी काम में नहीं आता तो उस पर कांजी, शैवाल का इतना स्तर जम जाता है, कि पानी नहीं दिखता है। उसी बावड़ी में कछुआ और उसके परिवार के सदस्य रहते थे। संयोगवश ऐसी आंधी चली कि थोड़ी शैवाल हट गई, और वहां पर एक कछुआ बैठा हुआ था, उसकी दृष्टि आकाश की तरफ गई कि अजीब है। यह क्या ? पूर्णिमा की चांदनी छिटक रही है। चांद प्रकाश दे रहा था, और तारे टिमटिमा रहे थे। विशाल आकाश को देखकर उसे आश्चर्य हुआ, और सोचा कि मैं ऐसा दृश्य परिवार वालों को दिखलादूँ, वह बुलाने के लिए गया—परिवार के सदस्यों को, और इधर संयोगवश दूसरा आंधी का झोंका आया और शैवाल से छिद्र पुनः भर गया। कछुआ लाया परिवार के सस्दयों को, लेकिन वह आकाश नहीं दिखा सका। तब दूसरे ने कहा—कि इस काई और बावड़ी से बढ़कर दुनिया में कुछ नहीं है। वह कहता है कि मैंने अभी अभी इतना बड़ा आकाश देखा, चन्द्रमा देखा एवं चन्द्रमा की चांदनी देखी, तारे देखे जिसका वर्णन नहीं कर सकता हूँ। तो वे सब कहने लगे कि बताओ ! वह हैरान है, परन्तु वह

उस दृश्य को भूल नहीं सकता है। वैसे ही इस मनुष्य जन्म में रहने वाली आत्मा पर पदार्थों से वास्ता रखे हुए है और अपने निज स्वरूप को नहीं पहचान पा रही है। कारण आत्मा के ऊपर मोह कर्म की शैवाल छाई हुई है यह ऐसी आत्मा पर छाई हुई है कि छिद्र नहीं मिलता है। कभी कभी उपदेश सुनते हैं, धर्म करनी करते हैं, नियमित रूप से चिन्तन मनन करते हैं। ध्यान और स्वाध्याय करते हैं तो उन बादलों की तरह मोह कर्म का कुछ छिद्र हट जाय, तो जो उसको आनन्द प्राप्त होगा वह नहीं भूला जा सकता है। वह भले ही खुले मन से व्यापार करेगा परन्तु उसमें रमेगा नहीं।

सम्यक्दृष्टि का स्वरूप

सम्यक्दृष्टि के लिए आया कि—

सम्यक्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
सब जग से न्यारा रहे, ज्यूं धाय खिलाए बाल।।

जो सम्यक्दृष्टि बन जाता है, वह सांसारिक कार्यों में तटस्थ बन जाता है। उसमें रचता, पचता नहीं है। पहले के श्रावक आनन्द कामदेव जैसे, जो कि अपनी सही स्थिति से चले, और उन्होंने शुभ पुरुषार्थ किया। जिनवाणी में रमण करते हुए, समय आने पर अपने पुत्र को घर-बार सम्भलवाकर धर्म-ध्यान में लग गए थे। तो मनुष्य का एक मिनिट तो बहुत होता है, चौदहवें गुणस्थान का स्थान मनुष्य ही ले सकता है। सर्वार्थ सिद्ध विमान में रहने वाले देवता नहीं ले सकते हैं। जहाँ पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान तो न्यूनाधिक रूप से चारों गति में पायेंगे। बल्कि चारों पायेंगे, परन्तु छठा गुणस्थान और इससे आगे के सातवें, आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान तो मनुष्य में ही पायेंगे। छठे से मुनि का जीवन है व आनन्द इसमें ही अधिक मिलता है, किन्तु जब कर्मों की भारी शैवाल आ जाती है, मोह का पर्दा छा जाता है, तो कितना ही उपदेश दिया जाय, समझ नहीं आ पाता है।

निज स्वरूप किरिया साधे, चउगति साधे के प्रतीक

धर्मी मुनिवर आपके समक्ष चित्त और संभूति का संवाद सुना

लेता है, तब विचार करिये कि वहां की इतनी लम्बी जिन्दगी महत्त्वपूर्ण है या मनुष्य की जिन्दगी का एक मिनिट महत्त्पूर्ण है ? एक मिनिट का मूल्य जितना मनुष्य जीवन में है, वह तेंतीस सागर का मूल्य नहीं है। उस देव भव में वह निज स्वरूप की परिपूर्ण साधना करने में समर्थ नहीं है। वहां जितनी पुण्यवानी है बस उसका उपयोग किया जाता है, यहां जो पुण्यार्जन किया है, उसका फल वहां भोग रहे हैं, परन्तु आत्म दर्शन करने का अवसर वहां नहीं मिलता है। और यहां मनुष्य जन्म में यदि साधना करें, मिट्टी के खिलौनों से ऊपर उठें और इनसे विराम लें तो बच्चा भी जब समझ जाता है तो उन खिलौनों को छोड़कर, दूसरे खिलौने पकड़ लेता है। वैसे ही मैं कहूं कि आप नैसर्गिक स्वभाव में आ जायें और कर्मों की दीवार को हटालें तो जो आनन्द आपको मिलेगा उसे आप तीन काल में भी नहीं भूल पायेगें, फिर ये संसार के खिलौने पसन्द नहीं आयेगें, परन्तु उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। प्रयत्न के बिना सहज साध्य नहीं है।

शैवालाच्छिदत मेंढ़क : कर्माच्छादित आत्मा

कभी कभी ज्ञानी जन इसको स्पष्ट करने के लिये रूपक भी देते हैं कि एक बावड़ी पानी से लबालब भरी हुई थी। जब पानी काम में नहीं आता तो उस पर कांजी, शैवाल का इतना स्तर जम जाता है, कि पानी नहीं दिखता है। उसी बावड़ी में कछुआ और उसके परिवार के सदस्य रहते थे। संयोगवश ऐसी आंधी चली कि थोड़ी शैवाल हट गई, और वहां पर एक कछुआ बैठा हुआ था, उसकी दृष्टि आकाश की तरफ गई कि अजीब है। यह क्या ? पूर्णिमा की चांदनी छिटक रही है। चांद प्रकाश दे रहा था, और तारे टिमटिमा रहे थे। विशाल आकाश को देखकर उसे आश्चर्य हुआ, और सोचा कि मैं ऐसा दृश्य परिवार वालों को दिखलादूं, वह बुलाने के लिए गया—परिवार के सदस्यों को, और इधर संयोगवश दूसरा आंधी का झोंका आया और शैवाल से छिद्र पुनः भर गया। कछुआ लाया परिवार के सस्दयों को, लेकिन वह आकाश नहीं दिखा सका। तब दूसरे ने कहा—कि इस काई और बावड़ी से बढ़कर दुनिया में कुछ नहीं है। वह कहता है कि मैंने अभी अभी इतना बड़ा आकाश देखा, चन्द्रमा देखा एवं चन्द्रमा की चांदनी देखी, तारे देखे जिसका वर्णन नहीं कर सकता हूँ। तो वे सब कहने लगे कि बताओ ! वह हैरान है, परन्तु वह

इन दृश्य को भूल नहीं सकता है। वैसे ही इस मनुष्य जन्म में रहने वाली आत्मा पर पदार्थों से वास्ता रखे हुए है और अपने निज स्वरूप को नहीं पहचान पा रही है। कारण आत्मा के ऊपर मोह कर्म की शैवाल छाई हुई है यह ऐसी आत्मा पर छाई हुई है कि छिद्र नहीं मिलता है। कभी कभी उपदेश सुनते हैं, धर्म करनी करते हैं, नियमित रूप से चिन्तन मनन करते हैं। ध्यान और स्वाध्याय करते हैं तो उन बादलों की तरह मोह कर्म का कुछ छिद्र हट जाय, तो जो उसको आनन्द प्राप्त होगा वह नहीं भूला जा सकता है। वह भले ही खुले मन से व्यापार करेगा परन्तु उसमें रमेगा नहीं।

सम्यक्दृष्टि का स्वरूप

सम्यक्दृष्टि के लिए आया कि—

सम्यक्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
सब जग से न्यारा रहे, ज्यूं धाय खिलाए बाल।।

जो सम्यक्दृष्टि बन जाता है, वह सांसारिक कार्यों में तटस्थ बन जाता है। उसमें रचता, पचता नहीं है। पहले के श्रावक आनन्द कामदेव जैसे, जो कि अपनी सही स्थिति से चले, और उन्होंने शुभ पुरुषार्थ किया। जिनवाणी में रमण करते हुए, समय आने पर अपने पुत्र को घर-बार सम्भलवाकर धर्म-ध्यान में लग गए थे। तो मनुष्य का एक मिनिट तो बहुत होता है, चौदहवें गुणस्थान का स्थान मनुष्य ही ले सकता है। सर्वार्थ सिद्ध विमान में रहने वाले देवता नहीं ले सकते हैं। जहाँ पहला, दूसरा और चौथा गुणस्थान तो न्यूनाधिक रूप से चारों गति में पायेंगे। बल्कि चारों पायेंगे, परन्तु छठा गुणस्थान और इससे आगे के सातवें, आठवें, नवमें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान तो मनुष्य में ही पायेंगे। छठे से मुनि का जीवन है व आनन्द इसमें ही अधिक मिलता है, किन्तु जब कर्मों की भारी शैवाल आ जाती है, मोह का पर्दा छा जाता है, तो कितना ही उपदेश दिया जाय, समझ नहीं आ पाता है।

निज स्वरूप किरिया साधे, चउगति साधे के प्रतीक

अभी मुनिवर आपके समक्ष चित्त और संभूति का संवाद सुना

रहे थे। वहां देखिये ! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्पत्ति में सराबोर होकर आया और कहता है कि क्या भाई ! धर्म करने का फल तुम्हें नहीं मिला है ? अब क्या समझाए चित्तजी मुनि, मोह का गहरा पर्दा पड़ा हुआ है, मोह में छाया हुआ है, उसको क्या समझाए ? भाई समझाता है कि भाई समझ। जो धर्म करनी का फल वास्तविक मिला है, वह मुझको मिला है। अपन जो तप, संयम की साधना कर रहे थे, वह आध्यात्मिक क्रिया जो आत्मा साधना के लिये होनी चाहिये, तुम्हारी वह साधना धूमिल हुई और वह साधना भौतिक पदार्थों के लिये हुई। अर्थात् नियाणा किया उस समय तुम्हारी आत्मा ने आत्म साधना करते-करते संसार की साधना कर ली। अधिकाँश तथाकथित साधक भी ऐसी ही क्रिया करने वाले पाये जायेंगे। आध्यात्मिक साधना करने वाले बिरले ही पाये जायेंगे। आप संसार की दृष्टि से गिनती करेंगे तो सही करणी करने वाले, आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं। बंधुओ मैं क्या समझाऊँ ? यह क्षण समझने की क्षमता का है जो क्रिया अपने निज स्वरूप को साधने के लिये है, क्योंकि मनुष्य तन में ही अध्यात्म का परिपूर्ण रूप पाया जाता है। चन्द्र से अधिक शांत और सूर्य से अधिक प्रकाश मनुष्य जीवन में ही पाया जाता है, उसको पाने के लिये चौबीस घण्टों में से कुछ समय तो निकालिये और समीक्षण साधना में रत हो जाइये, और देखिये तो सही कि कैसा आनन्द मिलता है। आप हाड़-मांस के पुतले तक सीमित मत रहिये। ये सारे क्षणिक (टेम्परेरी) आनन्द हैं। आप इनसे ऊपर उठकर बाजी तो लगाइये। यह बाजी स्वर्ग से बढ़कर है। वह एक तरफ है और यह एक तरफ है। यह सम्पत्ति तो अनेक बार पाई है। चित्तजी यही कह रहे हैं कि मुझे साधना का फल मिला है, तभी मैं अध्यात्म रास्ते पर चला हूँ। तुमको नहीं मिला है क्योंकि तुमने निज स्वरूप को साधने में नहीं लगाया, और बाहरी भौतिक पदार्थों को प्राप्त करने में तप, संयम लगाया। तभी चक्रवर्ती तो बन गये, और सोच रहे हो कि मुझे तप, सयंम का फल मिला है। यह तो कचरा है, अन्न खेत में पैदा करते हैं तो भूसा तो अपने आप पैदा हो जाता है। चक्रवर्ती का पद भी एक दृष्टि से भूसे की उपलब्धि के समान है। यह सम्पत्ति और वैभव और चक्रवर्ती पद सब नाशवान है, अस्थिर है। यह जवानी भी चली जाने वाली है। आप जब तक जवान हैं तब तक ही इसको निज स्वरूप को पहिचानने में क्रिया कर सकते हो, इसको इधर और उधर भी लगा सकते हो। जब मनुष्य की शक्ति ढीली पड़ जायेगी, तब क्या कर सकोगे ? चित्तजी समझा रहे हैं, चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त सोच रहे हैं कि सयंम का फल

मुझे मिला है। यह छोटे बच्चों के खिलौने की तरह ही बात रही। वास्तविक ऋद्धि नहीं मिली। मुझे भी खिलौना मिला, कचरा मिला। परन्तु अब तो मैं कुछ कर नहीं सकता। निदान के बन्धन में बंध गया हूँ। स्व-स्वरूप की साधना मुझ में सध नहीं सकती।

सज्जनो ! आप भी जो तप, संयम की आराधना करते हैं वह केवल मुक्त स्वरूप की उपासना के लिये ही होनी चाहिये। यदि किसी फल की आकांक्षा से तप, संयम की आराधना की तो कभी अभीष्ट साध्य प्राप्त नहीं कर सकोगे।

संपेहए अप्पगमप्पएणं

आत्मा से आत्मा का सम्प्रेपण-समीक्षण करो।

अनादिकाल से कर्माच्छादित यह आत्मा अपने द्वारा ही निर्मित विभाव रूपों के निमित्तों में स्वभाव भी बनकर विलख रही है। इन विभाव के निमित्तों ने आत्मा को अत्यधिक प्रभावित कर रखा है। दूसरे शब्दों में कहें—तो आत्मा स्वयं के वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर पर पदार्थों से स्वयं ही प्रभावित हो रही है, और पर पदार्थों को आसक्ति भावपूर्वक अधिक से अधिक ग्रहण करने में प्रसन्नता का अनुभव कर रही है। अज्ञ बालक भी तो ऐसा ही करता है। रंग-विरंगे खिलौनों को संगृहीत कर आनन्द का अनुभव करता है। उसको यह ज्ञान नहीं होता कि सुज्ञ पुरुष मुझे क्या कहेंगे। वैसे ही संसारी चैतन्य देव इन पर पदार्थों को आत्मीय भाव से ग्रहण करता हुआ, उनमें रमण करता है। पर यह चिन्तन नहीं करता कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंत मुझे किस रूप में अवलोकित कर रहे हैं। मेरा स्वरूप तो उनके समकक्ष है। पर उसको मैं स्वयं ही देख नहीं पा रहा हूँ। इसीलिए शास्त्रकारों ने भव्यजनों को सम्बोधित करते हुए अमूल्य उपदेश के रूप में कहा है कि—

"संपेहए अप्पगमप्पएणं"

हे चैतन्य देव ! अपने आप से ही अपने आपको संपेहए अर्थात् सम्यक् प्रकार से देख। याने स्वयं का स्वयं से समीक्षण कर। जिससे तुझे स्वयं की विभाव परिणति एवं स्वभाव परिणति का विज्ञान होगा और स्वयं विभाव के पर निमित्तों में रमण की वृत्ति से आश्चर्य होगा। मैं

दुनिया की दृष्टि में इतना बड़ा कहलाने वाला अज्ञ बालक की तरह स्वयं की शक्ति का कैसा दुरुपयोग कर रहा हूं। यह कैसी विचित्र अनादिकाल की विडम्बना है कि स्वयं के भावों को ही पर पदार्थों में आरोपित कर उन पर पदार्थों को आसक्ति पूर्वक स्वकीय समझने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ। ऐसा विज्ञान तथा वैभाविक वृत्तियों से विलणीकरण तभी बन पाएगा जबकि वह स्वयं से स्वयं का समीक्षण करना सीख जाएगा।



[१६]

मूल्यांकन : मानव जीवन का

- जल और जीवन
- तू ही तुम्हारा हिंसक
- समझिये स्व-पर जीवन को
- श्रेयांसि वहु विघ्नानि
- महाप्रयाण गणेशाचार्य का
- सच्ची धर्म सहायिका : मदन रेखा

———

तुमं सि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि ।

—आचारांग सूत्र १/२/५

जिसे तू हनन योग्य मानता है वह तू ही है ।
जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है ।
जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है ।
जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है ।
जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

मनुष्य प्रमाद के वशीभूत होकर जिन प्राणियों का उपमर्दन करता है, हिंसा करता है वहां उन प्राणियों की तो हिंसा होती ही है साथ ही स्वयं की भी हिंसा होती है ।

जल और जीवन

बन्धुओ ! यह जीवन किस प्रकार आता है और किस प्रकार से चला जाता है । परन्तु संसार की गति नदी के प्रवाह की तरह चलती रहती है । प्रवाह को कोई पकड़ नहीं सकता । जो पानी आया वह बह जाता है । वैसे ही मनुष्य जीवन की सरिता आती है और चली जाती है । जो प्रवाह रूप में बह जाता है उसका कोई विशेष मूल्यांकन नहीं होता । जो नदी में पानी बह रहा है उसका भी कोई विशेष मूल्य नहीं । मनुष्य भी साधारण मनुष्यों की तरह जन्मा और चला गया तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता । परन्तु महत्त्व उसका रहता है कि जिसने अपने जीवन को कुछ विशेष मार्ग पर आरूढ़ किया है। नदी के पानी की विशेषता भी तभी बढ़ती है कि जब नदी का पानी जन सेवा में काम में आने वाली अवस्था को प्राप्त करे । वह कभी किसी पौधे के प्राणों की रक्षा करता है । सूखते हुए वनस्पति के जीवों को वह संरक्षण देता है । उसकी प्यास को शान्त करके जीवन दान देता है । उस वक्त उस पानी की विशेष कीमत हो जाती है, महत्त्व बढ़ जाता है । पानी की एक बूंद की भी कीमत है, बहुत बड़ी कीमत है। प्रायः मनुष्य जैसे पानी की कीमत नहीं समझते, वैसे ही मनुष्य जीवन की कीमत भी नहीं समझते । पानी को वे बेकद्री से इधर-उधर फेंक देते हैं, अनर्थ दण्ड का सेवन करते हैं । टूंटी के नीचे बैठकर न मालूम कितने पानी को विनष्ट कर डालते हैं । नदी और तालाब में कूदकर जलीय जानवरों को नष्ट करते हैं और जल के आपेक्षिक सूक्ष्म जीवों का भी संहार करते हैं क्योंकि उन्होंने न पानी की और न जीवों की कद्र की । यदि वे थोड़ी भी पानी की कद्र करते और पानी के जीवों के प्रति हमदर्दी रखते तो पानी का दुरुपयोग नहीं करते । उन्होंने पानी का ही दुरुपयोग नहीं किया परन्तु स्वयं के जीवन को भी व्यर्थ में बर्बादी की । पानी के जीवों की हिंसा नहीं की, अपने आपकी हिंसा की ।

तू ही तुम्हारा हिसफ

भगवान वाणी पर गहराई से चिन्तन करेंगे तो ज्ञात होगा कि भगवान महावीर का स्पष्ट संकेत है—

तुमं सि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि ।

प्रभु ने इन अल्प शब्दावली रूप सूत्रों में गहन-गम्भीर अर्थ भर रखा है । जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

"जिसको तू मार रहा है, वह तू ही है ।" वीतराग देव ने कितनी गहरी बात कही है । इस पर हम चिन्तन करें तो मनुष्य लापरवाह होकर, प्रमाद के वशीभूत होकर जिन प्राणियों का उपमर्दन करता है, हिंसा करता है वहां उन प्राणियों की हिंसा तो होती ही है परन्तु साथ में स्वयं की भी हिंसा होती है । आप कहेंगे कि महाराज स्वयं की हिंसा कैसे ? स्वयं की हिंसा कई तरह से होती है । प्राणों को नाश करना इतनी ही हिंसा नहीं है । ऐसे तो हिंसा की परिभाषा उमास्वाति ने की है कि—

"प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा ।"

प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है । प्राण दो तरह के हैं । दस प्रकार के प्राण तो द्रव्य प्राण हैं—

- श्रोतेन्द्रिय बल प्राण :—जिससे हम शब्द सुनते हैं ।
- चक्षुइन्द्रिय बल प्राण :—जिससे रूप देखते हैं ।
- घ्राणेन्द्रिय बल प्राण :—जो सुगन्ध और दुर्गन्ध की पहचान कराता है ।
- रसनेन्द्रिय बल प्राण :—जो स्वाद का – खट्टे मीठे आदि का अनुभव कराता है ।
- स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण :—जो ठण्डा, गर्म आदि स्पर्श का अनुभव कराता है ।

- मन बल प्राण :–जिससे चिन्तन करते हैं।
- वचन बल प्राण :—जिससे हम बोलते हैं।
- काय बल प्राण :—चमड़ी के नीचे का भाग जिससे त्वचा में स्पर्शादि का अनुभव करते हैं।

श्वासोच्छ्वास बल प्राण और आयुष्य बल प्राण, ये दस प्राण हैं, जिसने दसों प्राण धारण कर रखे हैं उसकी हिंसा करना। और भाव प्राण है ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि। द्रव्य प्राणों की हिंसा करने वाले को तो आप देखते हैं कि यह हिंसा है। किसी की जबान को काट दें, नाक काट दें, प्राणों का अन्त कर दिया उसको तो पाप मानते हैं परन्तु भाव प्राणों का नाश किया–वह पाप है या नहीं ? कभी प्राणी दूसरे प्राणी को मारता है तो वह दूसरे को मार रहा है परन्तु उसके साथ स्वयं के भाव प्राणों को भी खत्म कर रहा है। जब कर्म बन्धन हो रहा है तो वे ज्ञान, दर्शन की शक्ति को दबाते हैं। वे संसार में रुलने का काम करते है। इस प्रकार हिंसक अपने भाव प्राणों को भी नष्ट करते हैं। ऐसे व्यक्ति मनुष्य योनि को हार कर पशु योनि, नरक योनि में चले जाते है।

समझिये स्व – पर जीवन को

प्रभु ने कहा वह तहमेव सत्य है। जब कोई मारता है तो दूसरे को मारने के लिए क्रूर भावना तो मन में आती है। मन में इस क्रूर भावना का पॉयजन—जहर आता है वह स्वयं के लिए भी घातक बनता है। जो व्यक्ति दूसरे को मारने के लिए तैयार हो जाता तो स्वयं को मारने में भी देरी नहीं करेगा। ऐसे मनुष्य ने न स्वयं की और न अन्य के प्राणों की कद्र की। देखिए ! एक बूंद पानी में असंख्य जीव हैं इसका ख्याल नहीं करता है। संरक्षण नहीं करता है, वह ऐसे ही बहता हुआ चला जाता है।

कल्पना कीजिये ! मनुष्य प्यासा है और वहीं पानी उसे मिल जाता है तो प्राण सुरक्षित हो जाते हैं और वह पानी महत्वपूर्ण हो जाता है। उसी पानी का मूल्यांकन है और उसका महत्व बढ़ जाता है। इसीलिए पानी की कभी-कभी कुछ परिस्थिति इधर-उधर होती है तो

तुमं सि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परितावेयव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं परिघेतव्वं ति मन्नसि ।
तुमं सि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि ।

प्रभु ने इन अल्प शब्दावली रूप सूत्रों में गहन-गम्भीर अर्थ भर रखा है । जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

"जिसको तू मार रहा है, वह तू ही है ।" वीतराग देव ने कितनी गहरी बात कही है । इस पर हम चिन्तन करें तो मनुष्य लापरवाह होकर, प्रमाद के वशीभूत होकर जिन प्राणियों का उपमर्दन करता है, हिंसा करता है वहां उन प्राणियों की हिंसा तो होती ही है परन्तु साथ में स्वयं की भी हिंसा होती है । आप कहेंगे कि महाराज स्वयं को हिंसा कैसे ? स्वयं की हिंसा कई तरह से होती है । प्राणों को नाश करना इतनी ही हिंसा नहीं है । ऐसे तो हिंसा की परिभाषा उमास्वाति ने की है कि—

"प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा ।"

प्रमाद के योग से प्राणियों के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है । प्राण दो तरह के हैं । दस प्रकार के प्राण तो द्रव्य प्राण हैं—

- श्रोतेन्द्रिय बल प्राण :—जिससे हम शब्द सुनते हैं ।
- चक्षुइन्द्रिय बल प्राण :—जिससे रूप देखते हैं ।
- घ्राणेन्द्रिय बल प्राण :—जो सुगन्ध और दुर्गन्ध की पहचान कराता है ।
- रसनेन्द्रिय बल प्राण :—जो स्वाद का – खट्टे मीठे आदि का अनुभव कराता है ।
- स्पर्शेन्द्रिय बल प्राण :—जो ठण्डा, गर्म आदि स्पर्श का अनुभव कराता है ।

- मन बल प्राण :—जिससे चिन्तन करते हैं।
- वचन बल प्राण :—जिससे हम बोलते हैं।
- काय बल प्राण :—चमड़ी के नीचे का भाग जिससे त्वचा से स्पर्शादि का अनुभव करते हैं।

श्वासोच्छ्वास बल प्राण और आयुष्य बल प्राण, ये दस प्राण हैं, जिसने दसों प्राण धारण कर रखे हैं उसकी हिंसा करना। और भाव प्राण हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि। द्रव्य प्राणों की हिंसा करने वाले को तो आप देखते हैं कि यह हिंसा है। किसी की जबान को काट दें, नाक काट दें, प्राणों का अन्त कर दिया उसको तो पाप मानते हैं परन्तु भाव प्राणों को नाश किया—वह पाप है या नहीं ? कभी प्राणी दूसरे प्राणी को मारता है तो वह दूसरे को मार रहा है परन्तु उसके साथ स्वयं के भाव प्राणों को भी खत्म कर रहा है। जब कर्म बन्धन हो रहा है तो वे ज्ञान, दर्शन की शक्ति को दबाते हैं। वे संसार में रुलने का काम करते हैं। इस प्रकार हिंसक अपने भाव प्राणों को भी नष्ट करते हैं। ऐसे व्यक्ति मनुष्य योनि को हार कर पशु योनि, नरक योनि में चले जाते हैं।

समझिये स्व – पर जीवन को

प्रभु ने कहा वह तहमेव सत्य है। जब कोई मारता है तो दूसरे को मारने के लिऐ क्रूर भावना तो मन में आती है। मन में इस क्रूर भावना का पॉयजन—जहर आता है वह स्वयं के लिए भी घातक बनता है। जो व्यक्ति दूसरे को मारने के लिए तैयार हो जाता तो स्वयं को मारने में भी देरी नहीं करेगा। ऐसे मनुष्य ने न स्वयं की और न अन्य के प्राणों की कद्र की। देखिए ! एक बूंद पानी में असंख्य जीव हैं इसका ख्याल नहीं करता है। संरक्षण नहीं करता है, वह ऐसे ही बहता हुआ चला जाता है।

कल्पना कीजिये ! मनुष्य प्यासा है और वही पानी उसे मिल जाता है तो प्राण सुरक्षित हो जाते हैं और वह पानी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। उसी पानी का मूल्यांकन है और उसका महत्त्व बढ़ जाता है। इसीलिए पानी की कभी-कभी कुछ परिस्थिति इधर-उधर होती है तो

पानी पर भी कन्ट्रोल लगाया जाता है। नल भी समय पर आता है। फिर भी मनुष्य कद्र नहीं करता है जबकि उसकी सुरक्षा करनी चाहिये। मनुष्य अपने आप पर कन्ट्रोल नहीं करता है तो उसकी दुर्दशा होती है। यदि मनुष्य अपने जीवन को दूसरों के कल्याण में लगाता है, दूसरों के उपकार में लगाता है तो उस व्यक्ति का जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है। पुरुष शक्तिशाली बनता है तो वह अपनी और दूसरों की भी रक्षा करता है। मनुष्य जीवन का जो नदी के प्रवाह से भी अधिक मूल्यांकन करता है, वह मनुष्य विशेष वन्दनीय और पूज्यनीय बनता है और दुनिया की निगाह में चमक जाता है।

श्रेयांसि बहु विघ्नानि

श्रेयस् कार्य में विघ्न बहुत आते हैं। बुरे कार्य में विघ्न नहीं आते हैं। अच्छा कार्य करने को जायेंगे तो अनेक विघ्न आकर खड़े हो जायेंगे। यदि कोई बहिन दीक्षा लेने को तैयार होती है तो जो सम्बन्धी नहीं हैं वे भी सम्बन्धी बनकर खड़े हो जायेंगे और रोकने की चेष्टा करेंगे। क्योंकि वे स्वयं संयमी जीवन का महत्त्व नहीं समझते हैं। दूसरे को भी नहीं समझा सकते हैं। इसलिये बाधक बनकर उसको संसार में भटकाने वाले बनते हैं तो वह उस बहिन की घात करता है सो तो करता ही है परन्तु स्वयं को घात भी करता है। आप कहेंगे संसार में रोकने से क्या घात है ? तो उसकी रोकने वाले की भावना है कि यह संसार के विषयों का सेवन करे, पांच इन्द्रियों का सेवन करे, अब्रह्मचर्य में रहे तो इससे दसों प्राण और भाव प्राण भी नष्ट होते हैं तो आप मनोविज्ञान की दृष्टि से चिन्तन करें।

डॉक्टर लोगों से और प्रत्यक्ष अनुभव से चिन्तन करें कि बच्चा जन्मता है तो उसका शरीर कितना तेजस्वी और स्फूर्ति वाला होता है। और जवानी में होता है तो कुम्हलाने लगता है। उसकी कैसी स्थिति बन जाती है। उसने अपने जीवन का मूल्याँकन नहीं किया। पशु से भी बदतर कार्य करने लगा और उसमें ज्यादा लगता है तो बल प्राण भी क्षीण होता है। जो सबल बनाने वाला तत्त्व है—बल प्राण। यह शरीर का राजा है। शुद्ध विचारों के साथ वह व्यक्ति अपने जीवन

को महत्त्व देता है। पर गृहस्थाश्रम में रहने वाले, जिसने इसका मूल्यांकन समझा हो तो वह बाधक नहीं बनता है। वह तो सोचता है कि मैं साधु नहीं बन सकता हूं तो क्या हुआ। मैंने अपने आपको संसार के कीचड़ में फंसाया तो क्या ! परन्तु यह इस मोह से छूटने के लिये जाती है तो मैं इस शुभ कार्य में बाधक क्यों बनूं ? परन्तु संसार के विषयों का सेवन करने वाला सोच नहीं पाता कि हमने क्या किया ? यह भी नहीं सोच पाता कि मैं इसे क्यों रोकूं ? यह ऊर्ध्वगामिनी बन रही है, आत्मा का समीक्षण कर रही है तो मैं सहायक बनूं और भावना में वेग दूं, क्योंकि जितना जीवन में अधिक संयम रखा जाये, जीवन में ब्रह्मचर्य का पालन किया जाये उतनी ही जिन्दगी अधिक हरी-भरी रहेगी और और आगे बढ़ सकेगी और जितनी आयु लेकर आया है तो उसका उपभोग कर सकेगा। परन्तु अन्तराय डालने वाले अच्छे कार्य में खड़े होते हैं। बुरे कार्य में खड़े नहीं होते हैं। यदि वही कन्या कॉलेज में पढ़ते-पढ़ते दूसरे संग में चली गई और बिगड़ गई तो बहिनें संकेत देती हैं कि क्या करें। आप संरक्षक होकर उसकी रक्षा नहीं कर सकते हैं तो अभिभावकों की ही गलती है कि ऐसी शिक्षा में डाला।

यह पाश्चात्य शिक्षण मनुष्य के लिये कितना घातक बन सकता है ? वहां तो मनुष्य जीवन का भी विशेष मूल्यांकन नहीं है परन्तु जिन्होंने वीतराग देव की वाणी सुनी तो कम से कम वे इतनी तो रोशनी रखें कि हमारी सन्तान कहीं गैर रास्ते पर तो नहीं जा रही है। अब्रह्मचर्य की तरफ जा रही है कि असंस्कारों की तरफ जा रही है। आगे जाकर इसके जीवन को क्या दशा बनेगी ? सात पीढ़ियों पर लांछन तो नहीं लगेगा, धब्बा तो नहीं लगेगा ? किन्तु बुरे कामों में रत को कोई रोकने वाला नहीं मिलेगा। बच्चा जाय जिधर जाने दो, ऐसा सोचते हैं। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि श्रेय कार्य में विघ्न आते हैं परन्तु धर्मी मनुष्य इसमें विघ्न नहीं डालते हैं वे तो सहर्ष इसमें लगाते हैं।

महाप्रयाण गणेशाचार्य का

जहां बड़े-बड़े तीर्थङ्कर देव-भगवान् महावीर जैसे उनको भी निकाचित कर्मों ने नहीं छोड़ा। केवलज्ञान, केवलदर्शन पैदा हो गया

उस समय भी खून की दस्तें लगीं और औषधि का सेवन करना पड़ा। तीर्थङ्करों को भी कर्म नहीं छोड़ सकते हैं तो अन्यों को कैसे छोड़ सकते हैं। कर्म उदय में आने पर सम्पर्क अच्छा रहे, जीवन की साधना ठीक बन जाये तो अन्तिम समय भी ठीक बन सकता है।

स्व० आचार्य श्री गणेशीलालजी म० को मैं अन्तिम समय में देख पाया। ऐसे ही पूज्य श्री जवाहरलालजी म० के भी अन्तिम समय को देख पाया। स्व० गणेशाचार्य को इतनी वेदना आयी कि उसे महापुरुष ही बर्दाश्त कर सकते हैं। वे ज्ञानी थे, उन्होंने वेदना के स्वरूप को समझा और साधु जीवन की अन्तिम अवस्था को कैसे सुधारना और श्रेयस कार्य को कैसे करना, विघ्न बाधाओं को कैसे दूर करना—इसका उन्हें अनुभव था और अनुभव की दृष्टि जब सामने आयी तो बड़े-बड़े डॉक्टर आश्चर्य चकित हो गये।

उदयपुर में बहुत समय तक विराजमान रहने से डॉक्टर शूरवीरसिंहजी सा० वैसे वे जाति के माली थे परन्तु आचार्य श्री के त्याग-वैराग्य को देखकर बड़े श्रद्धान्वित हो गये। एक दिन उनको आचार्य श्री जी ने भी कह दिया कि आप रोजाना क्यों कष्ट उठाते हैं ? जब कभी जरूरी होगा तो देख सकते हैं। डॉक्टर सा० कहने लगे कि आपके भक्त रोजाना क्यों आते हैं ? मैं क्या आपका भक्त नहीं हूँ। मैं आपके चरणों में पहुंचता हूँ तो मुझे शान्ति मिलती है। उनका सन्तों के प्रति इतना आकर्षण हो गया कि उनकी वही भावना अभी तक बनी हुई है। आचार्य श्री जी तो स्वर्गवास पहुंच गये, परन्तु मुझको भी सम्भालते रहते हैं। आचार्य श्री के प्रति उनका आकर्षण कैसे बना कि जो भयंकर वेदना थी, उसका इलाज किया, ऑपरेशन भी किया। और ऑपरेशन के बाद डॉक्टरों का सिद्धान्त है कि जिनके कैंसर की दृष्टि से सैकिण्ड फार्म हो जाता है तो छः सात महीने से ज्यादा उसका जीवन नहीं रह सकता है। आचार्य श्री के तो छः महीने निकले सो निकले परन्तु दो साल निकल गये। बम्बई के टाटा हॉस्पिटल के एक बड़े डॉक्टर बोरजस ने लिखा कि अपनी परिस्थिति से तो छः महीने से ज्यादा जिन्दा नहीं रह सकते हैं परन्तु दो साल हो गये हैं तो अपना सिद्धान्त तो फेल हो चुका है। वहां जाकर कोई देखे तो कहते हैं कि कौन कहता है कि आचार्य श्री बीमार हैं वे तो अपनी वैसी ही मुद्रा में विराजमान

हैं। यह तो महात्मा की कोई विशेष शक्ति है। डॉक्टर शूरवीरसिंहजी सा० दर्शन को आते तो प्रसंगोपात चित्रण किया कि बम्बई से भी रिपोर्ट आई है। बोरजस की रिपोर्ट देखकर एक बार डॉक्टर रामावतारजी दर्शन को आये और कहने लगे आचार्य श्री! मैं ऐसी औषधि दूं कि जिससे आपकी तबियत ठीक हो जायेगी। आचार्य श्री ने कहा कि मैंने आवश्यकतानुसार औषधि ली परन्तु मैं तो अब अपनी औषधि लेकर चल रहा हूँ, यह सुनकर डॉक्टर सा० अवाक् रह गये। वे बात नहीं कर सके। तो मेरी प्रकृति है वैसे ही एकान्त में उनसे पूछा कि डॉक्टर सा०! कैसा लगता है? डॉक्टर रामावतार सा० कहने लगे कि हम और आप क्या सोचते हैं। इन्होंने जो साधु जीवन स्वीकार किया है वे इसमें तन्मय हो गये हैं। वे दु:ख को दु ख नहीं समझते हैं। अमेरिका का पोप बीमार था—कैंसर का। परन्तु इतना चिल्लाता था कि दूसरे मरीजों को सोने नहीं देता था। मार्फिया इन्जेक्शन बार-बार लगाना पड़ता था। और ये महात्मा जिस पर हमारी कोई औषधि नहीं, इन्जेक्शन नहीं और फिर भी इतनी प्रसन्नता के साथ विराजमान हैं।

डॉक्टरी सिद्धान्त की दृष्टि से चिन्तन करेंगे तो हजार बिच्छू काटने पर जो वेदना होती है उससे भी अधिक वेदना होती है इनको परन्तु ये महात्मा शान्त चित्त से विराजमान हैं। समाज के लोग सोचने लगे कि कब आप श्री का यह जीवन चला जाये अतः संथारा करा देना चाहिये। डॉक्टरों से पूछा कि कितने दिवस का जीवन है? तो कहा कि ७२ घण्टे से ज्यादा नहीं निकाल सकते हैं। और फिर कहने लगे कि अड़तालीस घण्टों से ज्यादा नहीं निकाल सकते हैं। फिर वे तो कहने लगे कि आप जैसा ठीक समझो वैसा करो। उस समय सूरजमलजी म० बिराजे हुये थे और मैं भी था—आचार्य श्री होश-हवास में थे। वे कहने लगे कि मुझे संथारा कराओ। संथारा कराने के पूर्व नब्ज की गति देखी जाती है और संथारे का प्रसंग लगता हो तो संथारा कराया जाता है। क्योंकि मैंने देखा था कि तीन वर्ष से भी अधिक कुछ पहले आचार्य श्री भोपाल में विराज रहे थे उस समय अचानक पच्चक्खाण के पश्चात् वे बेहोश हो गये थे। उस समय मैंने सागारी संथारा तो करा दिया परन्तु नब्ज ठीक चल रही थी इसलिये सागारी संथारे में ही रहे। चतुर्विध संघ के जो अगुआ थे वे

कहने लगे कि अब संथारा पच्चक्खा देना चाहिये। मैंने कहा कि नब्ज तो ठीक चल रही है तो कैसे पच्चक्खाया जाय। कई लोगों ने कहा कि आपको आचार्य श्री से मोह है, इसलिये नहीं पच्चक्खा रहे हैं। मैंने कैसे पच्चक्खाया जाय? जबकि नब्ज की गति ठीक है। शूरवीरसिंहजी डॉक्टर सा० को कहा तो कहने लगे कि हमारी थ्योरी तो फेल होती जा रही है। पूछा कि नब्ज तो ठीक चल रही है? मैंने कहा कि ठीक चल रही है। होश में आयेंगे या नहीं? तो कहा कि मैं कुछ कह नहीं सकता हूं। आखिर तीन दिन तक मूर्च्छा रही और फिर स्वस्थ हुये और तीन साल से अधिक बिराजे। और जब अब यहां संथारा कराने के लिये कहा तो नब्ज में कमजोरी थी। गुरुदेव ने फरमाया—संथारा पच्चक्खाओ और स्वयं विधि बताने लगे कि पहले यह करो फिर ऐसा करो। मैं उनके कथनानुसार करता गया। गुरुदेव ने जावजीव का संथारा बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया।

संथारा पच्चक्खाने के बाद शास्त्र का पाठ सुनाया जाता है—दशवैकालिक—मैं सुना रहा था, दर्शनार्थी दूर से दर्शन करके निकल रहे थे। मेरी दृष्टि उधर चली गई, जिससे जो गाथा सुना रहा था उसका पुनः उच्चारण हो गया। तब आचार्य श्री कहने लगे कि यह गाथा तो हो गई। कहने का मतलब कि इतना होशहवास था। और फिर मूल पाठ का उच्चारण करके विधि करादी। सब संतों को हटा दिया। और मैं बैठा हुआ था। आचार्य श्री ने अपनी ध्यान मुद्रा लगाई। दूर से सब उनकी मुद्रा को देख रहे थे। उनकी मुद्रा में अपूर्व सा दृश्य दिखाई दिया। मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता हूं। मैं सोचने लगा कि ऐसी आचार्य श्री की स्थिति और मैंने संथारा पच्चक्खा दिया तो अब क्या स्थिति बनेगी। अब चलने लगा संथारा। दूसरे दिन जब ढाई बजे के करीब पुष्कर मुनि जी की सतियां पहुंची, सरल स्वभाविनी श्री सोहनकंवरजी म० ने वन्दना की, साता पूछी और खमतखामणा किया। लगभग तीन बजे की स्थिति आई और आचार्य श्री आसन जमाने लगे। मानो अन्तिम आसन जमाने की चेष्टा कर रहे थे, परन्तु शारीरिक स्थिति इतनी कमजोर हो गई थी कि टिक नहीं पा रहे थे। संथारे की दो विधियां हैं कोई लेटकर और कोई बैठकर भी कर सकते हैं। मैंने कहा कि आपका शरीर इतना कमजोर हो चुका है कि आप लेटकर ही क्रिया करें। वे लेटे और ध्यान की धारा में ही लीन

हो गए। मैं खड़ा-खड़ा कुछ कान में सुना रहा था। क्योंकि दीक्षा में ज्येष्ठ नीचे बिराजे हुए थे इसलिए मैं खड़ा रहा। मैंने कहा आप भी पाटे पर बिराज जायें। तो मैं भी पाटे पर बैठ कर सुनाऊं। उस समय का दृश्य अलौकिक सा था। मैं उनके नेत्रों का प्रवाह देखता रहा, वह शब्दों से नहीं कह सकता हूं, वह अनुभवगम्य है। उस समय गुरुदेव ने बड़ी धैर्यता के साथ, शान्ति के साथ प्रशान्त अवस्था में अपना अन्तिम श्वासोच्छ्वास छोड़ा। उनतीस घण्टे का संथारा आया था। ऐसा संथारा ऐतिहासिक पन्नों में भी देखने को कम मिलता है। स्फटिक के समान हृदय था, सरल स्वभाव था। अन्तिम समय में सावधानी पूर्वक संलेखणा सहित शरीर छूटता है तो उस जीवन का मूल्यांकन होता है।

बन्धुओ ! ऐसे महापुरुषों का आदर्श हमारे सामने आता है, उससे प्रेरणा लेनी चाहिए।

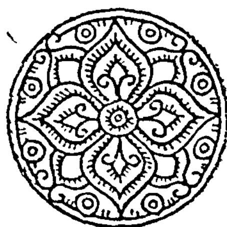
अभी जिस महासती जी के स्वर्गवास विषयक समाचार मिले हैं, अतः व्याख्यान के रूप में आज व्याख्यान नहीं रखा गया लेकिन जो आदर्शमय संयमी जीवन होता है उसमें अठारह ही पापों का त्याग होता है। यह कोई सहज बात नहीं है। एक व्यक्ति को भी कह दो कि एक दिन के लिए सचित्त का त्याग करके चले तो उसे भी कठिनाई महसूस होगी। जीवन में त्याग करके चलना और सारी चीजों से मन को मोड़ना, भरी जवानी में दीक्षा लेना और रोग में भी समता के साथ जीवन को छोड़ना कितनी बड़ी बात है। वक्ता लोग महासती जी के जीवन के सम्बन्ध में प्रेरणाप्रद बातें रख गए हैं। यह मनुष्य जीवन बार-बार मिलने वाला नहीं है। आप ख्याल रखें और आप भी इस प्रकार से साधने की चेष्टा करें। श्रावक के भी तीन मनोरथ हैं।

सच्ची धर्म सहायिका – मदन रेखा

मदन रेखा ने अन्तिम समय में अपने पति के सिर को बांधा और पति की तरफ ध्यान लगा कर पति को संथारा पचखाने की तरफ ध्यान दिलाने लगी कि—पतिदेव ! क्या कर रहे हो ? यह अन्तिम अवस्था राग-द्वेष में चली गयी तो यह जिन्दगी बिगड़ जाएगी। मैं धर्मपत्नी के रूप में हूं और पत्नी वही है कि पति के अन्तिम समय को सुधार दे

और जो पत्नी अन्तिम समय को बिगाड़ देती है और संथारा-संलेखणा नहीं कराती है तो वह उसकी जिन्दगी को बिगाड़ देती है । मदन रेखा रोने-धोने में नहीं बैठी परन्तु पति को चार शरण दिए और पति को स्वर्ग में भेज दिया । यह स्थिति कब आ सकती है कि जबकि वह मनोरथ का ध्यान रखे । तीसरा मनोरथ है कि पण्डित मरण करके मैं अन्तिम जीवन को सुधारू ं ।

इस प्रसंग से जो भी भव्य आत्मा मनोरथ का चिन्तन करती हुई, समीक्षण धारा में बहती हुई अन्तिम समय में बाह्य-आन्तरिक शुद्धि पूर्वक पण्डित मरण के साथ भौतिक देह पिण्ड का त्याग करती है, वह अपने जीवन को सार्थक करती है ।



[१७]

भौतिकता और आध्यात्मिकता समीक्षण

- भौतिक और आध्यात्मिक
- भौतिकता आध्यात्मिका की एकांतता से संघर्ष
- एकांतता का समाधान
- आध्यात्मिकता में आवश्यकता भौतिकता की
- कर्म निर्जरण के दो मार्ग
- लक्ष्य आध्यात्मिकता हो

जे अज्झत्थं जाणइ ते वहिया जाणइ

—आचारांग सूत्र १/१/४

जो अपने आपको जानता है, वह वाहरी रूप को भी जान लेता है।

अर्थात् जो अध्यात्म को सही रूप में जान लेता है, समझ लेता है, वह साधक भौतिकता का भी यथार्थ विज्ञान कर लेता है, अध्यात्म के चरम विकास हेतु भौतिकता के साथ यथायोग्य सामंजस्य होना अनिवार्य है।

शरीर भौतिक है, तो आत्मा अभौतिक अध्यात्म से सम्वन्धित है, परिपूर्ण मुक्ति हुए बिना शरीर के वन्धन से आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती।

दुःख विमुक्ति व सुख अवाप्ति के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है।

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी, आतम रामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरणपामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।

बन्धुओ ! मनुष्य जीवन की, जो वर्तमान की इकाई है। उसके शरीर पिण्ड को अलग-अलग रूप से सब देख रहे हैं और यह जानते हैं कि यह मनुष्य है। सभी मनुष्यों के पांच इन्द्रियां हैं, और सभी संज्ञी मनुष्यों के मन भी संलग्न हैं। इस शरीर पिण्ड को सब देखते हैं, परन्तु देखने-देखने में अन्तर आता है, एक व्यक्ति सिर्फ शरीर के ऊपरी आकार-प्रकार को देखकर, और उसका मूल्यांकन करता है, कीमत करता है। दूसरा व्यक्ति सिर्फ आकार-प्रकार तक ही सीमित नहीं रहता। उसकी दृष्टि आकार-प्रकार से भिन्न शरीर के भीतरी तत्त्वों की तरफ जाती है। शरीर के ऊपर में कोई विशेष तत्त्व दृष्टिगत नहीं होते। ऊपर इन्द्रियों का आकार और त्वचा चमड़ी दिखती है। परन्तु शरीर के भीतर में बहुतेरी रचनाएँ हैं। भीतर का दृश्य देखने में कठिनाई अवश्य है। परन्तु जीवन का वास्तविक स्वरूप भीतर में है। घड़ी के आकार को आप सभी देख रहे हैं परन्तु इस ऊपर की आकृति का जितना महत्त्व नहीं है, जितना इस घड़ी के भीतर में कल-पुर्जों का महत्त्व है। परन्तु जाने दीजिये घड़ी के कल-पुर्जों को, उसे संचालित करने वाला कोई अलग व्यक्ति है। वैसे ही इस शरीर की रचना करने वाला शरीर के भीतर कल-पुर्जों के तुल्य आभ्यंतर रचना करने वाला और उसको संचालित करने वाला कर्त्ता इस शरीर के भीतर विद्यमान है।

भौतिक और आध्यात्मिक

प्रचलित संसार में दो शब्द आपको श्रवण करने को मिल रहे हैं और वह भी मुख्यतया आध्यात्मिक क्षेत्र में—एक भौतिक और दूसरा अभौतिक। अभौतिक को आप आध्यात्मिक कह सकते हैं। इन शब्दों के श्रवण करते-करते चिंतनशील व्यक्ति के मस्तिष्क में जिज्ञासा पैदा होती है, और वह जानना चाहता है कि भौतिक क्या है और अभौतिक क्या है ? शब्द मात्र से हर कोई व्यक्ति अर्थ नहीं समझ सकता है। वह उसके अर्थ को समझने की चेष्टा करता है। युवक वर्ग में भी यह जिज्ञासा अवश्य प्रस्फुटित होती है कि जहां हम धर्म क्षेत्र में आध्यात्मिक शब्द श्रवण करते हैं—जहां पुस्तकों में भी आध्यात्मिक शब्द का बहुतेरा प्रयोग होता है तो यह आध्यात्मिक चीज क्या है ? और भौतिकता क्या है ? आप इस

विषय को जरा ठीक तरह से समझें। ऐसे आम प्रचलित भाषा में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति ये भौतिक तत्त्व की स्थिति में लिये जाते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से जब पृथ्वीकायिक शब्द का प्रयोग होता है तो पृथ्वी में रहने वाले जीव हैं, वे इस शरीर से सम्बन्धित होते हैं। परन्तु आम जनता पृथ्वी में जीव नहीं जानती है, वह इन पांच भौतिक तत्त्वों से सारे विषय को समझने की चेष्टा करती है। इन्हीं भौतिक पांच तत्त्वों से ये सारे दृश्य पदार्थ आपके सामने आए हैं। कभी मनुष्य को अन्न की आवश्यकता है, तो वह पृथ्वी पिण्ड से अन्न का उपार्जन करता है। पृथ्वी तत्त्व से जो रस अन्न के रूप में, दाने के रूप में आया, वह देश से पृथ्वी का भाग है, उसका रस है। उसी रस से जीवन निर्वाह करने वाले उसको हण करते हैं, और अपने जीवन का निर्माण करते हैं। पानी की प्यास लगने पर व्यक्ति पानी की तरफ जाता है, और प्यास बुझाता है। हवा से ऑक्सीजन लेता है, और वनस्पति भी पृथ्वी रस का परिणाम है। तो हां अन्न-जल और सारे निर्वाह सम्बन्धी पदार्थ हैं, वे पृथ्वी से पैदा होने वाले हैं। वे सारे भौतिक तत्त्व हैं। इसी पृथ्वी से खनिज पदार्थ और इसमें सोना, चांदी, जवाहिरात की पैदायश, इन्हीं तत्त्वों के अन्तर्गत वैज्ञानिक औजारों का प्रादुर्भाव, जहां जितनी धातुएं हैं, वे सब पृथ्वी से—जमीन से निकलती हैं। इन्हीं के मिश्रण से, रासायनिक परिवर्तन से ये सारे संसार के अन्दर दिखने वाले दृश्य उपस्थिति होते हैं। ये रेलगाड़ी, हवाई जहाज, कल कारखाने, अपोलो वगैरह सब भौतिक तत्त्वों से निर्मित हैं, इन्हें भौतिक की संज्ञा दी जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से जो अध्ययन कराया जाता है, तो इन्हीं वस्तुओं की मुख्यता से कराया जाता है। जिन मनुष्यों का ध्यान, जिनका ज्ञान सिर्फ इन दृश्य पदार्थों की तरफ ही है और सब कुछ इनको ही मानते हैं, वे भौतिकवादी कहलाते हैं, अर्थात् वे उसी को महत्त्व देते हैं परन्तु इससे भिन्न तत्त्व को महत्त्व नहीं देते। जबकि दूसरी ओर इन तत्त्वों का निर्माण करने वाला निर्माता है, वह इन भौतिक तत्त्वों से अलग है। घड़ीसाज घड़ी से भिन्न है, नियोजन करने वाला नियोजन से अलग है, टिन शेड़ का निर्माण करने वाला टिन से अलग है, तथा कार चलाने वाला, कार का निर्माण करने वाला इञ्जीनियर कार से अलग तत्त्व है। इस ज्ञान, विज्ञान की शक्ति को लगाने वाला तत्त्व है, आत्म तत्त्व। उसको अभौतिक कह सकते हैं। वह आत्मा अभौतिक तत्त्व बाहर नहीं रहता परन्तु शरीर पिण्ड के भीतर विद्यमान है। जब वह शरीर में रह रहा है तो उसके गुण धर्म

शरीर में ही हैं। ज्ञान शक्ति इस आत्मा की है। सदाचरण करना, सदाचार पालना, सत्य बोलना, अहिंसा का पालन करना, ये आत्मा के गुण हैं। जो इन आत्मगुणों को लेकर चलता है, वह आध्यात्मिक कहलाता है।

"आत्मनिअधि इति अध्यात्म तत्र भव: आध्यात्मिक:।"

'आत्मनि' का अर्थ है, आत्मा में होने वाली चित्त वृत्तियां आध्यात्मिक कहलाती है। ये चित्त वृत्तियां शरीरधारी आत्मा की यथास्थान अभिव्यक्ति पर निर्भर हैं। इसको संक्षिप्त यह कहा जा सकता है कि भीतरी चैतन्य अवस्था की जो क्रिया-प्रतिक्रिया है, वह आध्यात्मिक कहलाती है। जो इस आध्यात्म का कथन करते हैं वे आध्यात्मवादी कहलाते हैं। और जो भौतिक तत्त्वों का कथन करते हैं वे भौतिकवादी कहलाते हैं। मैं जो प्रार्थना कर गया हूं वह आध्यात्म जीवन को पुष्ट करने वाली है।

श्री श्रेयांस जिन अंतरयामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।

जिन्होंने आध्यात्म तत्त्वों को पा लिया वे सहजगामी, मुक्तिगामी बन गये।

भौतिकता आध्यात्मिकता की एकांतता से संघर्ष

तत्त्वों का सही रूप नहीं समझने के कारण ही उलझनें पैदा होती हैं, कोई कहता है कि मैं आध्यात्मिक तत्त्व को ही मानता हूँ, कोई भौतिकता को ही मानता है। आध्यात्मिक वादी कहता है कि भौतिक तत्त्व कुछ नहीं है, आध्यात्म अलग है भौतिक अलग है जबकि भौतिकवादी कहता है भौतिक तत्त्व ही है। और हम देख रहे हैं कि आध्यात्मिक नाम का तत्त्व नहीं है। इन दोनों का जब एकान्त दौर-दौरा चलता है, तो वहाँ संघर्ष बढ़ता है, क्लेश बढ़ता है, लड़ाई झगड़ा बढ़ता है, दंगा फसाद बढ़ता है, हिंसा का जन्म होता है और झूठ प्रपंच होता है। यह सारी की सारी द्वन्द्वात्मक परिस्थिति मनुष्य के सामने खड़ी हो जाती है। इन सबको देखते हुए व्यक्ति कुछ निर्णय नहीं कर पाता है।

एकांतता का समाधान

भगवान् महावीर और तीर्थङ्करों ने इन दोनों का सही स्थान

बताते हुए इनके साथ संघर्ष और विग्रह नहीं करने का निर्देश दिया। दोनों संसार में हैं और दोनों पड़ौसी यदि शांति से रहते हैं तभी उनका जीवन आगे प्रगति कर सकता है। यदि पड़ौसी-पड़ौसी लड़ने लग जायें तो उनका जीवन शांति के साथ आगे नहीं बढ़ सकता है, वैसे ही भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पड़ौसी हैं।

'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट कहा है—

"जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ"

जो अपने को जानता है, वह बाहर की जानता है। अर्थात् जो अध्यात्म को सही रूप से जान लेता है वह भौतिक स्वरूप को भी यथार्थता के परिप्रेक्ष्य में जान लेता है। आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के सही ज्ञान के अभाव में यथा योग्य हेय-उपादेय की स्थिति भी नहीं बन सकती।

यद्यपि यह विषय गहन है तथापि—बंधुओ! इस विषय से आप घबराइये मत। ऐसे विषय को समझे बिना आध्यात्मिकता का रस नहीं पा सकेंगे। आप आनन्द नहीं ले सकेंगे, जब तक आप मूल तत्त्व को नहीं पकड़ेंगे, तब तक आप जीवन में आनन्द की अनुभूति नहीं कर पायेंगे। ऊपर-ऊपर से पपोलने से कुछ नहीं होगा। भीतर में प्रवेश करना होगा। जीवन का समीक्षण करना होगा।

आध्यात्मिकता में आवश्यकता भौतिकता की

रात्रि में मेरे सामने प्रश्न आया था, और आज लिखित प्रश्न भी आया है कि भौतिक और आध्यात्मिक क्या है? इनका सम्बन्ध है या नहीं, है तो कैसे? सभी को सरलता से समझ में आ जाय अतः आज का प्रवचन ही इसी विषय पर चल रहा है। भौतिकता क्या है? और आध्यात्मिकता क्या है? और इनमें जो संघर्ष चल रहा है, धार्मिकता में कभी ऐसा प्रसंग आता है कि भौतिकता की बात ही मत करो और जहां भौतिकतावाद की बात हो तो वहां प्रसंग बनता है कि आध्यात्मिकता का नाम मत लो, यहीं आकर संघर्ष बनता है, परन्तु वे नहीं समझ पा रहे हैं कि जहां हम आध्यात्मिकता में बैठे हुए हैं, वहां भौतिकता की आवश्यकता है या नहीं? आप लम्बे चौड़े क्यों जायें, मैं यहीं बता दूं। आप किस स्थान पर बैठे हुए हैं?

जमीन पर ।
तो यह भौतिक है या अभौतिक ?
भौतिक ।
इसके बिना क्या आप धर्म कर सकेंगे ?
यह छप्पर भौतिक है या अभौतिक ?
भौतिक है ।

आप धार्मिक स्थान पर भौतिकता से काम कर रहे हैं, फिर उसका विरोध भी करने लग जांय तो कैसे काम बन सकता है ? यह चादर जो शरीर पर धारण कर रखी है यह भी भौतिक है, आप ठीक तरह से बैठे हुए हैं, यहां आप व्याख्यान चुस्ती के साथ सुन रहे हैं, तो कुछ प्रातःकाल भौतिक तत्त्व ग्रहण करके आये हैं, अर्थात् चाय, दूध, नाश्ता लेकर आये हैं, तभी तो सुन रहे हैं । यह शरीर भी भौतिक तत्त्वों का बना हुआ है । इसी में आत्मा रही हुई है। भौतिक और आध्यात्मिकता का कैसा संगम बना हुआ है, फिर संघर्ष और विग्रह करने की आवश्यकता क्या है ? सोचना चाहिए भौतिकता से हम पल पल में काम ले रहे हैं । अहिंसा परमो धर्म की पालना करने के लिए जो ओघा हाथ में ले रखा है, लकड़ी, ओघा, सब भौतिक है और इससे आध्यात्मिकता का पालन कर रहे हैं । इस शरीर के प्रत्येक अवयव में भौतिक तत्त्व मौजूद हैं । तो उनके साथ क्या हम संघर्ष विग्रह करके चलें कि हमको भौतिकता की आवश्यकता नहीं है । यदि ऐसा है तो किसी भी क्षेत्र में काम नहीं चल सकेगा । आप दिन और रात किसके लिए जुटे हुए हो ? आपके बड़ी बड़ी बिल्डिगें और उनमें रेडियो, टेलीविजन, फर्नीचर सजे हुए हैं, ये सब भी तो भौतिक हैं । और इनसे आप जुड़े हुए हो । फिर कथन से कहो कि इनका हमारे साथ कोई वास्ता नहीं तो यह समन्वय की बात नहीं हुई, एकान्त खींचने की बात हुई । भगवान् महावीर ने कहा—इनको इनके स्थान पर समझो और धर्म को धर्म की जगह समझो । इनको स्वामी मत बनने दो, सिर पर मत चढ़ने दो । और यदि मान लिया कि भौतिक ही सब कुछ है, आध्यात्मिक कुछ नहीं है और कोई यह कहे कि आत्मा ही सब कुछ है, भौतिक कुछ नहीं है तो सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकोगे । सिद्ध भगवान् भी भौतिक तत्त्वों के आधार से स्थित हैं। वहाँ पर भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय हैं । अतः भौतिक और अध्यात्म का यथायोग्य, यथास्थान समन्वय करके चलें । संसार में जो भी आप कार्य कर रहे हैं, उसमें आप

ख्याल रखिए कि ये सब आफिसर हैं। मैं इनसे काम ले रहा हूँ। मेरा स्वरूप काम लेने वाला है। मैं ज्ञानवान हूँ, तटस्थ ज्ञाता हूँ, विज्ञाता हूँ, सत्, चित् आनन्द घन रूप हूँ। मैं अभी कर्मों की वेड़ियों से जकड़ा हुआ हूँ। कर्म भी भौतिक तत्त्व है। इनको गिराना है। एक साथ झटका दिया तो नुकसान हो सकता है। जैसे किसी का हाथ पत्थर की शिला के नीचे दब गया है तो एक दम झटका देकर इन्सान निकालना चाहे तो क्या दशा बनेगी ? परन्तु चतुर व्यक्ति धीरे-धीरे निकालेगा। इसी प्रकार कर्मो की शिला के नीचे आत्मा की शक्तियां दब गई हैं। उन्हें धीरे-धीरे निकालने का प्रसंग है।

कर्म निर्जरण के दो मार्ग

कर्म का निर्जरण करने के लिए दो रास्ते बतलाए हैं। एक रास्ता शीघ्रगामी है—साधु बनकर चलें और दूसरा है मंदगति का यानी गृहस्थ में रहते हुए श्रावक बनकर चलें। जीवन की प्रत्येक क्रिया के साथ आध्यात्मिकता का पुट लगाकर चलें। जो सबसे पहले भोजन करता है और बाद में बैठकर देखें कि भोजन कैसा है ? वह मन के अनुकूल है या प्रतिकूल ? यदि प्रतिकूल हो तो रोष करूँ और अनुकूल हो तो खुश होऊँ। यह नहीं सोचकर यह सोचें कि यह जीवन निर्वाह का साधन है। मैं इसको ग्रहण करके आध्यात्मिक साधना करूँ। श्रावक जीवन की आराधना करूँ, साधु जीवन की आराधना करूं। इस दृष्टि से साधक क्रिया कर रहा है, भोजन ग्रहण कर रहा है तो वह आध्यात्मिक क्रिया साध रहा है। श्रावक आध्यात्मिकता का ही विचार नहीं रखता है कि मेरा शरीर पुष्ट बने, मैं राजनेता भी बनूं परन्तु लक्ष्य रूप से यही रहता है कि आध्यात्मिकता ही सब कुछ है। परन्तु तब तक ही सहायता लेनी है। इन भौतिक तत्त्वों की जब तक मैं सम्पूर्ण रूप से कर्म का विनाश नहीं कर पाऊँ।

लक्ष्य आध्यात्मिक हो

दुनिया में कहावत है कि 'कण कण करता' मन होता है और बूंद बूंद करके घड़ा भरता है।' एक एक कण संचित करते हैं तो मन (४० सेर) हो जाता है और एक एक बूंद में घड़ा भर सकता है। लक्ष्य तो आध्यात्मिकता का रहे और प्रत्येक क्रिया में आध्यात्मिकता को

देखने की चेष्टा करनी चाहिए। आप कपड़े की दुकान पर कपड़ा बेच रहे हों, तो कोई ग्राहक आया, चाहे गरीब हो या पैसे वाला है परन्तु आप सोचें कि यह भी मेरी आत्मा के तुल्य है! यह बेसमझ है तो क्या हुआ? मैं उसे ठगूं नहीं। यदि इस प्रकार आप आध्यात्मिक दृष्टि से व्यापार कर रहे हैं तो पुण्यवानी वहां भी बाँध लेते हैं। आध्यात्मिक साधना आसानी से आप कर लेते हैं। हर जगह यदि आध्यात्मिकता का पुट रहता है, तो वह जीवन में, साधना में, एक दिन कामयाब होता है, इस प्रकार आप प्रत्येक क्रिया को देखने की चेष्टा करें तो भौतिकता का और आध्यात्मिकता का सम्बन्ध जुड़ जाएगा। इस प्रकार आप घर का कार्य, परिवार का कार्य, समाज और राष्ट्र का तथा विश्व का कार्य पनपा सकते हैं। सुख, शांति का अनुभव कर सकते हैं।

आज बड़े बड़े राष्ट्र शस्त्र बना रहे हैं और एक दूसरे के सामने कमर कसकर खड़े हो गए हैं। परन्तु उनमें यदि आध्यात्मिकता प्रवेश कर जाए तो संघर्ष ही नहीं हो। परन्तु आज वे भौतिकता को ही समझ रहे हैं और उनकी ज्ञान शक्ति, उसमें ही काम कर रही है। जब यह भावना मिट जायेगी तो विश्व में ज्ञान के साथ उपयोग इस धरातल पर अच्छी तरह पनप सकता है। इस प्रकार भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्व के परस्पर समीक्षण होने पर यथार्थ शांति का साम्राज्य प्राप्त हो सकता है।



[१८]

बेड़ियाँ मोह का

- कषाय समुद्र में मोह भंवर ।
- शब्दों को नहीं, भावों को पकड़ो ।
- मोह कीच में फंसा संसारी प्राणी रूप हाथी ।
- छोटी सी बात महत्तम कार्य साधिका ।
- विलिनीकरण हो भेद-भाव का ।
- लोह बन्धन से मोह बन्धन बड़ा ।
- मोह की बेड़ियां तोड़ो ।
- नाशवान शरीर से अविनाशी साधना ।

इत्थ मोहे पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए।

—आचारांग सूत्र १/२

बार-बार मोह ग्रस्त होने वाला साधक न इस पार रह जाता है, न उस पार।

अर्थात् वह न इस लोक में ही शान्ति प्राप्त कर पाता है न परलोक में ही शान्ति प्राप्त करता है।

जिस प्रकार हाथी जब कीचड़ में फंस जाता है तो वह उससे निकलने की कितनी ही कोशिश करता है, निकल ही नहीं पाता, बल्कि और अधिक फंसता जाता है। मोहासक्त व्यक्ति कितना ही प्रयत्न कर ले किन्तु मोह छोड़ने के लिए आसक्ति का त्याग करना होगा।

मोह लिप्त आत्मा का समीक्षण कर संशोधन करना होगा।

———

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी, आत्मारामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गत गामी रे॥

बन्धुओ ! इस संसार में बहुत बड़ा उपकार किसका है ? इन तीर्थङ्कर भगवंतों का । तीर्थङ्कर देव ने अपनी कठोर साधना के बल पर आत्मा का शुद्धिकरण किया । परिपूर्ण सुख और परिपूर्ण शान्ति को उन्होंने आत्म प्रदेशों से साक्षात्कार किया और दुनियां के लिए भी उसी मार्ग का उपदेश दिया । वही उपदेश शास्त्र वाणी के माध्यम से, शास्त्रीय वचनों से आज भी भव्य जीवों को उपलब्ध हो रहा है। शास्त्र एक दृष्टि से देखा जाय तो जीवन का आलोक है । अज्ञान अंधकार से भरा हुआ मनुष्य का जीवन, प्राणी वर्ग की आत्मायें यदि शास्त्र का अवलोकन कर लें तो उनका अज्ञान अंधकार दूर हो जाता है । इसलिए शास्त्र को प्रकाश स्तम्भ की उपमा दें तो भी चलता है। शास्त्र भव सागर में डूबते हुए प्राणी के लिए एक नौका, अवलम्बन स्वरूप हैं, किसी जहाज के टूट जाने पर जहाज के अन्दर रहने वाले व्यक्ति समुद्र में डूबने लगते हैं, और वे वहाँ से बचना चाहते हैं, कि कोई नौका या पतवार—पाटिया मिल जाय तो हम उसके सहारे समुद्र से पार हो सकते हैं। वैसे ही इस संसार समुद्र में डूबने वाली आत्माओं के लिए शास्त्रीय ज्ञान नौका के तुल्य, पतवार या पाटिए के तुल्य कहा जा सकता है कि इसके सहारे इस संसार समुद्र को तैरा जा सकता है।

कषाय समुद्र में मोह भंवर

कषाय, मोह, माया रूप संसार एक तरह का ससुद्र है । मोह, माया, राग, द्वेष आदि कषायों का अन्त सत्वहीन व्यक्ति नहीं कर सकता है। कषाय रूप समुद्र के मोह भंवर में यह नौका पड़ी हुई है । समुद्र में या पानी के अन्दर बनने वाला भंवर पानी में गोल-गोल चक्कर खाता है, और उस भंवर में यदि कोई व्यक्ति चला जाय तो उसका निकास नहीं होता । वैसे ही इस कषाय की और मोह की भंवर है। इसके बीच में संसारी प्राणी चक्कर काट रहे हैं । उसी परिधि में घूम रहे हैं, इसका एक गोल चक्कर है । कभी वह क्रोध में आता है, तो कभी अभिमान में चला जाता है, तो कभी माया और छल में लग जाता है, वहां से हटा तो लोभ में चला जाता है। इस प्रकार पुनः क्रोध, मान,

माया, लोभ का चक्कर चलता रहता है। यह एक भंवर है, चक्कर हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने अन्दर में देखना है कि मैं इस चक्कर से बाहर हूं या अन्दर में हूं। किसी वस्तु को प्राप्त कर ली तो फूला नहीं समाया और उसमें कोई बाधक बन रहा है तो उसको छल, कपट से हटाने की कोशिश करता है। और नहीं हटा पाया तो खुद शस्त्र से उस पर प्रहार करने की चेष्टा करता है, परन्तु उस वस्तु को येन-केन प्रकारेण प्राप्त करता है। इन पदार्थों की जो जीवन में चाह है, लोभ है, वही संसार का भंवर है। इस भंवर के बीच में अनन्त काल से यह आत्मा डोल रही है। इसके अन्दर कोई सहारा है, तो वीतराग वाणी का, ज्ञानमय वाणी का ही सहारा है। आप कितने सौभाग्यशाली हैं कि इतने लम्बे समय के बाद भी श्रवण करने का मौका मिला हुआ है।

शब्दों को नहीं, भावों को पकड़ो

आंधी की तीव्रता में मनुष्य की पहचान नहीं होती वैसे अज्ञान अंधकार में स्वयं की पहचान नहीं हो पाती है। वह अज्ञान अंधकार ही इस कषाय—आंधी को पैदा करता है। मनुष्य शास्त्र को श्रवण अवश्य कर लेता है। परन्तु श्रवण के बाद अपने मन में रहने वाले अज्ञान अंधकार को दूर करेगा तभी वह अज्ञान अंधकार से दूर हो सकता है। लाइट फिट है, परन्तु उसके फिट होने मात्र से अंधकार दूर नहीं होता। इसी प्रकार शास्त्र लिपि बद्ध पन्नों में है। पन्ने स्वयं अंधकार परिपूर्ण हैं। अक्षर खुदे हैं। वे कैसे प्रकाश कर सकते हैं? इन पूरे अक्षरों को और वाक्यों को रट भी लिए, सारे बुद्धि में जमा लिए। परन्तु फिर भी प्रकाश का स्वरूप अभिव्यक्त नहीं होगा। क्योंकि जैसे बाहर थे, वैसे ही अन्दर जमा लिए। तिजोरी का रूप जैसे बाहर में दिख रहा है वैसे ही आंखें बन्द करके देखेंगे तो आपके मस्तिष्क में वैसा ही रूप आएगा। वैसे ही शास्त्रों को वैसा का वैसा रट लिया। तब आंखें बन्द करके आवृति करेंगे तो वैसे ही नजर आयेंगे। इतने भाव से उसका अज्ञान अंधकार नहीं हटता है। वे शब्द तो पौद्गलिक हैं—मैटर हैं। परन्तु इन शब्दों का रस जब हम पी लेंगे और शब्दों के अन्दर में रहने वाले ज्ञान के प्रकाश को निकाल लेंगे, तभी हमारे हृदय में प्रकाश हो सकेगा। गन्ने के टुकड़े अपने पास में रखें, और देख रहे हैं। वे टुकड़े ऐसे ही आंखें बन्द करके भी आप देख सकते हैं। आपने बाहर

पड़े हुए गन्ने के टुकड़ों से रस का आस्वादन नहीं किया। पड़े हुए से रस नहीं मिलेगा। परन्तु जब उनको दांतों से चबायेंगे और रस को अन्दर लेंगे, खल भाग को बाहर फेंकेंगे तभी रस मिलेगा, वैसे ही शास्त्रीय वचनों में रस भरा पड़ा है, उन्हें गन्ने के टुकड़ों की तरह चूसने की कोशिश करना, शास्त्र के शब्दों को जमाना एक बात है और उन पर विचार करना दूसरी बात है। ऐसे विचार से ही मनुष्य का अज्ञान अंधकार दूर होता है, और वह क्षण भर में अपने जीवन को परिवर्तित कर लेता है। चित्त और संभूति का जीवन सुन रहे हैं। आप!

मोह कीच में फंसा संसारी प्राणी रूप हाथी

चित्त जी—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती (संभूति जी) को समझा रहे हैं। एक चक्रवर्ती हैं तो दूसरे मुनि हैं। दोनों अपने-अपने स्थान पर हैं। मुनि के जीवन में प्रकाश है, जबकि ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के मन में अंधकार है। उसने इन पदार्थों को दिमाग में जमा रखा है। और सोचता है कि ये पदार्थ मेरे लिए—जीवन के लिए श्रेयस्कर हैं। उसने इस प्रकार से उल्टा समझ रखा था। प्रश्न के सिलसिले में बह्मदत्त यह भी कहता है कि भाई! मैं जानता हूं कि सरोवर में हाथी फंसा हुआ है, कीचड़ बहुत है। और वह तीर भी देख रहा है। किनारा भी उसकी दृष्टि में आ रहा है। और वह हाथो निकलना भी चाहता है। एक पैर उठाता है और उसको पुनः वहां रख कर दूसरा उठाने की चेष्टा करता है तो पुनः कीचड़ में फंस जाता है। जैसे वह कीचड़ में फंसा हाथी तट को देखता हुआ भी तट को प्राप्त नहीं कर सकता है, वैसे ही मोह रूपी कीचड़ में फंसी हुई आत्मा जानती है कि शास्त्रीय वचनों से मोह का त्याग करने पर ही आत्मा का कल्याण होगा। परन्तु व्यक्ति त्याग नहीं कर पाता–फंसा हुआ है कीचड़ में। एक पैर उठाता है तो दूसरा फंस जाता है।

क्या यह स्थिति ब्रह्मदत्त की ही है या आपकी भी है? अपने-अपने अन्तरघट में सोचिये। जरा चिन्तन तो कीजिये कि कीचड़ में कब तक फंसे रहोगे? और सारी जिन्दगी इसी में निकल गई तो क्या मिलेगा? हाथी यदि कीचड़ ही कीचड़ में फंसा रहा तो क्या उस हाथी का अन्तिम समय सुधर सकेगा? सुख और शान्ति मिल सकेगी? वैसे ही यदि

मनुष्य मोह रूपी कीचड़ में फंसा रहा तो क्या शान्ति मिल पायेगी? बड़ी मुश्किल बात है। चांदमलजी बोरदिया ने चौथे व्रत का प्रण तो ले लिया। एक पैर तो उठा लिया, परन्तु दूसरा पैर अभी फंसा हुआ है कि मेरा बंगला है, पौत्र-पौत्री हैं। तो ये च्याऊं म्याऊं के इतने भेद हैं कि बड़ा से बड़ा व्यक्ति जन्म-मरण की परम्परा को उच्छिन्त नहीं कर सकता है, क्योंकि जन्म-मरण को बढ़ाने में मोह ही मूलभूत हेतु है। शास्त्रकार ने कहा है—

इत्थ मोहो पुणो पुणो सन्ना,
नो हव्वाए नो पाराए।

बार-बार मोहासक्ति में रहने वाला, मोहासक्ति को नहीं छोड़ने वाला साधक इस संसार के न इस पार रह पाता है न उस पार अर्थात् उसके उभय जन्म बिगड़ जाते हैं।

छोटी सी बात महत्तम कार्य साधिका

शास्त्रकार की छोटी सी बात भी यदि जीवन में उतार ली जाय तो वह भी जीवन का विशिष्ट रूपान्तर करने वाली है। छोटी सी चिनगारी भी बड़ा काम कर जाती है। छोटा मनुष्य भी बड़े-बड़े काम कर जाता है। कभी बड़े लोग हंस उठते हैं छोटे आदमी को देखकर। एक रूपक आया है कि एक पद्म वन में बहुतेरे जन्तु रहते थे। चीते, शेर, हाथी वगैरह रहते थे। उसमें एक हाथी भी रहता था, वह सात सौ हथनियों के साथ मस्ती से घूमता था। उसी वन में एक चूहा भी रहता था। वह बिल से बाहर निकला और उसने जाकर के महाकाय हाथी को नमस्कार किया और कहने लगा—स्वामिन्! मेरा प्रणाम स्वीकार हो। मैं भी आपका अनुचर हूं। आपकी सेवा में रहकर आपकी सेवा करना चाहता हूं। हाथी की दृष्टि उस चूहे की तरफ गई। चूहे का छोटा सा शरीर था। उसको देखकर हाथी हंसा कि यह मेरी क्या सेवा करेगा? उस चहे ने कहा स्वामिन्! मेरा ख्याल रखना। छोटा हूँ तो क्या हुआ? छोटा देखकर मेरी बेकद्री न करो। सेवक की सेवा लेना। हाथी हंसा और दूसरे भी हंसे कि यह हमारी सेवा करने में कैसे कामयाव होगा? संयोग ऐसा बना कि हाथी को पकड़ने वाले बड़े व्यक्ति पहुचे, और उन्होंने ऐसा जाल बिछाया

कि हाथी उसमें फंस गया। हाथी उस जाल को तोड़ नहीं पारहा था। जाल मजबूत था। अब हाथी इधर उधर देखता है कि मेरा बन्धन कौन तोड़ेगा ? कोई नजर नहीं आया। इतने में चूहा दौड़ता हुआ आ गया। और कहने लगा—स्वामी ! आज्ञा हो तो सेवा करूं। परन्तु फिर भी हाथी हंसने लगा कि मैं तो बन्धन में हूं तू क्या इसे तोड़ सकता है ? चूहे ने कहा—मेरा पुरुषार्थ देखिए तो सही। हाथी ने सोचा कि यह सेवा तो नहीं कर सकता है खैर ! इसको कह तो दूं कि सेवा कर। हाथी ने कहा कि सेवा करो। तब वह चूहा दस बीस और चूहों को ले आया, और बन्धन को काट डाला। हाथी को आजाद कर दिया। छोटा जन्तु भी समय पर बहुत कुछ काम कर सकता है। एक तृण भी मनुष्य के काम आ सकता है। मनुष्य कभी-कभी सोचता है कि यह तो छोटा है—यह क्या कर सकता है ?

विलीनीकरण हो भेदभाव का

आज तो छोटे बड़े का बड़ा भेद चल रहा है। धनवान सोचते हैं कि हमारी पार्टी अलग है और गरीब को कहते हैं कि ये क्या कर सकते हैं ? अरे ! किसको छोटा और बड़ा समझते हो ? छोटा जितना आत्म भोग देकर काम कर सकता है उतना बड़ा व्यक्ति नहीं कर सकता है। आप प्रत्येक क्षेत्र में देखिए। आज आपके मकान बनाने वाले कौन हैं ? छोटे आदमी ही बना रहे हैं। जहां आपको कुली की आवश्यकता है तो वे छोटे आदमी ही आयेंगे। छोटे आदमी कहलाने वाले ही काम करेंगे। परन्तु मनुष्य की भावना में छोटे आदमी की क्या कद्र है ? मैं तो समुच्चय रूप में कह रहा हूं। आज सारे संसार की यही बात है। जहां आप भेद भाव की दीवार लगाते हैं, वहां मोह का बन्धन कैसे टूटेगा ? समीक्षण धारा कैसे प्रवाहित होगी ?

लोह बन्धन से भी मोह बन्धन बड़ा

बड़े से बड़े बन्धन तोड़े जा सकते हैं परन्तु मोह का बन्धन तोड़ना बड़ा कठिन है। मेवाड़ के दरबार के पास एक पहलवान पहुंचा और कहने लगा—हुजूर ! मैं बहुत देशों में भ्रमण करके आया हूं। मुझे सब देशों से स्वर्ण पदक आदि मिले हैं। यदि मेवाड़ देश का भी पहलवान हो तो मैं कुश्ती लड़ना चाहता हूं और वह हरा देगा तो सब कुछ भेंट

करके उसका चेला बन जाऊंजा। और वह हार जाए तो मेवाड़ देश से प्रमाण पत्र मिलना चाहिए। महाराणा ने सोचा कि इस गरीब मेवाड़ देश में कहाँ से पहलवान मिल सकता है? परन्तु ऐसा कहता हूं तो मेरे देश की पोजीशन—शान गिरेगी। अतः कहा कि आप अभी विश्राम-गृह में जाइये। समय पर आपको याद कर लिया जायेगा। वह चला गया। और फिर महाराणा इस विषय में अपने राज्य कर्मचारियों से परामर्श करने लगे कि मेवाड़ देश की इज्जत कैसे रहेगी? इस सभा में जेल का आफीसर भी था। वह देरी से आया था, और जब वापिस जेल में गया तो दूसरे लोगों ने पूछ लिया कि आप देरी से कैसे आये? तो जेलर ने कहा कि आज मेवाड़ देश पर आपत्ति आ गई है। एक पहलवान बाहर का आया हुआ है, उससे कुश्ती लड़ना है। तो एक बड़ा कैदी जिसके हाथों में हाथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां थीं, वह अन्दर से बोल उठा कि जो वास्तव में मनुष्य की कद्र करना नहीं जानता हो, मनुष्य का मूल्यांकन नहीं करता हो और बाहरी लिफाफे से बड़ा समझता हो तो उसके सामने आपत्ति नहीं आये तो क्या आये? यह सुनकर जेलर ने कहा कि अरे! तू सजा भुगत रहा है फिर भी ऐसी बातें कर रहा है। उसने कहा—हुजूर! मैं सही बात कह रहा हूं। जेलर ने कहा—क्या तुम्हारी नजर में है कोई? उसने कहा—साहब! क्या कमी है "वहुरत्ना वसुन्धरा" इस वसुन्धरा में पृथ्वी में बहुत रत्न भरे पड़े हैं। यदि दरबार की आज्ञा हो तो मैं कुश्ती लड़ सकता हूं। मैं चेलेन्ज दे सकता हूं। जेलर खुश होता हुआ दरबार के पास गया और निवेदन किया—अन्नदाता! एक कैदी लड़ने के लिये तैयार है, तो दरबार ने कहा—कि कहीं जेल से छूटने के लिये तो तैयारी नहीं कर रहा है? और वह भाग जायेगा तो किसे पकड़ोगे? जेलर ने कहा हुजूर आपके यहां सैन्य दल है, चारों तरफ सैनिकों का पहरा रख दिया जाय। और जेल से उसे सिपाही लोग हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़ा हुआ लायेंगे। और अखाड़े में चारों तरफ सिपाही तैनात रहेंगे, फिर हुजूर! भाग कर कहां जा सकता है? हथकड़ियां-बेड़ियां खोलने के बाद उस पहलवान से कुश्ती लड़ेगा। जेलर वहां से रवाना होकर जेल में गया, और उस कैदी से कहा कि एक शर्त पर तुम पहलवान से लड़ सकोगे कि उस पहलवान को जीत जाओगे तो सजा से मुक्त कर दिये जाओगे और हार गये तो फांसी की सजा मिलेगी। ऑफीसर ने यह शर्त उसके सामने रखी तो कैदी ने कहा—साहब! मुझे मन्जूर है। पहलवान को बुलाया गया। दरबार की तरफ

से चारों तरफ सैनिकों को तैनात कर दिया गया और सावधानी पूरी बरती गई। इधर वह कैदी भी सिपाहियों के पहरे में आ गया। फिर उसके हाथ पैरों की बेड़ियां तुड़वाने के लिए कारीगर बुलवाने की आज्ञा दी गई। परन्तु कैदी ने कहा—आप यह क्या कर रहे हो? तो कहा—कारीगर को बुला रहे हैं। क्योंकि बेड़ी तो छैनी-हथौड़े से ही काटी जायेगी। लोहा लोहे से ही काटा जाता है। तब कैदी ने कहा—हुजूर! आपकी आज्ञा तो है ना कि मेरे हाथ-पैरों में बेड़ियां नहीं रहें? और स्वीकारात्मक प्रत्युत्तर मिला तो उसने कहा कि आप कारीगर को व्यर्थ में कष्ट मत दीजिये। मैं ही इन्हें ठीक कर लेता हूं। तो उसने ऐसे ही हाथों को मरोड़ कर जैसे सूत का धागा टूटता है, वैसे हो बेड़ियाँ तोड़ डालीं। यह देखकर सब आश्चर्य करने लगे कि इतनी ताकत है तुम्हारे अन्दर? जो हथकड़ियां-वेड़ियां छैनी से काटी जाती हैं उन्हें तुमने बगैर छैनी के यों ही तोड़ दीं। तो इतने दिन जेल में कैसे बैठे रहे? कभी भी तोड़ कर भाग सकते थे। वह कैदी कहने लगा—कि हुजूर यह तो लोहे की बेड़ियां हैं, परन्तु मेरे मन की वेड़ियां इनसे अधिक जकड़ी हुई थीं। मेरे पीछे चुन्नू-मुन्नू हैं, यदि मैं वेड़ियों को तोड़ कर चला जाऊं तो उनकी क्या दशा होगी। क्योंकि आप मेरे कारण उनको दण्डित करते। मेरा मोह उन बाल-बच्चों में फंसा हुआ था। यही मोह की जवर्दस्त बेड़ी है।

मोह की बेड़ियां तोड़ो

भाइयो! यह तो एक प्रसंग है परन्तु मुद्दे की बात यह है कि बाहर का वन्धन तोड़ना तो फिर भी आसान है परन्तु मोह का वन्धन तोड़ना मुश्किल है। छोटे से तत्त्व से इसको तोड़ना है। ज्ञान की लाइट, छोटी सी चिंगारी लगा दें, वह छोटी नहीं वहुत महान् है। एक वड़े घास के ढेर को एक छोटी सी चिंगारी खत्म कर सकती है। आप ज्ञान का प्रकाश आत्मा में से निकालें और मोह कर्म की वेड़ियों को तोड़ डालें। मोह तोड़ दिया तो सारे प्रयास आपके सफल हो जायेंगे। मन जव वीरता धारण कर लेता है तो वह सब कुछ कर सकता है। आपका जिन्दगी भर का मोह छोड़कर साधु वन जाना तो मुश्किल है, परन्तु चौवीस घण्टे का मोह छोड़िये। ऐसा कहते हैं तो भी छोड़ना मुश्किल हो जाता है। ये जीवन ऐसे ही जा रहा है कपूर की टिकिया को तरह। यदि सुगन्ध

लेना है तो ले लो, और उड़ गया तो हाथ में कुछ भी नहीं आने वाला है। कपूर की टिकिया को तिजोरी में बन्द करके रख लो, तो क्या वह टिक सकेगी ? नहीं, वैसे ही यह शरीर भी टिक नहीं सकता। तथापि कितना मोह है इस शरीर पर कि एक दया में रहने जाते हो, चौबीस घण्टे तो सोचते हो कि कब दिन उगे और घर जायें ? कई तो रात में भी चले जाते हैं। ये बेड़ियां पड़ी हुई हैं इस मोह की जिसे चौबीस घण्टे भी नहीं छोड़ सकते हैं।

नाशवान शरीर से अविनाशी साधना

कितना ही इस शरीर का यत्न कीजिये। खिलाइये। पिलाइये। परन्तु यह तो निरन्तर धक्का देता हुआ चला जा रहा है। समय रहते जो लाभ ले लेता है वह ज्ञानी है। इस शरीर से लाभ उठा लिया तो उठा लिया। समीक्षण धारा में जो हाथ धो लेता है वह धो लेता है। जितना मोह का त्याग करेंगे उतने ही मोक्ष के नजदीक जायेंगे। जितने कदम बढ़ेंगे उतना ही शहर को नजदीक लेंगे। यह धर्म अन्तराय कर्म को तोड़ने वाला है। मुनिराज धर्म-ध्यान के लिए सदैव कहते हैं। मोह को छोड़ो, आत्म साधना करो। कोई पता नहीं है कि कौन पहले जायेगा, कौन बाद में ? जहां बीकानेर के रामपुरियाजी के इकलौते पुत्र की घटना है। पुत्र की बाईस वर्ष की अवस्था थी और दो साल हुए शादी किए हुये को। उसके मुंह में दांत पर दांत आ गया जिससे करोड़पति के लड़के की सुन्दरता में कमी आ गई। फैमिली डॉक्टर के पास ले गये। उसने दांत निकालने के लिए, स्थान सुन्नता के लिए इन्जेक्शन लगाया। वह इन्जेक्शन ऐसा लगा कि सदा के लिए लड़का चला गया। जीवन का कोई अता पता नहीं है, अतः जितनी अधिक आत्म साधना कर लो, उतना ही अच्छा है। शरीर तो एक दिन जाने वाला है इसमें से जितना माल हाथ से निकालना चाहो उतना ही निकाल सकते हो। जो भी भव्य आत्मा शरीर और आत्मा का भेद विज्ञान कर शरीर द्वारा आत्म जागरण के लिये पुरुषार्थशील बनेंगे तो एक दिन मोह की अनन्त-अनन्त जन्मों में जकड़ी बेड़ियों को तोड़कर परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर सकेंगे।

———

[१६]

भाव अध्यातम निज गुण साधे

- अध्यातम विवेचना नामादि चतुष्प्रकार से
- तत्त्व परीक्षक नामादि चतुष्टय
- भगवान् महावीर और नानादि चतुष्टय
- भाव पूरक नामादित्रय
- नानादि सम्पन्न चित्त अनगार
- लालसा का परिणाम

———

अप्पाचेव दमेयव्वो, अप्पाहु खलु दुद्दमो ।
अप्पादंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थए ।।
—उत्तराध्ययन सूत्र १/१५

अपने आपको दमित / नियंत्रित / संशोधित करना चाहिए, अपने आपका संशोधन करना वस्तुतः बहुत कठिन है । अपने आप पर नियंत्रण रखने वाला साधक ही इस लोक और परलोक में सुखी होता है ।

आत्मा का संशोधन आवश्यक है । यह संशोधन सही रूप में कब हो जाएगा जब यह आत्मा अपने आपका समीक्षण करने लगेगी ।

नाम, स्थापना, द्रव्य का परिकर जो भाव आत्मिक शक्ति पर है । उनका समीक्षण करना होगा । बिना भाव के नानादि जय सही रूप में कार्य साधक नहीं हो सकते ।

....

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी, आतम रामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रे।।
सयल संसारी इन्द्रिय रामी, मुनि गण आतम रामी रे।
मुख्य पणे जे आतम रामी, ते केवल निष्कामी रे।।
निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेहने अध्यातम कहिये रे।
जे किरिया करि चउगति साधे, तेहने न अध्यातम लहिये रे।।
नाम अध्यातम, ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडोरे।
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशु रढ़ मंडोरे।।

बंधुओ ! अनंत अनंत उपकार के केन्द्र तीर्थङ्कर भगवान् जिन्होंने भव्य जीवों पर अनिर्वचनीय उपकार किया। जिस वस्तु को उन्होंने बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया उसी वस्तु का उपदेश देकर जनता के लिए कल्याण मार्ग प्रशस्त किया। वे स्वयं आत्म साधना के लिए निकले। और दृढ़ संकल्प के साथ चल पड़े। दृढ़ संकल्प के साथ आत्म साधना करली। कभी वे पीछे नहीं हटे। शरीर की परवाह नहीं की। मान और अपमान को पीठ के पीछे रखा। उसी दृढ़ लक्ष्य आत्म शुद्धि को सामने रख कर चले, घोरतम जंगल में भी रुके और अनार्य क्षेत्र के घोर परिषह सहे, दैविक उपसर्ग सहे, परिपूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति प्राप्त की तत्पश्चात् आध्यात्मिक उपदेश दुनिया को दिया। मुख्य रूप से यह बात कही कि साधारण जन लोग प्रायः इन्द्रियों में ही रमण करते हैं। परन्तु मुनिगण ही ऐसे हैं, जो आध्यात्म की ही मुख्यता को लेकर चलते हैं। संसार में रहते हुए भी व्यक्ति यदि आध्यात्मिक लक्ष्य बनाकर चले और कुछ देश से, हिस्से से, कुछ हद तक आगे बढ़े तो उसका जीवन भी एक न एक दिन इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ सकेगा। श्रावक व्रत की आराधना करने वाला यदि श्रावक व्रतों की उत्कृष्ट आराधना कर ले तो उसके लिए एक तरह से मोक्ष रिजर्व हो जाता है। वहां उत्कृष्ट पन्द्रह भवों से अधिक नहीं लगते हैं। यदि उसके बीच में साधु जीवन की आराधना करले तो पहले भी मोक्ष में जा सकता है।

अध्यात्म विवेचना नामादि चतुष्प्रकार से

मुक्ति प्रदायक अध्यातम साधना क्या है ? उसको ठीक तरह से समझने की आवश्यकता है। अध्यात्म शब्द है। शब्द अध्यात्म नहीं है।

परन्तु इसके पीछे जो रहा हुआ अर्थ है, वह आध्यात्मिक जीवन का सूचक है। कवि आनन्द घनजी ने दुनियां को स्पष्ट ज्ञान की दृष्टि से श्रेयांस भगवान् की प्रार्थना करते हुए स्पष्ट बात कह दी। और नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव भेद से अध्यात्म को विभक्त किया जैसी कि कविता है:—

नाम अध्यात्म ठवण अध्यात्म, द्रव्य अध्यात्म छंडो रे।
भाव अध्यात्म निज गुण साधे, तो तेहशु रढ़ मंडो रे।।

भाषा उन्नीसवीं सदी की हैं। उसमें शास्त्रीय भावों को भरा गया है।

तत्त्व परीक्षक नामादि चतुष्टय

तीर्थङ्करों ने वस्तु की पहचान के लिए चार बातें बताई हैं। स्वर्ण सही है या गलत है इसका ज्ञान करने वाला व्यक्ति क्या करता है—कष, ताप और छेद। परीक्षक पहले कसौटी पर कसता है। कसने पर कसौटी पर यदि सही उत्तर गया तो कहता है कि स्वर्ण असली है। यदि कसौटी पर सही नहीं उतरा, कुछ कमी रह गयी तो ताप देकर उसको देखता है और ताप में भी यदि पूरी परीक्षा नहीं हुई तो छेदता है, काट कर देखता है। यह आपके व्यवहार में आने वाली सोने की परीक्षा है। वैसे ही भगवान् ने आत्मा को समझाने के लिए चार कसौटियें बताई हैं। प्रत्येक तत्त्व को समझाने के लिये मुख्य रूप से इन चार कसौटियों को काम में लिया जाता है। वे कौन सी चार बातें है? उनको आप सब को ध्यान में रखना है। एक नाम, दूसरा स्थापना, तीसरा द्रव्य और चौथा भाव है। उदाहरण के तौर पर आप समझ लीजिए कि किसी मनुष्य की पहिचान करनी है। मनुष्य की पहिचान करने के लिए मनुष्य नाम यह आवश्यक है। मनुष्य नाम जिसका रखा गया उसकी आकृति भी मनुष्य की होनी चाहिए। यह स्थापना हो गई। द्रव्य पिण्ड—इसमें हाड़, मांस, लोही होने चाहिए। और भाव की दृष्टि से मनुष्य जीवन का भाव—मनुष्यपना, इन्सानियत, मनुष्यता होनी चाहिए। ये चार बातें मनुष्य में हैं तो वह खरा मनुष्य है। किसी लकड़ी का नाम मनुष्य दे दिया, उसमें पुरुष की आकृति भी ला सकते हैं किन्तु भावात्मक पुरुष की स्थिति कभी काष्ट में नहीं बन सकती। वैसे ही भगवान् का स्वरूप है, भगवान् का परिपूर्ण आध्यात्मिक रूप है।

भगवान् महावीर और नामादि चतुष्टय

भगवान् के स्वरूप को जानने के भी चार तरीके हैं। जैसे महावीर-महावीर नाम लेते ही भ. महावीर याद आते हैं। यह नाम है। परन्तु जेठमल जी के लड़के का नाम भी महावीर है, तो महावीर शब्द से क्या भ. महावीर को समझ लेंगे ? नहीं ! महावीर के नाम के साथ महावीर की आकृति होनी चाहिए नाम के महावीर है। परन्तु आकृति महावीर की—महावीर का शरीर वैसा नहीं है तो महावीर केवल संज्ञा मात्र हैं। जैसे यह अमुक का लड़का है बस ! इतनी ही संज्ञा होती है। परन्तु महावीर नाम के साथ आकृति आनी चाहिए। महावीर के मोक्ष में पधारने के बाद उनके शरीर की आकृति तो थी ना ? परन्तु उस आकृति को क्या आप महावीर कहेंगे ? वह भी महावीर नहीं हुआ। क्योंकि महावीर रहे नहीं। महावीर तो मोक्ष में हैं। उस आकृति को महावीर कहें तो वह तो जलाया गया। देवों ने चन्दन से दाह संस्कार किया। वह स्थापना कहलाती है। यदि उससे ही भ. महावीर की पूर्ति होती तो देवता उनको सुरक्षित रख लेते। आज जो वैज्ञानिक लोग हैं वे किसी मनुष्य के कलेवर को आकृति को सुरक्षित रखना चाहें तो उसमें मसाला भर कर रख लेते हैं। म्युजियम में आपको देखने को मिल भी जाता है। जहां वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जो मसाला भरा जाएगा, उसको सुखाकर भरा जाएगा। ऐसा मसाला होता है कि जिसमें सम्मूर्च्छिम जीव पैदा नहीं होते हैं, और उसमें सड़ांध नहीं होती है। आप ने देखा होगा कि किसी का आपरेशन हुआ और बड़ी गठान निकाली उसे दिखाने के लिए उसको केमिकल्स में रखते हैं। परन्तु यदि वही गांठ बाहर पड़ी रह जाती तो उसमें दुर्गन्ध पैदा हो जाती। देवता तो वैज्ञानिकों से अधिक कलाकार हैं। वे विशिष्ट पुद्‌गल डाल देते। इस दृष्टि से यदि देवता लोग चाहते तो भगवान् के शरीर की आकृति को वैसी की वैसी ही रख लेते। नाम तो महावीर था ही, और आकृति, स्थापना भी हो जाती। परन्तु शरीर को जला दिया। क्योंकि इससे भ. महावीर की पूर्ति नहीं होती। तीसरी कसौटी है द्रव्य। हाड़, मांस और अन्दर के तत्त्व हैं। उनके मांस को तो कदाचित सुखा देते परन्तु हड्डियों का ढांचा तो रख लेते ? यदि वह भी रह जाता तो तीन बातों की पूर्ति हो जाती कि नाम, स्थापना, और द्रव्य। परन्तु ये तीन चीज नहीं रखी। क्योंकि इसमें भ. महावीर की पूर्ति नहीं होती। अतः तीनों चीजों को जला दिया। भाव रूप से

शरीर में भ. महावीर की यदि आत्मा होती तो सभी नमन करते अतः भाव ही मुख्य है, नामादि तो उसके पूरक हैं। बिना भाव के नामादि कोई काम के नहीं हैं।

भाव के पूरक नामादित्रय

किसी वच्चे का नाम अध्यात्म रख दिया हो तो आप उसे अध्यात्म मत समझना। किसी पाटी पर या पुस्तक पर लिख दिया अध्यात्म, तो उसको भी आध्यात्मिक नहीं समझना और उसको भी छोड़ देना। द्रव्य अध्यात्म—जो आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान रखने वाले थे परन्तु उनकी आत्मा चली गई अब उनका शरीर पड़ा हुआ है वह द्रव्य अध्यात्म है। अथवा भविष्य में कोई आध्यात्मिक ज्ञान सिखाने वाले हैं तो भी द्रव्य अध्यात्म है। ये तीन हो गये। परन्तु आनन्दघनजी कहते हैं—इन तीनों को छोड़ो। तुम्हें आध्यात्मिक साधना में काम देने वाले नहीं हैं। यदि भाव अध्यात्म सहित ये तीनों बातें हैं—आध्यात्मिक नाम हो, आकृति भी हो और आध्यात्मिक जीवन भी हो, भावना भी हो, तभी वह अध्यात्म दृष्टि से अध्यात्म कहलाता है। बन्धुओ यह चिन्तन का विषय है। इसको ध्यान में लोगे, कसौटी हाथ में रखोगे तो आप सबको पहचान सकते हो। जड़, चेतन को पहचानने के लिए कसौटी है। सोने, चांदी की कसौटी तो याद रखते हो परन्तु यह याद रखोगे या नहीं ? कभी पूछोगे तब पता चलेगा। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों में से भाव नहीं है—तीन हैं तो वे काम नहीं आ सकते हैं।

नामादि सम्पन्न चित्त अनगार

अभी आप शास्त्र श्रवण कर रहे थे। जहाँ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को मुनिराज समझा रहे हैं। एक तरफ चक्रवर्ती जिसके पास छः खण्ड का साम्राज्य है, और आनन्द लूट रहा है। इधर चित्त मुनिराज हैं जो कि आध्यात्मिक साधना करने वाले है। उनमें नामादि चारों बातें पाई जाती हैं। चित्त मुनिराज को आध्यात्मिक मुनि कह सकते हैं। उनकी आकृति मुनि की है, मुँह पत्ती, ओघा है, और द्रव्य में उनका शरीर पिण्ड है। भाव में वे परिपूर्ण अध्यात्म की साधना करने वाले हैं। नामादि चारों से युक्त हैं। उनसे ओत-प्रोत होकर ब्रह्मदत्त को समझा रहे है। अरे वन्धु! क्या कर रहे हो ? कई भवों में अपन साथ रहे हैं। इस भव में क्यों पीछे रहते हो ? अव भी आ जाओ ! चक्रवर्ती के पद पर रहते हुए कभी भी

मोक्ष होने वाला नहीं है। छः खण्ड का राज्य तुमको तिराने वाला नहीं है। उनके पास कितनी बड़ी ऋद्धि होगी कल्पना करो। जब इतनी बड़ी ऋद्धि भी तिराने वाली नहीं है तो आज के मनुष्य के पास कितनी सी ऋद्धि है ? नाम मात्र की है। परन्तु आज का व्यक्ति एक कौड़ी की ऋद्धि भी नहीं छोड़ सकता है। प्रभु ने भौतिक ऋद्धि को महत्त्व न देकर आत्मा को महत्त्व दिया है। भगवान् महावीर ने कहा है कि तुम इस आत्मा का दमन करो। कहा है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पाहु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सि लोए परत्थए॥

"अपनी आत्मा का दमन, संशोधन करना ही दुर्दमनीय है। जो कोई आत्मा अपने आप का दमन करती है वह इस भव–पर भव दोनों भवों में सुखी हो जाती है। किन्तु आज का मानव आत्मा की ओर से उपेक्षित होकर भौतिक पदार्थों को पाने की लालसा में दौड़ रहा है। अध्यात्म को भूल भौतिकता में दौड़ लगा रहा है। ऐसा भौतिकवादी कभी भी शांति प्राप्त नहीं कर सकता।

लालसा का परिणाम

एक लालसाराम नाम का सेठ था। पूर्व जन्म के पुण्योदय से बहुत पूंजी पाई। परन्तु संतों के पास कभी नहीं जाता। कोई धर्म करता तो उसके भी अन्तराय डालता रहता था। इससे उसका अन्तराय कर्म इतना बढ़ गया कि यहां से मरकर वह ब्राह्मण कुल में जन्मा। और वहां भी कर्कशा स्त्री मिली। पति-पत्नी प्रतिदिन लड़ते रहते थे। एक दिन उसकी पत्नी बोली—कि मैंने इस घर में आने के बाद न तो राता पहिना और न ताता खाया। मैं गर्भवती हूँ, बच्चा आने वाला है। पहिले चार पैर थे, और अब छः पैर हो जायेंगे। यदि यही हाल रहा तो क्या करेंगे। क्या तो तुम खाओगे और क्या बच्चों को खिलाओगे ? ऐसी स्थिति थी तो क्यों शादी की ? मुझे यहां क्यों लाए ? ब्राह्मण ने कहा कि मेरी बुद्धि नहीं चलती है। मैं कमा नहीं सकता हूँ। तब उसकी स्त्री कहने लगी कि पूर्व जन्म में पाप किया होगा तो मेरे जैसी स्त्री मिली। लालसाराम ने कहा कि अब तू ही बता कि कहां जाकर कमाई करूँ ? स्त्री ने कहा—कि स्वर्णिम भूमि है वहां जाओ। वहां

कमाई होगी। लालसाराम गया। वहां जाकर कमाई करने लगा। मजदूरी करता तो कुछ मिलता। परन्तु विशेष कमाई नहीं होती। अन्तराय कर्म हो तो एड़ी से चोटी तक पसीना बहा दो फिर भी कुछ नहीं मिलता किन्तु स्त्री का डंडा सामने था। कम से कम जापे जितना बचाकर ले जाना था। अतः लालसाराम जी ने पेट में कम खाया। इस प्रकार बचाते-बचाते हजार मोहरें इकट्ठी कर लीं। उन्हें लेकर रवाना हुए। रास्ते में एक इन्द्र जालिया मिल गया। उसने उसको प्रसन्न मुद्रा में आते देखा तो समझ गया कि इसके पास कुछ है। बोला—ब्राह्मण देवता! क्या है तुम्हारे पास? लालसाराम जी बोले—कि हजार मोहरें कमा कर लाया हूँ। इन्द्र जालिया बोला—ब्राह्मण देवता! मुझसे कोई धोखा होने वाला नहीं है। परन्तु आगे लुटेरे हैं अतः आप यहीं रुक जाओ। ब्राह्मण देवता वहीं रुक गये। इन्द्र जालिया ने उसके सोने के लिए—चादर बिछाकर खुद एक दिशा में जाकर एक षोडसी नव यौवना स्त्री एवं एक वृद्धा तथा एक वृद्ध का रूप बनाकर उस ब्राह्मण के पास पहुँचा। ब्राह्मण ने उन तीनों को देखा और पूछा आप कहां जा रहे हैं? तो कुँआरी कन्या साथ थी। उसे देखकर ब्राह्मण देवता आसक्त हो गये। षोडसी ने कहा कि यह मेरी माँ है और ये मेरे बाप हैं। मेरी शादी करने के लिए जा रहे हैं। लालसाराम जी बोले—कहाँ ढूंढोगे? मेरे साथ ही शादी कर दो। मैं हजार मोहरें कमाकर लाया हूँ। लो ये ले लो, हजार मोहरें देकर ब्राह्मण देवता उस लड़की के साथ रवाना हुए। यह नहीं सोचा कि पहली पत्नी तो संभल ही नहीं रही है, दूसरी को कैसे संभालूँगा? आगे बढ़े तो वह स्त्री भी गायब हो गई। अब लालसाराम जी खाली हाथ हैं। एक गांव के नजदीक वृक्ष की छाया में सो गये। स्वप्न आया। उसके सामने मायावी देवी आई। कहने लगी—कि फिक्र मत कर। तेरे घर में सोने के चरू गड़े हुए हैं, परन्तु पहिले मत खोदना। पहिले परिवार और समाज वालों को जिमाना। इतने ही में कुत्ता भौंक गया। उसका स्वप्न टूट गया। अब वह घर गया। तो उसकी स्त्री खुश हुई कि कुछ लाए हैं। वह नम्र बन गई, सोचा कि कुछ न कुछ गहरी सम्पत्ति लाए हैं। उसने पूछा कि बात क्या है?—तो लालसाराम जी बोले—कि पडौसी से कुछ सामान उधार लाओ और पहले परिवार, समाज वालों को जिमाओ और फिर मैं कहूँगा। उसकी पत्नी जैसे तैसे उधार सामान लाई और सबको भोजन कराया फिर पूछा कि बताओ, तो वह दीवार खोदने लगा। एक तरफ की दीवार गिरा दी, तब पड़ौसी कहने लगे कि क्या

[२०]

रक्षा बन्धन : एक विश्लेषण

- अर्थ का गम्भीर अर्थ
- समीक्षण करो : अन्तरंग का
- दमन नहीं : संशोधन करो
- रक्षा बन्धन : आत्मा की रक्षा हो
- पौराणिक आख्यान
- जैन परम्परा की कथा
- ऐतिहासिक घटनाएँ
- रक्षा बन्धन और आज का वातावरण

———

"सव्वओ पमत्तस्स भयं
सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।"

—आचारांग सूत्र १/३/४

प्रमत्त को सब ओर से भय रहता है।

अप्रमत्त को किसी भी ओर से भय नहीं रहता है।

अगर आत्मा की रक्षा करनी है, उसे निर्भय बनाना है, तो अप्रमत्त भाव जागृत करना होगा। जब तक प्रमत्त स्थिति रहेगी, विषय कषाय आत्मा में भरा रहेगा, तब तक आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती। आत्मा की रक्षा करने के लिए अप्रमत्तताचरण अपनाना होगा। विषय कषायों को शमित्त करना होगा। आत्मा का इनसे संशोधीकरण करना होगा। तभी आत्मा की वास्तविक रक्षा होगी।

———

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी, आतंमरामी नामी रे।
अध्यातम मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे।।
नाम अध्यातम ठवणा अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडोरे।
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशु रढ मंडोरे।।

।। श्री श्रेयांस ।।

बन्धुओ ! उन परम पवित्र अनन्त सूर्यों से भी अधिक प्रकाश पुञ्ज स्वरूप तीर्थङ्करों ने जो अमूल्य उपदेश दिया और उस अमूल्य उपदेश के अन्दर ऐसा कुछ नवनीत दिया कि जिस नवनीत को दुनिया के अन्य व्यक्ति नहीं दे सके वे चाहे भौतिक विज्ञान के वेत्ता हों, साहित्य की दृष्टि से उच्च कोटि के साहित्यकार हों, व्यापार की दृष्टि से बड़े-बड़े व्यापारी, मिल मालिक, ऑफीसर या राजनैतिक तंत्र के नेता लोग हों। इन सब के भिन्न विषय हैं। और सभी विषयों का हम औसतन चिन्तन करें, तो सभी एक अर्थ में समाविष्ट हो जाते हैं—अर्थ के इर्द-गिर्द। अर्थ के चारों ओर दुनिया घूम रही है। अर्थ का मतलब सिर्फ नाम है। नाम तो है परन्तु उपलक्षण से स्वयं की जिन दृश्यों से, सुख-सुविधाओं की दृष्टि से जिन-जिन भौतिक उपलब्धियों की आवश्यकता है उन्हीं वस्तुओं के पीछे जीवन की समर्पणा और उन्हीं विषयों को प्रमुखता देना, यह भी इस अर्थ के अन्तर्गत है। यह जो अर्थ का व्यापक अर्थ है, इसका दुनिया में रहने वाले व्यक्ति सहज रूप में ज्ञान कर सकते हैं।

अर्थ का गम्भीर अर्थ

जो इन अर्थों का व्यापक अर्थ करने वाला, जो सब अर्थों को समझने वाला, सभी आन्तरिक सौंदर्य और वैभव अवस्था का आनन्द लेने वाला, महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, उस महत्त्वपूर्ण तत्त्व को आज दुनिया विस्मृत कर रही है। उसको उभारने के लिए तीर्थङ्कर देवों ने स्वयं परिपूर्णता पाकर मानव को इस आध्यात्मिक तत्त्व का उपदेश दिया। तीर्थङ्कर देव बड़े दयालु थे। वे अपने ज्ञान में भली भांति जानते थे कि कुछ के लिए सुख का उपदेश या सुख की उपलब्धि कराने वाले बहुत मिल जायेंगे। परन्तु जीवन के स्थायी तत्त्व को प्रकट कराने वाले और स्थायी शांति का मार्ग बतलाने वाले विश्व में कम मिलेंगे। मूलभूत उपदेश का कथन विविध रूप में किया जाता है, क्योंकि शुद्ध घृत मनुष्य

खा नहीं सकता है। वह शुद्ध घी की डली मुंह में रखता है। परन्तु अधिक खा नहीं सकता है। अतः चतुर व्यक्ति अपने शरीर की पुष्टि के लिए घी और शक्कर को आवश्यक समझ कर और विभिन्न तरीके से अन्य तत्त्वों में मिलाकर खा लेते हैं। वैसे ही आध्यात्मिक जीवन की पुष्टि आत्मशक्ति के विकास के लिए जो प्रभु महावीर ने और अन्य तीर्थङ्करों ने उपदेश दिया है, उस उपदेश रूप मिठाई और घृत को विविध रूप से ज्ञानी जन श्रोतागण के समक्ष रखते हैं। शाश्वत शांति की विवेचना कल मैं आपके समक्ष नाम, स्थापन, द्रव्य, भाव माध्यम से कर गया था। शायद आप लोगों की स्मृति में होगा।

समीक्षण करो : अन्तरंग का

जीवन का चरम लक्ष्य पाने के लिये अन्तरंग के जीवन का समीक्षण करना होगा। अन्तरंग में जहां ज्ञान की पवित्रता और निर्मलता रही हुई है, वहीं पर अज्ञान की अशुद्धि भी रही हुई है। इसी अन्तरंग में जहां ज्ञान का कल्पतरु है, वहीं अहंकार का विषैला वृक्ष भी है, इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक तत्त्व एक ही स्थल पर समाए हुए हैं। साधक को अपने अन्तरंग का विचक्षण प्रज्ञा से समीक्षण करना होगा, सम्यक् प्रकार से वीक्षण करने के बाद ही संशोधन किया जा सकता है। जिस प्रकार कंकर भरे धान्य से संशोधन द्वारा कंकरों से धान्य अलग किया जा सकता है वैसे ही आत्मा और कर्म की एकाकारता का समीक्षण कर सत्पुरुषार्थ के द्वारा उसका संशोधन करना चाहिए।

दमन नहीं : संशोधन करो

प्रभु ने जो आत्मा को दमन करने के लिये कहा—उसका तात्पर्य है आत्मा का संशोधन करो। शास्त्रकारों ने आठ प्रकार की आत्मा बतलाई है। द्रव्य आत्मा, कषाय आत्मा, योग आत्मा, उपयोग आत्मा, ज्ञान आत्मा, दर्शन आत्मा, चारित्र आत्मा व वीर्य आत्मा। सिद्ध अवस्था में उपर्युक्त आठ आत्माओं में से प्रायः चार आत्मायें—ज्ञान, दर्शन, द्रव्य, उपयोग आत्मा ही अवशेष रहती हैं। कहीं-कहीं छः आत्मायें भी मानी जाती हैं।

अतः स्पष्ट है कि एक ही आत्मा में स्वभाव-विभाव दोनों अवस्थाओं के सम्मिश्रण हो जाने से उसकी विकृत अवस्था बनी हुई है।

उसे संशोधित करना है । काषायिक विभावों को आत्मा से अलग हटाना होगा ।

रक्षा बन्धन : आत्मा की रक्षा हो

आज रक्षा वन्धन का भी प्रसंग है । आज जो धागे बांधने की रस्म अदा की जाती है उसके प्रति कुछ विचार करना आवश्यक है । धागा वांधना महत्त्वपूर्ण कार्य है, परन्तु धागा वाहर का नहीं हो, धागे को गुण भी कहा जाता है, गुण का धागा यदि आत्मा के बांध दिया जाय अर्थात् आत्मा की रक्षा की जाय । आत्मा जिन तत्त्वों से दब रही है उनको दबा दिया जाय तो आत्मा का निर्मल ज्ञान प्रकट हो सकता है । शास्त्रकारों ने कहा है :—

सव्वओ पमत्तस्सस भयं

सव्वओ अप्पमत्तस्यं नत्थि भयं

प्रमत्त को सव ओर से भय रहता है । अप्रमत्त को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता । अगर आत्मा की रक्षा करनी है, उसे निर्भय बनाना है तो अप्रमत्त भाव जागृत करना होगा । जब तक प्रमत्त स्थिति रहेगी, विषय कषाय आत्मा में भरा रहेगा, तब तक आत्मा की रक्षा नहीं हो सकती है । आत्मा की रक्षा करने के लिए अप्रमत्ताचरण अपनाना होगा । विषय-कषायों को दमित करना होगा । आत्मा का इनसे संशोधीकरण करना होगा । तभी वास्तविक रक्षा होगी ।

पौराणिक आख्यान

रक्षा वन्धन सम्वधित घटनायें सम्भव है आप प्रति वर्ष सुनते होंगे । भारत में दो संस्कृति प्रख्यात हैं । श्रमण संस्कृति और ब्राह्म संस्कृति । जहां वाह्मण संस्कृति में प्रचलित है कि देव और दानवों में संघर्ष छिड़ा । दानवों का राजा वलि वह कुछ ऐसा अनुसंधान कर रहा था कि जिससे वह देवों पर हावी हो जाना चाह रहा था और देवों को दबाकर, देवों के गौरव को नष्ट करके दानवों का साम्राज्य स्थापित करना चाहता था । इधर देव विष्णुजी के पास गये और अपना आत्म निवेदन किया कि हम दानवों से दवते हुए चले जा रहे हैं । हमारा

गौरव समाप्त हो रहा है। दानवों की स्थिति बढ़ रही है। आप पधारिए और हमारी रक्षा कीजिए। तब विष्णुजी पहुंचे। उन्होंने बौना रूप बनाया, बलि को दबाया और देवों के गौरव को कायम रखा। यह कथा भाग आपके सुनने में आता होगा। मैं थोड़े में इसका सार दे रहा हूं। जहां ब्राह्मण संस्कृति में पुराणों की दृष्टि से जो दानवों की, राक्षसों की स्थिति थी, तो विष्णु ने उनको दबाया और देवों की रक्षा की तथा उनको शान्ति दी।

जैन परम्परा की कथा

जैन संस्कृति में अकम्पन आचार्य सात सौ शिष्यों के साथ उज्जैन में पधारे। उज्जैन के सम्राट् के दीवान बृहस्पति आदि नास्तिक थे। आत्मा के स्वरूप को नहीं मानते हुये भौतिकता को प्रश्रय देते थे। सन्तों की मजाक उड़ाते थे। धार्मिक जीवन को खराब समझते थे। क्रूर वृत्ति वाले थे। खास तौर पर श्रमण संस्कृति पर उनकी अधिक क्रूरता थी। सम्राट् कभी अकम्पनाचार्य के दर्शनों के लिये जाने की तैयारी करने लगा तो दीवान ने कहा—कि क्या पड़ा है वहां? कोई तथ्य नहीं है, परन्तु सम्राट् गये तो उनको भी जाना पड़ा साथ में। अकम्पन आचार्य को पहले ही जानकारी थी, अतः सब शिष्यों को सूचना कर दी कि सम्राट् आ रहे हैं, परन्तु उनका दीवान जिज्ञासु वृत्ति वाला नहीं है। वह दूसरों को परास्त करके स्व अहंकार को तृप्त करना चाहता है। ऐसे व्यक्तियों से बोलना श्रेयस्कर नहीं है। सम्राट् उन सब अधिकारीगणों के साथ दर्शन करके बाहर निकले तो बृहस्पति आदि नास्तिक मत वालों ने मजाक की कि कुछ बोले नहीं। अरे! कुछ आता तो बोलते। बस! मूक बनकर बैठ गये। परन्तु योग से रास्ते में आचार्य श्री के दो शिष्य भिक्षावृत्ति लेकर आ रहे थे। सम्राट् ने एक वृक्ष के नीचे, उनके दर्शन किये। पीछे से दीवान आदि भी पहुंच गए और उनसे प्रश्न करने लगे। उन्होंने उसी ढंग से उसका जवाब दिया, जिसे सुन उनके अहंकार की स्थिति डांवाडोल हो गई।

जब व्यक्ति के अहंकार को चोट लगती है तो वह तिलमिला उठता है। दीवान ने देखा कि अरे! इनमें तो ज्ञान-विज्ञान बहुत है। यदि ये कुछ दिन टिक गए तो हमारी अहंकार की वृत्ति पनप

नहीं सकेगी। रात्रि में षड़यन्त्र रचा—प्लान बनाया, और मुनियों की घात करने की सोची, नंगी तलवारें लेकर निकल गए। अकम्पन आचार्य ने अपने ज्ञान के माध्यम से दोनों शिष्यों से पूछा कि तुम्हें रास्ते में कोई मिला था ? उन्होंने कहा—हाँ ! सम्राट् और दीवान मिले थे, दीवान ने हमसे प्रश्न किए थे और हमने उत्तर दिए। आचार्य श्री ने कहा कि मैंने शिष्यों को आदेश दिया उसके पहले ही तुम भिक्षा के लिए चले गये। इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। परन्तु बोलना नहीं चाहिए था। क्योंकि ऐसे अहंकारी पुरुष से बोलना योग्य नहीं रहता, तुम्हारे उत्तर से वे खिन्न हो गये हैं, सात मुनियों पर आपत्ति आने वाली है, अतः तुम शक्ति से रोको। दोनों मुनि सूर्यास्त से पहले रात्रि निवास करने की सोच लेते हैं। शास्त्रीय विधान है कि आवश्यकता के अनुसार वृक्ष के नीचे भी मुनि ठहर सकते हैं। आचार्य की आज्ञा से वे मुनि उसी वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े हो गए। आध्यात्मिक उज्ज्वल धारा बहने लगी। आधी रात्रि को दीवान और उसके साथी जहर लिप्त नंगी तलवारें लेकर आए। वे सात सौ मुनिराजों की घात करना चाहते थे। किन्तु रास्ते में वे दोनों मुनि मिल गए। सोचा कि पहले यहीं मंगलाचरण कर लो, तलवारें उठा लीं, मारने के लिए। तलवारें उठ तो गईं परन्तु आध्यात्मिक बल जहां होता है, वहां भौतिक बल टिक नहीं सकता।

आध्यात्मिक बल की ताकत बहुत बड़ी होती है, दोनों मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। उनके अन्दर से कौन सा प्रवाह निकल रहा था—क्या प्रवाह चल रहा था, मैं उसको नहीं कह रहा हूं। रक्षा बन्धन पर जो मुद्दे की बात कहनी है वही कहना चाह रहा हूं। उनकी तलवारें ऊपर ही रह गयीं। हाथ खम्भे की तरह खड़े ही रहे। रात्रि भर दोनों मुनियों के ध्यान था, और इनके भी ध्यान हो गया है। भगवान ने चार प्रकार के ध्यान बताए हैं—आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान। चार ध्यानों में से यह आत्मा किसी न किसी ध्यान में रहती ही है। दीवान आदि का ध्यान क्रूर था, तलवारें लेकर वहां खड़े हुए थे, और मुनियों का ध्यान धार्मिक था। जब प्रातःकाल हुआ, सूर्य की प्रभा आने लगी, लोग बाहर निपटने के लिए आने लगे। लोगों ने देखा तो उनके रोंगटे खड़े हो गए कि अरे ! मुनियों पर उन्होंने तलवार उठाई। ये सारे विश्व के प्राणियों का घात करने वाले हैं। क्योंकि सारे

प्राणियों के संरक्षक अभय दान देकर चलने वाले इन धर्मी पुरुषों पर तलवार उठाई है । सम्राट् को सूचना दी गई कि आप कैसे सोये हुये हैं ? कैसा दीवान रखा है ? सुनते ही सम्राट् घटनास्थल पर दौड़कर गये और उनको पकड़वाया । प्रात:काल का समय हो गया था । अत: मुनिराज ध्यान पूर्ण कर आचार्य प्रवर की सेवा में पहुंच गए । सम्राट् ने उन दीवान आदि को देश निकाला दे दिया । दीवान ने सोचा कि इन मुनियों ने हमारी बेइज्जती कराई है । अब इनसे बदला लेना है । वह दीवान वहां से चल कर एक चक्रवर्ती महाराज के राज्य में पहुंच गया और अपनी कला से वहां का मन्त्री बन गया ।

आचार्य श्री भी सात सौ शिष्यों के साथ उसी नगर में पहुंच गये । दीवान ने वहां ऐसा कार्य किया कि वहां के राजा के मुंह लग गया । एक दिन सम्राट् ने खुश होकर वरदान देने को कहा । तो इसने कहा— अभी आपके भण्डार में रहने दीजिए जब आवश्यकता होगी तब मांग लूंगा । अब इसने सोचा अकम्पन आचार्य आ गए हैं और चक्रवर्ती का छ: खण्डों में राज्य है । राजा ने वरदान देने के लिए कह रखा है । अब अच्छा मौका है, मेरे अपमान का बदला लेने का । अब वरदान मांग लूं । उसने सम्राट् से वरदान मांगा । महाराज ने पूछा क्या वरदान मांगते हो ? दीवान ने कहा—हुजूर ! मैं आठ रोज के लिए सर्व सत्ता के साथ राज्य माँगना चाहता हूँ—वह मिलना चाहिये । आप अन्त:पुर में चले जायें, किसी प्रकार का आपका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये । चक्रवर्ती महाराज ने वचन दे रखा था । अत: सारा राज्य मंत्री के हाथों में देकर महल में चले गये । दीवान गद्दी पर बैठ गया । इसने सात दिनों में सात सौ मुनियों का काम तमाम करने का विचार कर लिया । कोई कुछ भी नहीं कर सकता था । सारे नगर में तहलका मचा हुआ था कि अब क्या होगा ? इसी समय दो मुनि गुरु के शिष्य किसी गुफा में ध्यान कर रहे थे । स्वाध्याय कर रहे थे । आकाश का पलेवन करने के लिये उनके गुरु बाहर निकले तो देखा कि श्रावण मास की पूर्णिमा है आज श्रावण नक्षत्र कांप रहा है । इसे देख जोर से बोल उठे कि "अहो कष्टम् ! अहो कष्टम् !" भयंकर विपत्ति ! भयंकर विपत्ति ! ये गुरु के शब्द शिष्य ने सुने तो सोचा कि गुरुदेव पर कोई आपत्ति आ गई है, बाहर आया और पूछा—गुरुदेव क्या हुआ ? गुरुदेव ने कहा कि आज सूर्योदय होते ही सात सौ मुनियों की घात होने वाली है । शिष्य ने पूछा कि ऐसे

समय में कुछ हो सकता है ? तो गुरुदेव ने कहा कि ऐसे समय में रक्षा करने वाली ताकत तो लब्धिधारी मुनि में हो सकती है। चक्रवर्ती महाराज के छोटे भाई जो मुनि बने हुए हैं वे अन्य गुफा में ध्यान कर रहे हैं, उनमें यह लब्धि है। वे यदि रक्षा का बीड़ा उठायें तो साधकों की बहुत बड़ी रक्षा का प्रसंग है। पर उन्हें सूचना कौन दे ? तब शिष्य ने कहा कि गुरुदेव ! कुछ लब्धि तो मुझ में प्रकट हुई है। मैं वहाँ तक जा तो सकता हूँ, परन्तु आ नहीं सकता। तब गुरु ने कहा—कि कोई बात नहीं। तुम वहाँ पहुँच जाओ और उनको सूचना दे दो कि लब्धि प्रयोग से सूर्योदय होते ही राजधानी में पहुँच जायें।

शिष्य गया और विष्णुकुमार मुनि के समक्ष सारी स्थिति स्पष्ट की और कहा कि आप वहां पहुँचिए और रक्षा कीजिए। विष्णु कुमार मुनि लब्धि प्रयोग से वहाँ पहुँचे और सम्राट् से जाकर मिले। कहने लगे—राजन् ! यह क्या हो रहा है ? आपने छः खण्ड साधे और ऐसे ऐरे गैरे दीवान को हुकूमत की इजाजत दे दी। उसने ऐसा ऐलान करवा दिया है कि सूर्योदय होने से पहले-पहले सात सौ मुनियों की घात हो जायेगी। सम्राट् ने कहा—क्या करूं ? मैंने तो जबान दे दी है। अब मैं कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। सूर्योदय होने पर ही मैं मुँह खोल सकता हूँ। विष्णु कुमार मुनि ने कहा कि—यदि पहले ही यह मामला हो जाएगा तो आप क्या कर सकते हैं ? तो सम्राट् ने कहा कि उसमें छः खण्ड की ताकत है। मुझे भी जेल में डाल सकता है। परन्तु आप यह कार्य कर सकते हैं। तब विष्णु कुमार मुनि ने बौना रूप बनाया और दीवान के पास पहुँचे। दीवान अभी चक्रवर्ती पद को लेकर चल रहा था। उसे जाकर कहा कि आप यहां यज्ञ कर रहे हो, तो दान देने की स्थिति भी होनी चाहिये। दीवान ने कहा—हां दे सकता हूं आपको। परन्तु उन मुनिराजों को नहीं दे सकता हूँ। मुनि ने कहा उनको मत दीजिए। परन्तु मैं तो चक्रवर्ती का छोटा भाई हूँ और मुनि बनकर आया हूं। मुझको स्थान दीजिए। उसने पूछा क्या चाहते हो ? विष्णु कुमार मुनि ने कहा—कि साढ़े तीन कदम जमीन चाहिए। दीवान ने कहा—बस ! साढ़े तीन कदम जमीन चाहिये ! अच्छा ! भूमि ले लीजिये। ज्यों ही दीवान ने भूमि को देने के लिये वचन दिया, तब विष्णु कुमार मुनि ने विराट् रूप बनाकर तीन पैर में सारी जमीन माप ली, अब आधा पैर कहां रखा जा सकता था ?

पुराण की कथा के अनुसार जो यह बतलाया जाता है कि उस दीवान पर पैर रखकर उसे पाताल भेज दिया, किन्तु विष्णु कुमार मुनि परम दयालु थे, जैन परम्परा के अनुसार उन्होंने दीवान की बुद्धि का दमन कर दिया, उसे प्रतिज्ञा करवा दी कि कभी ऐसा अनर्थकारी कार्य नहीं करूंगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा करवा कर उसे अभय दान दे दिया। इस प्रसंग से जैन परम्परा अनुसार रक्षा बन्धन का पर्व सामने आता है।

ऐतिहासिक घटनाएँ

रक्षा बन्धन पर्व के माहात्म्य को स्पष्ट करने वाली नागौर और चित्तौड़ की ऐतिहासिक घटनायें भी महत्त्वपूर्ण हैं :—

जब मेवाड़ के शासक राणा साँगा थे। उस समय गुजरात के सम्राट् बहादुरशाह ने मेवाड़ के गढ़ चित्तौड़ को हस्तगत करने के लिये उसके चारों ओर घेरा डाल दिया। कई वर्ष व्यतीत हो गये इस प्रकार के घेराव में रहते हुए चित्तौड़ को। नागरिक जनता का जीवन अस्त-व्यस्त हो गया। इधर मेवाड़, शक्तिशाली सम्राट् बहादुर शाह का सामना करने में अपने आपको असमर्थ महसूस कर रहा था। उस समय मेवाड़ एक विकट मोड़ पर खड़ा था सभी मेवाड़ी चिंतित थे।

ऐसी स्थिति में मेवाड़ की महारानी कर्मवती ने मेवाड़ की सुरक्षा के लिये बड़ी सूझ-बूझ का परिचय दिया। उसने कुल, वंश का विचार किये बिना ही मानव जाति की एकता को लक्ष्य में रखकर मेवाड़ की रक्षा के लिए दिल्ली के बादशाह हुमायूँ को रक्षा सूत्र "राखी" भेज दी।

राखी भेजने का तात्पर्य होता है, तुम मेरे भाई हो, अब मेरी रक्षा तुम्हारे हाथों में है।

बादशाह हुमायूँ, कर्मवती के रक्षा सूत्र को देख सोचने लगे कि अहो ! मेवाड़ी क्षत्राणी ने मुझे राखी भेज कर भाई बनाया है अतः मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं जाकर महारानी के साथ ही सारे चित्तौड़ का रक्षण करूं। बादशाह ने बंग देश की विजय के लिये सजाई हुई सेना

को मोड़ दिया और विजय के स्थान पर रक्षा के लिये चल पड़े बादशाह अर्थात् चित्तौड़ की रक्षा के लिए दिल्ली से मेवाड़ की ओर। बादशाह की विराट् शक्ति के सामने बहादुरशाह की शक्ति कहाँ टिकने वाली थी ? अन्त में बहादुरशाह पराजित हुआ और चित्तौड़ की रक्षा हुई।

हुमायूँ ने यह नहीं सोचा कि बहादुरशाह तो मेरा जाति भाई है, उसे पराजित कर एक विधर्मी की रक्षा क्यों करूं ? वहां जाति का महत्त्व नहीं रहा, वहाँ रक्षा का महत्त्व बन गया। रक्षा सूत्र की पवित्रता से हुमायूँ के विचारों में कितना परिवर्तन हो गया था।

यह है चित्तौड़ की घटना। ठीक ऐसी एक और नागौर की भी है। वह भी रक्षा सूत्र की पवित्रता का संसूचन करने वाली है।

नागौर के शासक थे दिलीपसिंह और उन्हीं के समीपस्थ नगर के शासक थे रुद्रसिंह। पहले तो उन दोनों में अच्छी मैत्री थी। बाद में कुछेक कारणों से परस्पर वैमनस्य बढ़ गया और इधर नागौर को भी गुजरात के गयाउद्दीन ने घेर लिया था। गयाउद्दीन की सेना भी बहुत विशाल थी। दिलीपसिंह के पास न तो विशाल सेना ही थी और न वीरता ही। ऐसी स्थिति में नागौर की हार निश्चित थी। सारी जनता भयभीत थी।

ऐसे समय में शासक दिलीपसिंह की कन्या पन्ना की दीर्घ दृष्टि एवं रक्षा सूत्र की पवित्रता ने नागौर की रक्षा कर ली। हुआ यों कि पन्ना ने समीपस्थ नगर के राजा रुद्रसिंह, जो कि उसके पिता के शत्रु थे, उन्हें रक्षा सूत्र भेज दिया। रक्षा सूत्र को भेजते समय उसने यह विचार नहीं किया कि वह तो मेरे पिता का शत्रु है, रक्षा करने के लिए आयेंगे या नहीं ? उसे विश्वास था कि शत्रुता चाहे कितनी गहरी हो, लेकिन रक्षा सूत्र की पवित्रता को लक्ष्य में रखकर शासक रुद्रसिंह अवश्य आयेंगे। ऐसा ही हुआ। रुद्रसिंह के हाथों में ज्योंही राजकुमारी पन्ना की राखी आई त्योंही वे सारे वैर-विरोध को भूलकर नागौर पर आये संकट को हटाने के लिये, प्राणों की बाजी लगाने के लिये तैयार हो गये। अपनी सेना को सुसज्जित कर गयाउद्दीन का मुकाबला करने के लिए मोर्चे पर आ डटे। क्षत्रियत्व के सामने गयाउद्दीन ने घुटने टेक दिए और नागौर की रक्षा की।

ऐसे एक नहीं अनेक प्रसंगों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं जो रक्षा-सूत्र की पवित्रता का सन्देश दे रहे हैं। इन ऐतिहासिक घटनाओं से, तथा आज के प्रसंग से सभी को शिक्षा लेनी चाहिए।

रक्षा बन्धन और आज का वातावरण

क्या आपने भी जीवन में ऐसा प्रसंग उपस्थित किया ? प्रातःकाल के समय जैसे ही प्रकाश आया कि बहनें थाल सजाकर अपने-अपने भाई के यहां पहुंच गईं। भाई ने सीधा हाथ सामने किया और चट उसने धागा बाँध दिया। उसके बदले में भाई से कुछ लेकर सन्तुष्ट हो गई। परन्तु इतने मात्र से इतिश्री नहीं होती है। इस धागे बाँधने पर आपके ऊपर बहन की रक्षा की जिम्मेदारी आ जाती है। वह संकट में, खतरे में हो तो, बिना कहे भाई उसकी रक्षा करे। आज कितनी बहनें बन्धन में और खतरे में हैं। परन्तु रक्षा करने वाले कितने हैं ? आज कितनी बहिनें भूखों मर रही हैं। उनके बच्चों का क्या हाल हो रहा है, किस दुर्गति में वे पहुंच रही हैं।

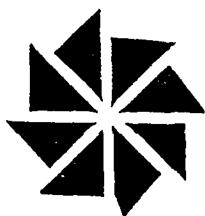
बन्धुओ ! मैं क्या कहूं। आज सामाजिक क्षेत्र में सामाजिकता कितनी नष्ट हो रही है। क्या कोई भाई है रक्षा करने वाला ? समाज में विषमता बढ़ रही है, उसको समाहित करके जनता की रक्षा करने का सामर्थ्य है किसी में ? कई फॉरेन के दृष्टान्त सुनते हैं। जिनको हम अनार्य मानते हैं और यह मानते हैं कि हम आर्य हैं। भारतीय आर्य की बात कहते हैं परन्तु वे कर्त्तव्य करने योग्य कर्त्तव्यों को धारण करके चल रहे हैं या छोड़ कर चल रहे हैं ? आज मनुष्यों का गौरव, व्यक्तियों का गौरव, धर्म का गौरव, समाज का गौरव, ये सब रक्षा बांधने के लिए तत्पर हैं, कोई भाई रक्षा बांधने को तैयार है ? ये सब तरह के गौरव, धागा बांधने को तैयार हैं। जब उनके ऊपर आपत्ति आती है, समाज, राष्ट्र और विश्व का गौरव नष्ट होता हो तो भारतीय अपना कर्तव्य अदा करने को तैयार हैं या नहीं ? जहां हम विदेशियों को अनार्य कहते हैं, परन्तु वे समाज, राष्ट्र के लिए कितने तत्पर हैं ? जहां तक मैंने सुना है, उसके आधार पर कह रहा हूँ, तो हिन्दुस्तानी गौरव का ठेका लेकर चल रहे हैं कि हम आध्यात्मिकता के गौरवशाली व्यक्ति हैं। ऐसा एक व्यक्ति जापान में पहुंचा। रेल में बैठकर जा रहा था। तब उसे फलों की आवश्यकता थी। वह सब जगह फिर गया परन्तु कहीं पर

भी फल नहीं मिले। अब उसके धैर्य का धागा कितनी जल्दी टूटता है। अब उसके धैर्य का धागा टूट गया। देखिए—आर्य देश वालों के धैर्य का धागा कितनी जल्दी टूटता है। आपे से बाहर होकर कहने लगा कि यह कैसा निकम्मा देश है, जंगली देश है कि जहां पर फल-फ्रूट भी नहीं मिलते हैं। यह बात किसी व्यक्ति को लेकर नहीं कही, परन्तु वह सामान्य रूप में बड़बड़ा रहा था। उसी रेल में जापान का ही एक साधारण सा मजदूर था। परन्तु उसके मन में देश के प्रति गौरव था। उसने सुनकर सोचा कि मेरे देश की निन्दा नहीं होनी चाहिए। जिसको अपने देश की निन्दा का ख्याल रहता है, तो वह अपनी निन्दा का, देश की, समाज की निन्दा का ख्याल रखता है। उस गरीब जापानी को अपने राष्ट्र का गौरव रखना था। वह झट से भागा हुआ गया। उसके घर में जो खाने के लिए फल रखे थे, वे सारे उठाकर ले आया और हिन्दुस्तानी महाशय के सामने रख दिए। फलों को खाने के बाद हँसता हुआ महाशय पैसे देने लगा। उसने कहा मुझे पैसे नहीं चाहिए। तो पूछा कि क्यों नहीं चाहिए? तब उसने कहा कि आप हमारे देश में आये हैं, तो हमारे देश की निन्दा मत कीजिए, बस यही अपेक्षा है।

देखिये! अपने देश की रक्षा का कितना ख्याल है, एक साधारण मजदूर को भी। क्या है भारतवासियों को भारत का गौरव? भारत की रक्षा के लिए क्या स्वार्थ समर्पण करने को तैयार हैं? परिवार, पड़ौसी, गाँव, नगर एवं राष्ट्र की सुरक्षा की कितनी क्या भावना दिलों में काम कर रही है, जरा अपने-अपने दिलों को टटोल कर देखिए। जहां परिवार की निन्दा होती हो, तो वहां भी मनुष्य गर्दन नीची करके चले और समाज एवं राष्ट्र की निन्दा होती हो तो गर्दन नीची करके चले, जहां बाहर के कर्तव्य का, बाहर के गौरव की रक्षा का भी ख्याल न करे तो वह आध्यात्मिकता की रक्षा क्या कर सकता है? जैसा गौरव उस जापानी व्यक्ति में था, यदि ऐसा ही हिन्दुस्तानियों में गौरव जाग जाए तो भारत का उत्थान होते देर नहीं लगेगी। पर यहाँ तो एक भाई की इज्जत लूटी जा रही है तो दूसरे भाई हँस रहे हैं। अरे! यह नहीं सोचते हैं कि आज इसके घर में आग लगी है तो कल तेरे घर में भी आग लग सकती है। व्यक्तियों को एकत्व भाव से चलना चाहिए। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र की गिरावट को देखते हुये आज रक्षा बन्धन पर सभी को चिन्तन करना है, इसी के साथ मैं अपनी बात भी कह दूं।

क्यों न मेरे भाइयों के राखी बाँध दूं। अरे! आप तो हँसने लगे। आप सोचते होंगे महाराज! आप तो साधु बन गए, अब क्या राखी बांधोगे? भाई! मैं उस डोरा वाली राखी के लिए नहीं कह रहा हूं, यह तो वीतराग देव का शासन है और आप उसके पीछे गौरवान्वित हैं। इस शासन के अनुरूप आध्यात्मिक जीवन की राखी बाँधना चाहता हूँ। बंधवाना चाहेंगे क्या? यदि हाँ! तो हमारे ऊपर आपकी जिम्मेदारी आ गई है। रोटी, कपड़ों को जिम्मेदारी नहीं! परन्तु हम साधु जीवन में चल रहे हैं। तो हम अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं या नहीं? इसकी देख-रेख और गौरव की रक्षा आपको करनी है। आप भी अपनी स्थिति से करें और हम भी अपनी स्थिति से चलें। यह नहीं सोचें कि यह इनका काम है और यह उनका काम है। जहां गौरव नष्ट हो रहा हो तो उसकी रक्षा करना प्रत्येक का काम है। मैं जिम्मेदारी डालता हूँ आप पर कि मुझ में या मेरे सन्तों में या सतियों में कोई भी गलती हो या आपको भ्रम हो तो उसका निवारण करें, जिससे विशुद्ध चरित्र के परिपालन में आप सहायक बनेंगे। यदि कोई गलती होगी तो तदनुरूप निवारण किया जाएगा। यदि नहीं होगी तो आपकी शंका का समाधान हो जाएगा।

अन्त में मैं यही कहना चाहता हूँ कि इस रक्षा बन्धन के प्रसंग से भव्य आत्मायें जन्म-जन्मान्तर से कर्मों से बद्ध अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए अहंता, ममता, कषाय आदि का शमन करेंगे, आत्मा का समीक्षण करेंगे तो अवश्य ही एक दिन इन सभी बन्धनों से अपने आपकी शाश्वत रक्षा कर सकेंगे।



[२१]

आत्मा का रक्षक कौन ?

- अवलम्बन आत्मा को
- नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा
- चक्रवर्ती सम्राट् का वैभव
- भौतिकता-अनुरागी आज का मानव
- शाश्वत रक्षा के लिये अन्तः समीक्षण
- वैभाविक परिणतियां
- दो व्यापारी
- झोंपड़ी के अन्दर
- व्यापारी और योगी
- योगी का विचार : धन प्राप्ति के लिये निर्देश
- दो टार्च
- गुफा में प्रवेश—पहले व्यक्ति की चंचलता
- दूसरे को रत्नागार की प्राप्ति
- दृष्टान्त और दृष्टान्तिक

नालं ते तव ताणाए वा सरणाएवा।
तुमं पि ते सिं नालं ताणाए सरणाएवा ।।
—आचारांग सूत्र—१/२/१

हे पुरुष ! ये स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी इन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ वैभाविक परिणतियां चली आ रही हैं। ये वैभाविक परिणतियां कभी आत्मा को त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो सकतीं। आज तक कोई भी आत्मा भौतिक आसक्ति से संबद्ध हो अपने आपकी रक्षा नहीं कर पाई। स्वत्व की रक्षा के लिये वैभाविक वृत्तियों का विलगीकरण आवश्यक है।

चित्त अणगार और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं।

....

श्री श्रेयांस जिन अन्तर्यामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यात्म मत पूरण पामी, सहज मुक्ति गति गामी रे ।।

शास्त्रीय विषय को रखने से पहले प्रतिदिन चौवीस तीर्थंकरों में से किसी तीर्थंकर की स्तुति का प्रसंग आपके समक्ष उपस्थित कर देता हूँ।

अवलम्बन आत्मा को

जब आत्मा दुःख और द्वन्दों में जूझ रही होती है, तब उस आत्मा को शांति प्राप्त करने के लिये अवलम्बन चाहिये। विश्व की प्रत्येक कर्मबद्ध आत्माएं यही सोचती हैं कि मैं इन दुःख द्वन्द्वों से ऊपर उठूं। आर्त्त-रौद्र ध्यान से रहित बनूं। लेकिन यह अवस्था कब बन सकती है? मात्र प्रभु गुण-गान से अभीष्ट साध्य सिद्धि नहीं हो सकती। किन्तु भगवान् का प्रार्थना के माध्यम से अन्तः में चिन्तन करना होगा। जब भगवान् का सिद्ध स्वरूप मनुष्य की अन्तरात्मा में उभरता है, तब इस आत्मा को अपूर्व शान्ति मिलती है। तृषित व्यक्ति को पानी मिलने से जिस प्रकार शान्ति मिलती है, डूबते हुए व्यक्ति को जिस प्रकार तख्ते का सहारा मिलने पर जिस शान्ति की अनुभूति होती है उससे भी कई गुनी अधिक शान्ति व्यक्ति को, प्रभु की प्रार्थना के साथ एकावधानता लेकर परमात्म स्वरूप के चिन्तन करने पर मिलती है।

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा

आपके समक्ष शास्त्रीय रूपक चल रहा है—चित्त मुनि और चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का। कहाँ तो चित्त अणगार उन्नति के चरम छोर पर आरोहण करने जा रहे हैं और कहां ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पतन के महाद्वार में प्रवेश करने जा रहा है। चक्रवर्ती पद मिल जाना शक्य है परन्तु उसी पद से जीवन का उत्थान हो जाना शक्य नहीं है। धन, परिवार, वैभव से अगर कोई व्यक्ति यह कल्पना करता हो कि मेरा कल्याण हो जाय तो यह त्रिकाल में भी संभव नहीं है। धन-दौलत, माता-पिता, स्वजन सम्बन्धी कोई भी उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं है। शास्त्र चूड़ामणि आचारांग सूत्र में प्रभु महावीर ने स्पष्ट संकेत दिया है।

नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा।
तुमं पि तेसिं नालं, ताणाए सरणाए वा।।

हे पुरुष ! ये स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समथ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।

विशाल ऋद्धि और समृद्धि का स्वामी, भौतिकता में आकंठ डूबा चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त की रक्षा कोई नहीं कर सका। छः खण्ड का विशाल साम्राज्य, शत्रुओं को परास्त करने वाला विस्तृत सैन्य दल, अखूट खजाना, रूपवती नारियों का अन्तः पुरः, हजारों-हजार आज्ञा पालक व सम्राट् आदि कुछ नहीं कर सके। मृत्यु की अन्तिम वेला में कुरुमति-कुरुमति चिल्लाता हुआ ब्रह्मदत्त महादुःखों के द्वार की ओर प्रयाण कर गया।

बंधुओ ! विचार करने की बात है जिसके पास अपार धन-वैभव, सुख साधनों की सामग्री उपलब्ध थी वह भी उनकी रक्षा नहीं कर सकी तो आपके पास कितनी धन संपत्ति है ? आज के अरबपति-खरबपति भी चक्रवर्ती की धन संपत्ति रूप समुद्र के सामने बूंद के तुल्य भी नहीं।

चक्रवर्ती सम्राट् का वैभव

कितना वैभव था चक्रवर्ती सम्राट् के पास ? इसकी जानकारी के लिये एक रूपक ही पर्याप्त होगा। चक्रवर्ती महाराज के राज्य के रसौड़े में ७२ मन हींग लगती थी। अब विचार करिये कितना भोजन निष्पादित होता होगा ? कितनी संख्या में लोग भोजन करते होंगे। तुलना करिये आप अपने घर की—कितनी हींग पड़ती है भोजन निष्पादन में ? यह तो एक भोजन की बात हुई। इससे आप उनके विशाल राज्य का अनुमान लगा सकते हैं।

ऐसे विशाल राज्य के स्वामी ब्रह्मदत्त की भी कोई मृत्यु से त्राण-रक्षा नहीं कर पाया तो क्या आपकी मृत्यु से त्राण-रक्षा हो सकेगी ? सज्जनो ! गहराई से विचार करने का विषय है।

भौतिकता-अनुरागी आज का मानव

आज का मानव तुच्छ सिद्धि को पाकर भी फूला नहीं समाता है। आज के व्यक्तियों की प्रायः यह विचार धारणा बन गई है कि धन मिल गया तो सब कुछ मिल गया। धन के गुमान में वह संत-दर्शन, सामायिक-प्रतिक्रमण, व्रत-नियम, तप-त्याग, दया-दान सब कुछ भूल बैठता है। यही

सोचता रहता है कि इस सामायिक-प्रतिक्रमण की क्या आवश्यकता है ? तप-त्याग रूक्ष विषय है। इससे कोई मजा नहीं आता है। न ही इसका कोई विशेष फल दिखलाई देता है। बस जो कुछ रंग-राग मिलता है वह इस धन दौलत से ही। धन के पीछे पागल बना वह व्यक्ति यह नहीं सोच पाता कि जब मेरी मृत्यु सन्निकट आयेगी तो यह धन सम्पत्ति मुझे बचाने वाली नहीं है। यह पत्नी, पुत्र, परिवार बचाने वाले नहीं हैं। इन सब बातों को भूल कर सामायिक, संवर, पौषध, व्रत-नियम, त्याग-प्रत्याख्यान करने से भी कतराने लगता है। उसकी दृष्टि में ये सब उपेक्षणीय हो जाते हैं।

शाश्वत रक्षा के लिये अन्तः समीक्षण

किन्तु बन्धुओ ! विचारने का विषय यह है कि यह संपत्ति मुझे मृत्यु से बचाने वाली नहीं है। ये माता-पिता, भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी कोई भी मुझे बचाने वाले नहीं हैं। सोना-चांदी, धन-वैभव सभी यहीं रह जाने वाले हैं। जिस शरीर का मैं गर्भ से संपोषण कर रहा हूँ, जीवन के अधिकांश समय उसी में व्यतीत हो रहे हैं। नीति-अनीति, धर्म-अधर्म को भूल कर शरीर को ही संवर्धन करने में लगा हुआ हूँ वह शरीर भी यहीं जलकर राख हो जायेगा अर्थात् ऐसा शरीर भी मेरा त्राण-रक्षण करने में समर्थ नहीं है। मानव तन की तो बात जाने दीजिये—विशिष्ट शक्ति सम्पन्न देव तन भी स्थायी रूप से नहीं रह सकता। इतना सब कुछ होने पर भी मनुष्य कानों में तेल डाले सोया रहे कुछ भी उपक्रम न करे तो ऐसा मानव जीवन एक बार नहीं अनेक बार भी क्यों न प्राप्त कर ले, पर आत्मीय तत्त्व की अन्वेषणा नहीं कर सकता। आत्मा की शाश्वत रक्षा के लिये अवश्य ही शरीर से मोह छोड़ कर अन्तः समीक्षण करना होगा।

वैभाविक परिणतियां

अनादि अनन्तकाल से विभाव की परिणतियां आत्मा के साथ चली आ रही हैं। यह वैभाविक वृत्तियां इस रूप से आत्मा के साथ संबद्ध हो चुकी हैं कि स्वयं आत्मा उन्हें अपना निजी स्वरूप ही मान बैठी है। उन विभाव की परिणतियों से स्वत्व का विलगीकरण मानव जीवन में ही पूर्णतः हो सकता है। यह विलगीकरण तभी संभव है जबकि मानव इस दिशा में गतिशील बने। कितना ही लम्बा रास्ता हो यदि उस दिशा में चलने वाला व्यक्ति क्यों न धीरे-धीरे ही चल रहा हो तथापि दीर्घ कान्तार

को अन्ततः पार कर ही लेता है। विभाव की परिणतियों के विलगीकरण का पुरुषार्थ यदि गतिशील है तो एक दिन आत्मा अपने स्वत्व को परिपूर्ण प्रकट कर सकती है। वैभाविक वृत्तियों में ही रमने वाला प्रेय मार्ग का राही कभी भी शांति की अनुभूति नहीं कर पाता। एक रूपक देता हूँ इस बात को समझने के लिये।

दो व्यापारी

एक गांव में दो व्यापारी रहते थे। छोटा गांव होने के कारण विशेष व्यापार नहीं चल पाता था। थोड़ा बहुत घर खर्च निकल जाता था। इससे व्यापारियों की लालसा पूरी नहीं हो पाती थी। दोनों ने परस्पर विचार किया और एक दिन अधिक धन कमाने के लिये पेट नहीं पेटी भरने के लिये गांव छोड़ कर शहर की ओर प्रस्थान कर गये।

प्राचीन युग में आज की तरह तो साधन नहीं थे जिससे मोटर-कार हवाई जहाज आदि साधनों से सुदूर यात्रा स्वल्प समय में तय की जा सके। उस समम तो प्रायः पैदल या ऊंट, घोड़े, बैलगाड़ी आदि पर यात्रा की जाती थी। ये दोनों व्यापारी पैदल ही यात्रा कर रहे थे। रास्ता कच्चा था और रास्ता बताने वाला मार्ग निर्देशक भी कोई साथ में नहीं था। चलते-चलते रास्ता भूल गए। घोर जंगल में आ फंसे, सूर्यास्त होने की तैयारी थी। क्या किया जाय इस समय, यही चिन्ता उनको सता रही थी। यदि इसी जंगल में रात्रि बिताई जाएगी तो निश्चित ही जंगली हिंसक जन्तु उनको खा जायेंगे। इधर कोई रास्ता भी नजर नहीं आ रहा था। इसी चिन्ता में उन्हें पहाड़ की टेकरी पर एक झोंपड़ी नजर आई, विचार किया क्यों न ऊपर चढ़ा जाय ? झोंपड़ी में कोई न कोई तो रहता ही होगा न भी हो तो भी अपनी तो रक्षा हो सकेगी। इन्हीं विचारों में खोए, समय की स्वल्पता को देख वे जल्दी-जल्दी पहाड़ पर चढ़ने लगे।

झोंपड़ी के अन्दर

अन्धेरा होते-होते तो वे झोंपड़ी तक पहुँच ही गये। झोंपड़ी में जाकर देखा तो वहां उन्हें एक ध्यानस्थ योगी नजर आए। जिनका चेहरा बहुत ही शान्त-प्रशांत परिलक्षित हो रहा था। परन्तु हीरे की परीक्षा तो

जौहरी ही कर सकता है, कंगला नहीं। इन दोनों व्यक्तियों का तो व्यापारी मस्तिष्क था, वे अपने ही दृष्टिकोण से सोचने लगे—यह कोई जंगली व्यक्ति लगता है। दिन भर जंगल में घूम-घुमाकर रात को यहां आकर पड़ा रहता होगा।

व्यापारी और योगी

व्यापारियों ने संवोधित किया उस योगी को—अरे ओ जंगली ! अमुक शहर का रास्ता कहां जाता है ? योगी वहुत चतुर और व्यवहार कुशल था। यद्यपि योगी के सांसारिक संवंध नहीं थे तथापि वह जैन साधु भी नहीं, संन्यासी था। यौगिक साधना की भूमिका पर चल रहा था। जिस साधना के वल पर वह व्यक्ति की प्रकृति को पहचानते देर नहीं करता था। योगी ने इनको देखते ही पहचान लिया कि ये कोई व्यापारी हैं किन्तु अभी घवराये हुए हैं। व्यापारियों ने तो योगी को जंगली कहा था किन्तु इस उच्चारण से योगी नाराज नहीं हुआ। वह योगी ही क्या, जो थोड़ी सी वात के पीछे नाराज (क्रोधित) हो जाए और अपनी परिश्रम-साध्य तप-साधना को क्रोधाग्नि में जला कर भस्म कर डाले ?

योगी ने वहुत ही स्नेह के साथ कहा—भैया ! अन्दर आ जाओ, वैठो, कुछ क्लान्ति-परिहार कर लो फिर अगले कार्यक्रम पर विचार करना। व्यापारियों ने योगी की वात को सुनकर विचार किया—अरे ! इसकी भाषा तो वहुत ही शिष्ट सभ्य है। जंगलियों की ऐसी भाषा नहीं होती

दोनों व्यापारी अन्दर आ गए और वैठ गए। योगी ने पूछा कहां रहते हो ? तव व्यापारियों ने अपनी सारी स्थिति वता दी और यह स्पष्ट कर दिया कि हम धन कमाने वड़े देश में जा रहे हैं। योगी ने कहा—अच्छा ! लेकिन अभी तो रात हो गई है अतः रात्रि विश्राम यहीं करलो। मालूम होता है तुम दोनों भूखे-प्यासे हो। देखो, पहाड़ी के उस किनारे मीठे पानी का झरना है, वहां पानी पीलो फिर मेरे लिये जो भोजन आया है उसे करलो।

वास्तव में इन दोनों को भी वहुत जोर से भूख लगी थी। दोनों ने पहाड़ी झरने में हाथ-मुंह धोकर योगी के लिये आए भोजन को ग्रहण किया, उदर तृप्ति की।

योगी का विचार : धन प्राप्ति के लिये निर्देश

योगी ने विचार किया—इन लोगों को पता नहीं है कि शांति किस में है ? कितना भी धन-वैभव प्राप्त कर लें लेकिन व्यक्ति कभी शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। यह प्रेय मार्ग कभी भी श्रेय मार्ग की शांति प्राप्त नहीं करवा सकता। सुख इन भौतिक तत्त्वों में नहीं है लेकिन इन्हें समझाया कैसे जाय। सिद्धान्त की दृष्टि से इन्हें कितना समझाया जाय इन पर कुछ भी असर पड़ने वाला नहीं है। इन्हें प्रेक्टीकल रूप से ही समझाना होगा।

योगी ने उनकी मनःस्थिति को देखते हुए, उनके मनोनुकूल ही आदेश देना प्रारम्भ किया। पूछा तुम दोनों को कितना धन चाहिये ? दोनों ही विचार में पड़ गये। कितना बतलाया जाय ? क्योंकि मानव की इच्छा तो शैतान की आंत की भांति बढ़ती ही जाती है। जितना बतलाया जाय उतना ही कम है। संसार का सारा ही धन उसे दे दिया जाय तो भी उसकी लालसा पूर्ण होने वाली नहीं है। उनको विचारों में खोए देखकर स्वयं योगी ने ही कहा—तुम्हें खाने के अतिरिक्त धन मिल जाय तो कैसे क्या रहे ? तब तो दोनों ही बोल उठे हां, हां, बस-बस इतना धन पर्याप्त है। आप हमें इतना ही दे दीजिये। हम आपका उपकार कभी नहीं भूलेंगे। आप तो महायोगी हैं। हम पामरों के प्रति कृपालु हैं। इस जंगल में वास करते हैं। आपसे जंगल की कोई भी वस्तु छिपी हुई नहीं होगी। इस प्रकार अनुनय विनय करते हुए योगी की सेवा में जुट गये।

दो टार्च

जैसे तैसे रात्रि व्यतीत हुई। प्रातः योगी तो प्रातःकालीन यौगिक साधना में लग गए। ये दोनों अर्थ लोलुपी क्या करते ? इनके मन में तो एक ही बात उठ रही थी, कब धन प्राप्त हो। बड़ी मुश्किल से समय व्यतीत किया। योगी अपनी योग साधना करके जब स्वाभाविक स्थिति में आ गए तब दोनों ही व्यक्ति उनकी सेवा में उपस्थित हो गए।

योगी ने एक गंभीर दृष्टि से उनको देखा और बोलना प्रारम्भ किया—देखो, जो पहाड़ मेरी पीठ के पीछे—झोंपड़ी के पिछले भाग में नजर आ रहा है उसके नीचे एक लम्बी गुफा है। उस गुफा को पार करने

के वाद—परले किनारे विचित्र प्रकार के रत्नों के ढेर पड़े हैं। जितने चाहो उतने ही ग्रहण कर सकते हो। लेकिन इस अन्धकार मय गुफा को प्राप्त करने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है। मेरे पास दो टार्च हैं। तुम दोनों एक-एक टार्च ले लो और उसके प्रकाश के सहारे गुफा में प्रवेश करो। देखो इस वात का ध्यान रखना कि टार्च का प्रकाश सीधा सामने ही रखोगे, इधर-उधर नहीं घुमाओगे। यदि सीधे-सीधे चलोगे तव तो गुफा पार कर सकोगे। यदि इधर-उधर देखने का प्रयास किया तो टार्च का प्रकाश मध्य में ही पूर्ण हो जाएगा। अन्धकार में सही मार्ग नहीं मिल पायेगा क्योंकि इस गुफा के मध्य अनेक छोटी-छोटी प्रति गुफाएँ हैं जिनमें प्रवेश करने के वाद तो गुफा से निस्तार पाना वहुत मुश्किल है, फिर तो जीवन का प्राणान्त ही हो जाएगा। सीधे-सीधे प्रकाश लेकर चलते रहो, वहां रत्न मिल जाएगे। उन रत्नों के प्रकाश से तुम मेरे तक पहुँच सकोगे। यहां से मैं तुम्हें तुम्हारे नगर का सही रास्ता वतला दूंगा।

गुफा में प्रवेश—पहले व्यक्ति की चंचलता

दोनों विद्यार्थियों ने योगी की वात को ध्यान से सुना और टार्च जला कर चल पड़े गुफा में। थोड़ी देर तक दोनों व्यक्ति वरावर प्रकाश को सीधा रखते हुए चलते गये। थोड़े समय के पश्चात् एक व्यक्ति के मन में विचार उठा—क्या पता गुफा के उस पार जाने पर रत्न मिलेंगे या नहीं ? यदि नहीं मिले तो फिर पुनः गुफा पार करना मुश्किल हो जायगा। कितना अच्छा हो कि यहीं कहीं रत्न की खोज करली जाय। यहीं कोई रत्न मिल जाता हो तो उसे ही लेकर के पुनः गुफा पार कर लेना चाहिये। यह सोचकर वह अपनी टार्च का प्रकाश इधर-उधर घुमाने लगा। कभी इधर देखता तो कभी उधर। ऐसे देखने में गुफा पार न होने से पहले ही उसका प्रकाश समाप्त हो गया। अब वह न इस पार जा सकता था न उस पार ही। इधर-उधर भटकता हुआ कोई दूसरी गुफा में चला गया। रास्ता नहीं मिल पाने के कारण उसी गुफा में तड़फ-तड़फ करके अपना प्राणान्त कर दिया।

दूसरे को रत्नागार की प्राप्ति

दूसरा व्यक्ति जिसके हाथ में भी टार्च का प्रकाश था वह बरावर

योगी के कथनानुसार टार्च का प्रकाश इधर-उधर न घुमाते हुए सीधा सामने रख कर चल रहा था। अन्ततः ज्योंही टार्च का प्रकाश समाप्त हुआ त्योंही गुफा भी पार हो गई। गुफा के पार होते ही देखा तो वास्तव में मणि रत्नों का जग-मग, जग-मग करता भण्डार पड़ा था। उसे देख कर वह बहुत खुश होता हुआ जितना उठा सका, उतने रत्नों को एकत्रित कर पुनः उसी गुफा मार्ग से सुरक्षित रूप में योगी के पास पहुंच गया। योगी को प्रणाम कर रत्नों का ढेर उसके सामने कर दिया।

बहुत देर तक इन्तजार करने पर भी जब उसका सहयात्री नहीं आया तो उसने योगी से पूछा, योगी प्रवर ! मेरा साथी जिसने मेरे साथ ही गुफा में प्रवेश किया था वह अब तक क्यों नहीं आया ? योगी ने अपने योगनिष्ठ साधना के बल पर जानकर बतलाया कि तुम्हारे साथी ने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया। अब वह कभी भी आ नहीं सकता। उसने टार्च के प्रकाश को इधर उधर घुमाया था अतः वह प्रकाश मध्य में ही समाप्त हो चुका था जिसके कारण वह किसी दूसरी गुफा में चला गया है। वहीं रास्ता नहीं मिलने के कारण छटपटाहट के साथ खत्म हो चुका है। योगी की बात सुनकर वह व्यक्ति उदास होकर रत्नों के ढेर को एकत्रित कर अपने गंतव्य स्थान की ओर चला गया।

दृष्टान्त और दृष्टान्तिक

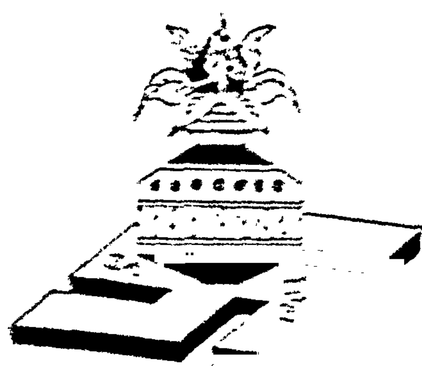
बंधुओ ! यह तो एक रूपक है। यह मनुष्य जीवन, टार्च के समान है। इसका प्रकाश से इन्द्रियों के माध्यम से आने वाले प्रकाश को आत्म जागरण की सही दिशा में नियोजित करना चाहिये। यदि एक ही लक्ष्य के साथ अविराम रूप से उस ही दिशा में गति करते जाँय तो आत्म जागरण अर्थात् परमात्म रूप प्राप्त हो सकता है। योगी ने तो उन्हें भौतिक धन का पथ बतलाया था। वह धन अधिक टिकने वाला नहीं है। एक - न - एक दिन समाप्त हो ही जायगा। सोना-चांदी, माता-पिता, परिवार कोई भी मृत्यु से तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं।

यहां पर तो आपको अध्यात्म का पथ बतलाने वाले संत एवं महासतियों का संयोग मिला है। जिस अध्यात्म श्रेय पथ पर चलकर आत्मा

अपनी शक्ति का परिपूर्ण जागरण कर सकती है। आवश्यकता है, आत्मिक टार्च में इन्द्रियों द्वारा आने वाले प्रकाश को सही दिशा में नियोजित करें।

अभी आप कई भाई-बहिन सामायिक में बैठे हैं और व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं। इस समय आपकी टार्च श्रेय मार्ग की ओर चल रही है, जब घर पर चले जाते हैं, राग-द्वेष के प्रपंच में पड़ जाते हैं तो आपकी वही शक्ति प्रेय मार्ग की ओर लग जाती है।

आत्मा का परिपूर्ण जागरण करने के लिये निश्चय ही आत्मिक टार्च को श्रेय मार्ग की ओर नियोजित करना होगा।



[२२]

समीक्षा भूगोल–खगोल की

- अन्त:खोजो आत्मसाधक
- एकाग्रता एकान्त में
- भूगोल-खगोल का नियंता आत्मा
- शक्ति सम्पन्न आत्मा कर्माच्छादित
- भूगोल-खगोल का विज्ञान आवश्यक नहीं
- भूगोल-खगोल का वर्णन मुख्य नहीं
- उस समय की व्याख्या और आज की
- भूगोल-खगोल में न उलझें
- अध्यात्म साधक ब्रह्मचर्यधारी बनें
- आगमानुकूल उपदेश हो
- भूगोल-खगोल का नहीं, अपना समीक्षण करो

————

धणेण किं धम्म धुरा हिगारे ।
—उत्तराध्ययन सूत्र १४/१७

धर्म की धुरा को खींचने के लिये धन की क्या आवश्यकता है। धर्म का आचरण मुख्यतया आत्मा से सम्बन्धित है। बाह्य तत्त्वों से मुख्य रूप से नहीं, बाह्य तत्त्व चाहे धन सम्पत्ति हो या भूगोल-खगोल। आत्मा की परिपूर्णता का ज्ञान धर्माचरण से ही हो सकता है। भूगोल-खगोल का ज्ञान मुख्य नहीं है।

अध्यात्म में भूगोल-खगोल का वर्णन आनुसंगिक रूप से है। साधक को मुख्य वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान देना अभीष्ट रहता है।

आज का भूगोल-खगोल और शास्त्रीय भूगोल-खगोल में परिलक्षित अन्तर शास्त्रीय विषय को संदेहास्पद नहीं बना सकता है क्योंकि शास्त्र वाणी प्रभु की अवितथ/असंदिग्ध भाषा है।

....

श्री श्रेयांस जिन अन्तरयामी, आतमरामी नामी रे।
अध्यातम पद पूरण पामी, सहज मुगति गति गामी रे।।

बंधुओ ! श्रेयांस नाथ प्रभु की स्तुति प्रसंग से भावात्मक रूप से आपके समक्ष रखने का प्रसंग है।

अन्तःखोजी आत्मसाधक

उन सर्वज्ञ सर्वदृष्टा पवित्र महापुरुषों की ही देन है कि आज भव्य जीवों को दुनिया में कहीं नहीं मिलने वाली आत्म-जागरण की अनिर्वचनीय उपदेशधारा श्रवण करने को मिल रही है। संसार का कोई भी बड़े से बड़ा वैज्ञानिक कितनी भी खोज करले तथापि उसकी खोज अपूर्ण और बाह्य तत्त्वों से ही सम्बन्धित होगी। आज का भौतिकता में उलझा वैज्ञानिक धर्म चक्षुओं से दृष्ट पदार्थों की ही अन्वेषणा कर सकता है, अन्तरंग के सूक्ष्म तत्त्वों की नहीं।

अन्तरंग की खोज तो आत्मखोजी साधक ही समीक्षण दृष्टि के माध्यम से कर सकता है। इस अन्तरंग की खोज करने के लिये ही तीर्थङ्कर देव गृहस्थाश्रम का त्याग कर, सराग से विरागी बन कर प्रमत्त से अप्रमत्त साधना की ओर गतिशील बने। क्योंकि वे यह जानते थे कि राजमहल में ही बैठे रहने से आध्यात्मिक जीवन की परिपूर्ण उपलब्धि नहीं हो सकती।

एकाग्रता एकान्त में

कितना ही कुछ प्रयत्न किया जाय, यदि स्थान ही नहीं है तो नर्तकी नाच नहीं सकती है। ठीक इसी प्रकार आत्मा को गृहस्थ जीवन में रह कर घर के वायुमण्डल में, बाल-बच्चों की चहल-पहल, परिवार के सदस्यों के कोलाहल से अपने आपको परिपूर्णतः अलिप्त रख पाना बहुत मुश्किल है। ऐसी स्थिति में मन एकाग्र नहीं रह पाता और मन की एकाग्रता के बिना अन्तःसमीक्षण नहीं हो सकता और अन्तःसमीक्षण के बिना शांति की उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि जब तक अन्तरंग जीवन का सही रूप से संशोधन नहीं होता, तब तक बाह्य जीवन को कितना ही सजाया-संवारा जाय, एक न एक दिन अन्तरंग के उभार से बाह्य सजावट नष्ट हो

जाती है। विना नींव के मकान टिक ही नहीं सकता। मकान को टिकाने के लिये नींव की आवश्यकता है। वैसे ही शांति रूप महल को टिकाये रखने के लिये अन्तरंग में स्थित विभावों के समीक्षण-संशोधन की परम आवश्यकता है।

भूगोल-खगोल का नियंता आत्मा

तीर्थंकर देव यह अच्छी तरह जानते थे कि भूगोल और खगोल का थोड़ा बहुत विज्ञान तो मानव भौतिकी अन्वेषणाओं से प्राप्त कर सकता है परन्तु अपने आपके अन्तरंग जीवन का स्वरूप अर्थात् आध्यात्मिक जीवन को वह बाह्य अन्वेषणाओं से प्राप्त नहीं कर सकता। इसी दृष्टिकोण से प्रभु ने अपनी देशनाओं में मुख्यतः आत्मा को ही आधार बनाया है। वास्तव में आत्मा ही तो सभी तत्त्वों में प्रधान एवं नियंता तत्त्व है। भूगोल और खगोल की व्यवस्थाओं का व्यवस्थापक भी आत्मा ही तो है। सचालन, नियमन, संरक्षण, संवर्द्धन में आत्मा मुख्य रूप से कार्यकारी होती है।

शक्ति सम्पन्न आत्मा कर्माच्छादित

ऐसी विकासशील आत्मा को कर्मों के अनादिकालीन संबंध ने ही विकृत बना रखा है। शास्त्रकारों ने कर्म सम्बन्ध में बहुत गहन-गंभीर एवं तलस्पर्शी विवेचना दी है। कर्मों का बन्धन कैसे होता है? कैसे इसका भुगतान होता है? आत्मा को कर्म से किस प्रकार अपुनर्भाव से विलग किया जा सकता है? एतद् विषयक विस्तार से स्पष्टीकरण मिलता है। क्योंकि आत्मा की मौलिक शक्ति को दबाने वाला मूलभूत शत्रु कर्म ही तो है।

भूगोल-खगोल का विज्ञान आवश्यक नहीं

भूगोल और खगोल का विज्ञान आत्म-जागरण के लिये कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। भूगोल-खगोल के विशद विज्ञान के विना भी आत्मा अपनी चरम एवं परम साधना कर सकती है। शास्त्रों में इसलिये भूगोल एवं खगोल विषयक वर्णन विस्तार से प्राप्त नहीं होता। जिन आगमों में भूगोल-खगोल संबंधित वर्णन है भी सही तो उसके वर्णन को किस प्रकार

समझा जाय। एतद् विषयक कुंजी वर्तमान में उपलब्ध नहींवत् है। यही कारण है कि आजकल कई आधुनिक युग के प्रवाह में बहने वाले भाई भौतिक विज्ञान से संबंधित भूगोल और खगोल का आगमवर्णित भूगोल-खगोल के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने लगते हैं। और जब उन्हें आगम वर्णित भूगोल-खगोल का यथार्थ विज्ञान नहीं हो पाता तो वे अन्यथा सोच बैठते हैं।

भूगोल-खगोल का वर्णन मुख्य नहीं

लेकिन चिन्तनीय विषय यह है कि भगवान् का मुख्य उद्देश्य भूगोल और खगोल का वर्णन नहीं रहा है। प्रभु का मुख्य उपदेश अध्यात्म प्रधान होने से आत्मा की उन्नति कैसे हो इसी से संबंधित रहा है। इसी वर्णन में प्रसंगोपात कहीं-कहीं भूगोल और खगोल का वर्णन आया है। और इस वर्णन में से भी कितना ही भाग बारह वर्ष के दुष्काल के समय में तथा मध्यवर्ती शताब्दियों में विलुप्त हो गया। ऐसी स्थिति में अवशेष विद्यमान भूगोल और खगोल के वर्णन में पूर्वापर का अनुसन्धान न होने से आगमिक दृष्टि से इनका सांगोपांग विवेचन नहीं किया जा सकता। इतने मात्र से यह विचार करना सर्वथा अनुपयुक्त है कि भूगोल-खगोल का आगमिक वर्णन वैज्ञानिक कसौटी से सिद्ध नहीं होने के कारण मानने में नहीं आता।

उस समय की व्याख्या और आज की

एक बात और यह है कि उस समय की भौगोलिक एवं खगोल सम्बन्धी व्याख्या में तथा आज की व्याख्या में बहुत अन्तर आ चुका है। आज की गणित विधि अलग है और प्राचीन काल की गतिविधि अलग थी। नाप-तोल के परिमाण में भी परिवर्तन आगया। यह तो बहुत अतीत की बात है, किन्तु इस युग में भी कई वस्तुओं-क्षेत्रों के परिमाणों में परिवर्तन देख सकते हैं।

कुछ समय पहले क्षेत्र-परिमाण में कोस का प्रचलन था, बाद में मीलों का प्रचलन हुआ। मील से कोस का अनुमान लगाया जाने लगा। दो मील को एक कोस माना जाने लगा। परन्तु इस परिमाण में भी अन्तर आ गया। जब मैं मध्यप्रदेश विहार में धमतरी से रायपुर पहुँच

रहा था, इसी बीच मैंने एक गांव में पूछा कि रायपुर कितनी दूर है ? भाई ने कहा पाँच कोस। मुझे आश्चर्य हुआ। क्षेत्र की दूरी में संदेह था। अतः संतों से कहा कि एक-दो व्यक्तियों को और पूछो। तब संतों ने दूसरे भाई से पूछा—रायपुर कितनी दूर है ? तो उस भाई ने भी यही कहा कि पाँच कोस है। इसी बीच मैंने पूछ लिया—क्या पाँच कोस अर्थात् दस माइल ? तो भाई ने कहा—नहीं महाराज, दस नहीं पन्द्रह माइल है।

मैंने कहा—कैसे ? एक कोस तो दो माइल का होता है, इस अनुसार पांच कोस के दस माइल हुए। तब भाई ने कहा—नहीं महाराज श्री, यहां पर एक कोस से तीन माइल लिया जाता है। तदनुसार पाँच कोस से पन्द्रह माइल होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस कोस को राजस्थान आदि प्रान्तों में दो मील का माना जाता है उस कोस को प्रान्त परिवर्तन से रायपुर की तरफ तीन माइल का माना गया और उसी कोस को पंजाब की तरफ डेढ़ माइल माना जाता है। यह तो मैंने एक दो प्रांत की बात बताई। लेकिन अन्यान्य क्षेत्रों का अध्ययन किया जाय तो आपको कितनी ही भिन्नता परिलक्षित होगी। और अब तो किलोमीटर का ही अधिक प्रचलन है अतः समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

यह तो क्षेत्र-परिणाम बतलाया। इसी प्रकार तोलने के माप में भी भिन्नता आ चुकी है। तोलने के साधन को पहले बाट, सेर, मन बोलते थे और अब आगया किलो। यह तो सब समय-समय पर बदलते जाते हैं। जब आपके सामने-सामने ही इतना परिवर्तन हो जाता है तो आप विचार करिये कि अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व जो नाप-तोल, गणित आदि की व्याख्या थी और आज के युग में उन्हीं में कितना परिवर्तन आ चुका होगा।

अब वर्तमान युग में हमें गणित को समझने की कुंजी पूर्णतः न मिल पाए तो हम निर्णयात्मक रूप से कुछ नहीं कह सकते। परन्तु भगवान् महावीर ने जो कुछ भी कहा वह असंदिग्ध सत्य है।

भूगोल-खगोल में न उलझें

आध्यात्मिक साधना करने वाले साधक को भूगोल-खगोल की वार्ता में न उलझ कर मुक्त रूप से आत्म-साधना के विषय में प्रगति करनी चाहिये। आप सभी आत्मिक साधना की ओर सन्मुख बनें। यह साधना

यथाशक्य गृहस्थ एवं साधु जीवन दोनों में की जा सकती है। आध्यात्म का सही चिन्तन करने वाले वस्तु स्वरूप का सही चिन्तन कर सकेंगे। साथ ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को दुनिया के सामने रख सकेंगे। अर्थात् आध्यात्मिकता की साधना किस में है? और भौतिकता की साधना किस में है? कर्त्तव्य क्या है? और कर्त्तव्यहीनता क्या है? लेकिन जो साधक आध्यात्मिक साधनापथ से च्युत हो जाते हैं वे स्त्री कथा, भक्त कथा, राज कथा, देश कथा आदि कथा में रमण करने लगते हैं। ऐसे साधक आध्यात्मिकता को छू भी नहीं सकते। जो स्त्रियों के लावण्य और विकारी अंगों की वैकारिक भावना के साथ वर्णन करते हैं, इसी तरह अन्य भक्त कथा आदि कथाएँ करते हैं। वे कभी भी आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकते। ऐसे साधक अपना भी पतन कर लेते हैं और अन्य का भी। हाँ, आध्यात्मिकता के वर्णन में प्रासंगिक रूप से यदि अन्य वर्णन आ जाता है तो वह भी निर्विकारिक भावना से किया गया यथातथ्य वर्णन आध्यात्मिकता का ही पोषक होता है। लेकिन जो वैकारिक भावना से कथा का वर्णन करते हैं वे वाह्य रूप से आध्यात्मिक वेश को धारण करने पर भी संसारी ही हैं।

अध्यात्म साधक ब्रह्मचर्यधारी बन

साधक के लिये ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये नववाड़ प्रतिपादित हैं। खेत की सुरक्षा के लिये किसान एक वाड़ ही पर्याप्त मानता है किन्तु ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये प्रभु ने एक नहीं, दो नहीं नववाड़ों का वर्णन किया है। उन नववाड़ में एक यह भी वाड़ आई है कि ब्रह्मचारी व्यक्ति किसी भी स्त्री के अंगोपांगों को वैकारिक दृष्टि से नहीं देखे। यदि देखता है तो कच्ची आँख को सूर्य का दृष्टान्त अर्थात् जिस प्रकार किसी नवजात शिशु की आँख के समक्ष यदि सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश आ जाय याने वह बालक अपनी आँख से सूर्य को देख लेता है तो सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश से उसकी आँख का उपघात हो जाता है और वह नष्ट तक हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी व्यक्ति द्वारा बुरी आँखों से स्त्री को देखे जाने पर उसकी आँखों का ही नहीं, उसके जीवन का उपघात होता है।

साधक को सदा पौद्गलिक परिवर्तन का विचार करते हुए पुद्गलासक्ति से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये। स्त्री के शरीर के भीतर

क्या भरा पड़ा है ? मांस-पित्त, कफ की क्या स्थिति है ? आदि का चिन्तन करने से साधक की आध्यात्मिक भावना में प्रगति होती है ।

आध्यात्मिक साधना में अंशत: चलने वाले गृहस्थ को भी अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य के साथ माता एवं बहिन का व्यवहार रखना चाहिये । इस प्रकार की देशत: शुद्धि भी जीवन के लिये वरदान बन जाती है । सेठ सुदर्शन गृहस्थ, श्रमणोपासक था । देश से व्रती था । जब उसके सामने अभया रानी की कामुक चेष्टाएँ सामने आने लगीं तो भी वह अपने पथ से च्युत नहीं हुआ था ।

रानी अभया की क्रोधाग्नि भड़क उठी । उसने राजा से गलत-सलत सिखाकर सेठ सुदर्शन को फांसी का हुक्म दिलवा दिया । इतने पर भी सुदर्शन श्रमणोपासक नहीं घबराया । उसकी आध्यात्मिक साधना धैर्यता के साथ अविचल रूप से चलती रही । फांसी के तख्ते पर पहुँचने तक विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया । आखिर हुआ क्या ? आध्यात्मिक साधना का चमत्कारिक प्रभाव—शूली का सिंहासन होगया । जनता आश्चर्यचकित होगई । आध्यात्मिक साधना का अंशत: प्रभाव ही जनता में सुखद आश्चर्य पैदा करने वाला होगया ।

किसी कवि ने कहा है :—

सुदर्शन और सीताजी ने फेरी थी यह माला,
शूली का सिंहासन होगया शीतल होगई ज्वाला ।
शील जिसने पाला सच्चा है रखवाला ।। फेरो० ।।

यह है अध्यात्म साधना का प्रभाव ।

आगमानुकूल उपदेश हो

सर्वत्यागी साधु को स्वयं की आराधना के साथ अन्यों को भी आध्यात्मिक साधना का ही उपदेश देना चाहिये ।

जो आध्यात्मिक साधना के संग भूगोल और खगोल का वर्णन आता है, वह प्रासंगिक है, लक्ष्य नहीं है । जिस प्रकार मकान के वर्णन में आस-पास के पड़ोसियों एवं सड़क आदि का भी प्रासंगिक वर्णन

यथाशक्य गृहस्थ एवं साधु जीवन दोनों में की जा सकती है। आध्यात्म का सही चिन्तन करने वाले वस्तु स्वरूप का सही चिन्तन कर सकेंगे। साथ ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को दुनिया के सामने रख सकेंगे। अर्थात् आध्यात्मिकता की साधना किस में है ? और भौतिकता की साधना किस में है ? कर्त्तव्य क्या है ? और कर्त्तव्यहीनता क्या है ? लेकिन जो साधक आध्यात्मिक साधनापथ से च्युत हो जाते हैं वे स्त्री कथा, भक्त कथा, राज कथा, देश कथा आदि कथा में रमण करने लगते हैं। ऐसे साधक आध्यात्मिकता को छू भी नहीं सकते। जो स्त्रियों के लावण्य और विकारी अंगों की वैकारिक भावना के साथ वर्णन करते हैं, इसी तरह अन्य भक्त कथा आदि कथाएँ करते हैं। वे कभी भी आध्यात्मिक साधना नहीं कर सकते। ऐसे साधक अपना भी पतन कर लेते हैं और अन्य का भी। हाँ, आध्यात्मिकता के वर्णन में प्रासंगिक रूप से यदि अन्य वर्णन आ जाता है तो वह भी निर्विकारिक भावना से किया गया यथातथ्य वर्णन आध्यात्मिकता का ही पोषक होता है। लेकिन जो वैकारिक भावना से कथा का वर्णन करते हैं वे बाह्य रूप से आध्यात्मिक वेश को धारण करने पर भी संसारी ही हैं।

अध्यात्म साधक ब्रह्मचर्यधारी बन

साधक के लिये ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये नववाड़ प्रतिपादित हैं। खेत की सुरक्षा के लिये किसान एक वाड़ ही पर्याप्त मानता है किन्तु ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिये प्रभु ने एक नहीं, दो नहीं नववाड़ों का वर्णन किया है। उन नववाड़ में एक यह भी वाड़ आई है कि ब्रह्मचारी व्यक्ति किसी भी स्त्री के अंगोपांगों को वैकारिक दृष्टि से नहीं देखे। यदि देखता है तो कच्ची आँख को सूर्य का दृष्टान्त अर्थात् जिस प्रकार किसी नवजात शिशु की आँख के समक्ष यदि सूर्य का प्रचण्ड प्रकाश आ जाय याने वह बालक अपनी आँख से सूर्य को देख लेता है तो सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश से उसकी आँख का उपघात हो जाता है और वह नष्ट तक हो जाती है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मचारी व्यक्ति द्वारा बुरी आँखों से स्त्री को देखे जाने पर उसकी आँखों का ही नहीं, उसके जीवन का उपघात होता है।

साधक को सदा पौद्गलिक परिवर्तन का विचार करते हुए पुद्गलासक्ति से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये। स्त्री के शरीर के भीतर

क्या भरा पड़ा है ? माँस-पित्त, कफ की क्या स्थिति है ? आदि का चिन्तन करने से साधक की आध्यात्मिक भावना में प्रगति होती है ।

आध्यात्मिक साधना में अंशत: चलने वाले गृहस्थ को भी अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य के साथ माता एवं बहिन का व्यवहार रखना चाहिये । इस प्रकार की देशत: शुद्धि भी जीवन के लिये वरदान बन जाती है । सेठ सुदर्शन गृहस्थ, श्रमणोपासक था । देश से व्रती था । जब उसके सामने अभया रानी की कामुक चेष्टाएँ सामने आने लगीं तो भी वह अपने पथ से च्युत नहीं हुआ था ।

रानी अभया की क्रोधाग्नि भड़क उठी । उसने राजा से गलत-सलत भिड़ाकर सेठ सुदर्शन को फाँसी का हुक्म दिलवा दिया । इतने पर भी सुदर्शन श्रमणोपासक नहीं घबराया । उसकी आध्यात्मिक साधना धैर्यता के साथ अविचल रूप से चलती रही । फाँसी के तख्ते पर पहुँचने तक विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया । आखिर हुआ क्या ? आध्यात्मिक साधना का चमत्कारिक प्रभाव—शूली का सिंहासन होगया । जनता आश्चर्यचकित होगई । आध्यात्मिक साधना का अंशत: प्रभाव ही जनता में सुखद आश्चर्य पैदा करने वाला होगया ।

किसी कवि ने कहा है :—

सुदर्शन और सीताजी ने फेरी थी यह माला,
सूली का सिंहासन होगया शीतल होगई ज्वाला ।
शील जिसने पाला सच्चा है रखवाला ।। फेरो० ।।

यह है अध्यात्म साधना का प्रभाव ।

आगमानुकूल उपदेश हो

सर्वत्यागी साधु को स्वत्व की आराधना के साथ अन्यों को भी आध्यात्मिक साधना का ही उपदेश देना चाहिये ।

जो आध्यात्मिक साधना के मध्य भूगोल और खगोल का वर्णन आता है, वह प्रासंगिक है, लक्ष्य नहीं है । जिस प्रकार मकान के वर्णन में आस-पास के पड़ोसियों एवं सड़क आदि का भी प्रासंगिक वर्णन

आता है लेकिन वर्णन में मुख्यतया मकान की व्याख्या का ही उद्देश्य रहता है इसी प्रकार अध्यात्म वर्णन में मुख्यतया अध्यात्म का ही उद्देश्य रहा होता है, भूगोल-खगोल का नहीं।

भूगोल-खगोल का नहीं अपना समीक्षण करो

भूगोल-खगोल का मुख्य रूप से वर्णन न होने से इसको विवेचन भी सांगोपांग नहीं है। लेकिन अध्यात्म साधक को इसमें नहीं उलझना चाहिये। इसे अन्त:समीक्षण में ही विशेष ध्यान रखना चाहिये।

शास्त्रकार ने यह स्पष्ट कहा है—

धणेण किं धम्म धुरा हिगारे।

धर्म की धुरा को खींचने के लिये धन की क्या आवश्यकता है धन ही क्या इन बाह्य वस्तुओं में से किसी की भी मुख्य आवश्यकता नहीं रहती। जिस दिशा में व्यक्ति बढ़ता है उसी दिशा का ज्ञान उसके लिये मुख्य रूप से आवश्यक है। जाना चाहे पूर्व की ओर और पश्चिम का ज्ञान करे तो वह योग्य नहीं है। इसी प्रकार साधक को आत्मन् की दिशा में बढ़ना है तो भूगोल-खगोल आदि अन्यान्य वस्तुओं का ज्ञान मुख्य रूप से आवश्यक नहीं है। इसके लिये सबसे पहले आत्मिक ज्ञान आवश्यक है। जब तक अपने आपके जीवन का शोधन नहीं होगा तब तक बाह्य विज्ञान केवल मस्तिष्कीय कसरत ही रह जायगा। ऐसा विज्ञान एक बार नहीं अनेक बार कर चुके होंगे, लेकिन इससे शाश्वत शांति प्राप्त होने वाली नहीं है। शाश्वत शांति की प्राप्ति करने के लिये श्रेयांस प्रभु की स्तुति में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि अन्तर्यामी की स्थिति अध्यात्म साधना से ही संभवित है।

• • •

[२३]

अहिंसक देश में घोर हिंसा

(अण्डा शाकाहारी नहीं है)

- वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी
- भीतरी शत्रुओं से बाहरी शत्रुओं की प्रबलता
- हिंसक नहीं अहिंसक बनो
- महत्त्व छद्मस्थ की वाणी का नहीं
- भारतीय संस्कृति और सभी धर्मसम्मत अहिंसा
- अहिंसा और अतीत का इतिहास
- फैशन के पीछे घोर हिंसा
- मूक पशुओं की हिंसा कहाँ का न्याय ?
- अण्डा शाकाहारी नहीं है
- अण्डा मांसाहारी है : सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से
- अण्डा-आहार : नरक-गमन का हेतु
- वैज्ञानिक सभी अभिमत सत्य नहीं होते
- अण्डा मांसाहार है : वैज्ञानिक दृष्टि से भी
- जागृत हो जाइये

———

- सव्वेसिं जीवियं पियं

—आचारांग सूत्र १।२।३

सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है।

- आय तुले पयासु

—सूत्रकृतांग सूत्र १।११।३

विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति आत्म तुल्य भाव रखो।

- एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।

—सूत्रकृतांग सूत्र १।१।१।१

ज्ञानियों का यही सार है जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करते हैं।

- मेत्तिं भूएसु कप्पए

—उत्तराध्ययन सूत्र ६।२

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना चाहिए।

- सव्व जीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं

—प्रश्न व्याकरण

सभी जीवों की रक्षा के लिए भगवान् ने प्रवचन प्रचलित किया। समीक्षण दृष्टि ही अहिंसा की मूल नीति है।

□

वर्तमान समय में अण्डे का व्यापक प्रचार-प्रसार हो रहा है। शारीरिक संयोग बिना होने वाले अण्डे को "शाकाहारी अण्डा" के नाम से प्रचारित किया जा रहा है। यही नहीं, चित्रों में अण्डे को वनस्पति फल बताने के लिए वृक्षों पर दिखलाया जा रहा है।

ऐसे युग में यदि मानव समाज जागृत नहीं हुआ तो निकट भविष्य में ही अण्डे को शाकाहारी मान्यता भी प्राप्त हो सकती है। अण्डा मांसाहार है, यह आगमिक, वैज्ञानिक एवं संयुक्तिक रूप से स्पष्ट है। अण्डाहार आत्मिक जीवन को क्षतविक्षत करने के साथ ही शारीरिक एवं मानसिक जीवन को नष्ट करने वाला है। हिंसा का नग्न रूप उपस्थित करने वाला है।

मानव समाज, अण्डा मांसाहार नहीं है इसके विरोध में अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुये दृढ़ संकल्प के साथ अविरल रूप से आगे बढ़ेगा तो अवश्य ही सुखद क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित होगा।

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी
घन नामी पर नामी रे।
निराकार साकार सचेतन,
कर्म-कर्म फल कामी रे ॥

आज चौबीस तीर्थंकरों में से बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य भगवान की स्तुति का प्रसंग आया है। आध्यात्मिक विषय का परिपूर्ण प्रकटीकरण तीर्थंकर देव करते हैं। उस ही आध्यात्मिक बात को सन्मुख रखते हुए, वासुपूज्य जी की स्तुति के प्रसंग से कवि ने त्रिभुवन स्वामित्व शुद्ध चैतन्यत्व परिणामित्व, रागादि शत्रुओं पर विजेतृत्व, निराकार, आकार उपयोगत्व तथा कर्म कर्मफलकामित्व गुणों को स्पष्ट किया है।

वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी

आत्मा जब अनन्त-अनन्त जन्मों से संबद्ध राग-द्वेष की वैकारिक भावनाओं पर अपनुर्भाव से विजय प्राप्त कर लेती है। अपने शुद्ध चैतन्यत्व पर अपना आधिपत्य जमा लेती है, जिस आधिपत्य को हटाने की शक्ति संसार के किसी भी व्यक्ति में न हो तब आत्मा त्रिभुवन स्वामी के रूप में उद्भासित होती है। साधारण जनता त्रिभुवन स्वामी से यह अर्थ ले लेती है कि समग्र विश्व पर जो नियंत्रण रखे वही त्रिभुवन का स्वामी बन सकता है और इसी दृष्टि से उनके मन में वासुपूज्य भगवान् के लिए लगे त्रिभुवन स्वामी रूप विशेषण से यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या भगवान् सारे विश्व के नियन्ता संचालक थे ? दूसरा प्रश्न यह भी उठ सकता है, भगवान् त्रिभुवन के नियन्ता कैसे बने ? क्योंकि चक्रवर्ती सम्राट् के भी जब चक्रवर्तित्व पद का उदयकाल आता है तब वे छः खण्ड की साधना के लिए चल पड़ते हैं। कई स्थलों पर उनको युद्ध करने पड़ते हैं, कई गुफाओं का उद्घाटन करने के लिए देवों को बुलाना पड़ता है और देवों द्वारा द्वारों को उद्घाटित करवाया जाता है। यानी अथक परिश्रम एवं युद्धादि के द्वारा चक्रवर्ती छः खण्ड पर आधिपत्य जमा पाता है तो तीर्थंकर भगवान् को सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य जमाने के लिए भी ऐसा ही करना पड़ा या अन्य कोई ? ऐसे एक नहीं अनेक प्रश्न उभर आते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से चिन्तन करने पर इन प्रश्नों का सही समाधान ज्ञात हो सकेगा। प्रभु त्रिभुवन के स्वामी वने थे, पर वाह्य हिंसात्मक संघर्ष से नहीं। प्रभु त्रिभुवन के स्वामी वने, पर नियन्ता नहीं। प्रभु ने वाहरी शत्रुग्रों से संघर्ष कर भीतरी काम, क्रोध, मद, मोह, विषय-कषाय ग्रादि शत्रुओं से संघर्ष किया था ग्रौर उन पर विजय प्राप्त की। इसीलिए वे ग्ररिहंत कहलाए। अरि यानी शत्रु (काम, क्रोधादि) हंत याने नाशी, शत्रुग्रों का नाश करने वाले अरिहंत होते हैं।

भीतरी शत्रुओं से वाहरी शत्रुओं की प्रवलता

भीतरी शत्रुग्रों के प्रवल वनने पर ही वाहरी शत्रु प्रवल वनते हैं। यदि भीतरी शत्रु क्षीण हो जायेंगे तो ग्रापको कोई भी वाहरी शत्रु नहीं मिलेगा। तात्पर्य यह है कि जव मनुष्य स्वयं विकृत वनता है, राग-द्वेष की परिणितियों के साथ प्रवृत्ति करने लगता है, तव उसके वाहरी शत्रुग्रों का भी एक बहुत बड़ा घेरा तैयार हो जाता है। यदि साधक के कपायों की समाप्ति हो जाय, लोभ सर्वथा क्षीण हो जाय तो उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता। शास्त्रकारों ने स्पष्ट कहा है "लोहो सव्व विणासणो" लोभ सभी सद्गुणों का विनाश करने वाला है। लोभोदय से सभी वाहरी शत्रु खड़े हो जाते हैं। जिसमें लोभ नहीं है, उसके सभी गुणों का रक्षण हो सकता है। प्रभु ने पाँच इन्द्रियाँ और मन जो भीतरी शत्रु हैं, उन पर विजय पा ली थी, उन्हें ग्रपने नियन्त्रण में कर लिया था। इनके नियंत्रित होने से सम्वन्धित बाहरी शत्रुग्रों पर भी सहज ही नियंत्रण हो गया। इस नियंत्रण से उनके भी केवलज्ञान, केवलदर्शन की ज्योति जगमगा उठी। सारे विश्व में ऊर्ध्वलोक, अधः लोक, मध्य लोक में कहाँ क्या हो रहा है, इसका सारा विज्ञान उन्हें हस्तामलकवत् एक ही क्षण में स्पष्ट रूप से होने लगा था। उनके इस ज्ञान को नष्ट करने की शक्ति विश्व की किसी भी शक्ति में नहीं थी, ग्रतः वे त्रिभुवन के स्वामी वन गए।

हिंसक नहीं अहिंसक बनो

परिपूर्ण ज्ञानी होने पर प्रभु ने भव्यात्माओं को आदेश दिया—जिस प्रकार तुम जीवित रहना चाहते हो, वैसे ही विश्व के सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं।

"सव्वेसिं जीवियं पियं"

व्यक्ति अनियन्त्रित होकर के अपने स्वार्थ के लिए पंचेन्द्रिय प्राणियों तक का घात कर उठता है। ऐसा व्यक्ति महारंभी तथा स्व का अध:पतन करने वाला होता है।

श्रावक तो महापापी की श्रेणी में नहीं आते। उनके लिये विशेषण आया है "अल्पारंभी अल्पपरिग्रही" वे पाप करके जीवों को मारने की भावना वाले नहीं होते। परिस्थितिवश प्राणी मर जाते हैं, यह अलग बात है। श्रावक यह विवेक रखता है कि कौनसा जीव पंचेन्द्रिय है और कौनसा एकेन्द्रिय ? कौनसा त्रस है और कौनसा स्थावर ? श्रावक के लिए जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञाता होना, कहा गया है।

महत्त्व छद्मस्थ की वाणी का नहीं

जब श्रावक शास्त्रों का अध्ययन करने लग जाता है, तब उसके मन में तीर्थंकर देव के प्रति श्रद्धा जमने लगती है। वह सोचने लगता है कि यह परिपूर्ण पुरुष की वाणी है। जब वीतराग वाणी पर दृढ़तम आस्था जागृत हो जाती है, तब छद्मस्थ की स्खलित वाणी के प्रति श्रद्धावनत नहीं होता है। छद्मस्थ की मनकल्पित वाणी तीर्थंकर की वाणी की तरह सचोट सत्य नहीं कही जा सकती।

ऐसे श्रद्धाशील व्यक्ति की मति हंस-चोंच की तरह विवेकशील बन जाती है। जिस प्रकार दुग्ध मिले पानी में हंस-चोंच के जाने से दुग्ध अलग हो जाता है व पानी अलग हो जाता है इसी प्रकार सर्वज्ञ के नाम पर कही गई छद्मस्थ की वाणी का विभागीकरण, सत्य का स्पष्टीकरण, शास्त्र विज्ञाता व्यक्ति कर लेते हैं।

भारतीय संस्कृति और सभी धर्मसम्मत अहिंसा

आज भारतीय संस्कृति किधर जा रही है ? त्यागी, वैरागी, महायोगी जहां तप-संयम की आराधना करते हैं, जहाँ अहिंसा का बहुत बड़ा प्रचार है। जैनी ही नहीं प्रत्येक हिन्दू में किसी न किसी प्रकार से अहिंसा की भावना समाई हुई है। कोई भी हिन्दू हो, चाहे किसी भी धर्म का

अनुयायी हो, जल्दी से जानबूझ कर बिना कारण निर्दयता के साथ किसी भी प्राणी की हिंसा करने के लिए तत्पर नहीं होगा।

अहिंसा के विषय में कहाँ क्या कहा गया है यह बतलाना भी अप्रासंगिक नहीं होगा।

ऋग्वेद में कहा है—

यो नः कश्चिद् रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यः।
स्वैः ष एवै रिरिषीष्ट युर्जनः॥

जो व्यक्ति किसी को राक्षस भाव से नष्ट करना चाहता है वह स्वयं अपने द्वारा किये गए पापों द्वारा ही खत्म हो जाता है।

यजुर्वेद में कहा है—

माँ हिंसी स्तन्वा प्रजाः

तुम अपने शरीर से किसी को भी पीड़ित मत करो। अर्थात् सबके साथ आत्मीय व्यवहार रखो।

अथर्ववेद में कहा है—

कवि र्देवो न दभायत स्वधावन्, मूर्णा मृगस्यः दन्ताः।

क्रान्तदर्शी जो होता है वह ऐश्वर्यशाली होकर किसी भी प्राणी को पीड़ित नहीं करता।

हिंसाकारी व्याघ्र आदि के दाँत मूढ़ हो जाय, खाने में असमर्थ हो जाय अर्थात् अत्याचारी लोगों की शक्ति नष्ट हो जाय।

आदि पर्व में कहा है—

अहिंसा परमो धर्मः सर्व प्राण मृतां वरं।

सभी प्राणियों के लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म अहिंसा है।

वैशेषिक दर्शन में बताया है—

दुष्ट हिंसायाम् ।

हिंसा करने वाला अच्छे से अच्छा साधक भी दुष्ट, असाधक हो जाता है ।

श्रीमद्भागवत में भी बतलाया है—

स्वर्ग सत्व गुणोदय: नरकस्तम उन्वाह: ।

सत्व गुण-अहिंसा की वृद्धि यथार्थ स्वर्ग है । तमोगुण हिंसा ही नरक है ।

ईसा मसीह ने भी अपनी दस आज्ञाओं में पाँचवी आज्ञा में कहा—"किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो" "Thou shalt not kill" और भी कहा "मेरे शिष्यो, तुम रक्त बहाना छोड़ दो, और अपने मुँह में माँस मत डालो । ईश्वर बड़ा दयालु है, इसकी आज्ञा है कि मनुष्य पृथ्वी से उत्पन्न होने वाले फल और अन्न से जीवन निर्वाह करें ।" सेण्ट ल्युकस लिखते हैं—कि सभी प्राणियों पर दया करो । "Be kind to all creatures".

स्वामी दयानन्द ने कहा है—"माँस का प्रचार करने वाले सभी राक्षस हैं ।"

गुरु नानक ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—"माँस खाने वाले सभी राक्षस हैं ।"

मुस्लिम समाज जहाँ वर्तमान में माँस का अधिक प्रचार है, उसके कुरान का आदि वाक्य है "बिस्मिल्लाह निर्रहमान निर्रहीम" इसी प्रकार कुरानशरीफ में सराहन जिकर हज में भी स्पष्ट लिखा है—"अल्लाह खून और गोश्त को पसन्द नहीं करता ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि मुस्लिम धर्म में भी दीन हीन प्राणियों के रक्षण के लिये जोर दिया है । यह सब तो मैंने अन्य धर्मों के विषय में बताया ।

श्रमण संस्कृति जो वीतराग तीर्थंकर देवों की देन है, वहां तो अहिंसा की बहुत ही सूक्ष्म विवेचना मिलती है । उन सबको नहीं बतला रहा हूँ तथापि दो चार प्रमाण तो रख ही दूँ ।

आचारांग सूत्र में कहा है—

सव्वेसिं जीवियं पियं ।

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है ।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र में कहा है—

आय तुले पयासु ।

प्राणियों के प्रति आत्म तुल्य भाव रखो ।

एवंखु नाणिनो सारं जम न हिंसइ किंचणं ।

ज्ञानियों का वही सार है जो किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करते हैं।

उत्तराध्ययन में बताया गया है—

मेत्तिभुएसु कप्पए ।

सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना चाहिए ।

इस प्रकार एक स्थान पर ही नहीं, दो स्थान पर ही नहीं जगह-जगह पर प्रभु ने अहिंसा की व्यापक, विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचना की है। और तो और पूरी आगम विवेचना जीवों की रक्षा के उद्देश्य से ही की गई है जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में वतलाया गया है ।

"सव्व जीव रक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं"

सम्पूर्ण जीवों की रक्षा के लिए भगवान् की प्रवचन-देशना प्रवचित है । प्रभु का सारा जीवन अहिंसामय था । उनके रग-रग में अनुकम्पा की भावना समाई हुई थी । छोटे से छोटे जीव की हिंसा करना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था । प्रभु ने पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति में भी जीवत्व देखा है और परिपूर्ण साधक के लिए उनकी रक्षा करना भी अनिवार्य बतलाया है ।

अहिंसा और अतीत का इतिहास

इस प्रकार सर्वत्र सभी दर्शनों, धर्मों, पंथों में, अहिंसा का तुमुल शंखनाद जहाँ होता है, जिस भारतीय संस्कृति में अहिंसा के संस्कार आनु-

वंशिक रूप से चले आ रहे हैं। जिसका इतिहास अहिंसा की भावना से ओतप्रोत रहा है। उसी देश में स्वार्थलिप्सु व्यक्ति किस प्रकार हिंसा का ताण्डव रूप उपस्थित कर रहे हैं। कहाँ गया वह शौर्य—जहाँ राजा मेघरथ (शिवि) ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया। नेमिनाथ भगवान् ने पशुओं की रक्षा के लिए शादी से मुख मोड़ लिया। आज उनके अनुयायी किधर जा रहे हैं ? अगर अपनी आवाज को बुलन्द नहीं की तो भारतीय संस्कृति का अहिंसात्मक रूप नष्ट होता चला जाएगा।

फैशन के पीछे घोर हिंसा

आज भारत में अण्डे को तो शाकाहारी बताकर उसका तो गलत प्रचार किया ही जा रहा है। उसके अतिरिक्त भी न मालूम कितनी-कितनी हिंसाएँ किस-किस रूप में आपके फैशन के पर्दे के पीछे हो रही हैं, क्या कभी सोचा है आपने ? क्या कहूँ मैं, जब लोग मुझे बतलाते हैं कि आज फैशन के लिए किस प्रकार की हिंसाएं हो रही हैं तो मेरा हृदय एक गहरी संवेदना से भर जाता है। आज धार्मिक जनता को हो क्या गया है ? वह किधर जा रही है ? किस प्रवाह में वह रही है ? कहाँ चली गई उसकी अहिंसक भावनाएँ ? आपकी फैशन के पीछे कितनी क्या हिंसा होती है। उसे आप सुनेंगे तो आपके रोंगटे खड़े हो जायेंगे।

आज के लोग जो फर के कोट बड़ी खुशी के साथ पहनते हैं, मालूम है आपको उसके पीछे कितनी घोर हिंसा होती है ? समुद्र के सील नामक जीव को लाठियों से मार-मार कर फर प्राप्त किये जाते हैं जो बड़े खूबसूरत लगते हैं। मरने के पहले ही बेहोशी की हालत में उनकी खाल उतार ली जाती है। जैसा कि बतलाया जाता है कि छः सात बच्चों की खाल से मुश्किल से एक कोट बन पाता है। उद्‌बिलाव, भालू, खरगोश की चमड़ी द्वारा भी फर के कोट बनाए जाते हैं।

इसी प्रकार सिर को धोने के लिए बनाये जाने वाले शेम्पू का प्रयोग भी चूहों और खरगोश की आँखो पर किया जाता है। परिणामस्वरूप कितने खरगोश तो अन्धे हो जाते हैं। मालूम है आपको सिवेट जानवर को पिंजरे में डालकर लकड़ियों से खूब तंग किया जाता है। अधिक चिड़चिड़ा होने पर वह अधिक कस्तूरी देता है। फिर कस्तूरी वाली ग्रन्थि

को चीर कस्तूरी निकाल ली जाती है, हर दसवें दिन यह काम किया जाता है। खूबसूरत बैग, पर्स व जूतों को बनाने के लिए मगरमच्छ की खाल उधेड़ी जाती है। मगरमच्छ जिस रास्ते से जाता है उसी रास्ते से वापस लौटता है। यह उसकी आदत होती है। लोगों के द्वारा उसके लौटने के रास्ते पर तेज धार वाले चाकू रोप दिये जाते हैं। जिससे लौटते समय उसका पेट फट जाता है और उसका प्राणान्त हो जाता है।

जीवित साँप को मारकर उसकी खाल प्राप्त करने का तरीका तो भयंकर क्रूरतापूर्ण है। एक व्यक्ति जीवित साँप को पेड़ से सटाकर रखता है। दूसरा उसके सर पर कील ठोक देता है। हथोड़े से प्रहार करता है। तीसरा पूँछ पर पैर रखकर लम्बा चीरा देता है। इस प्रक्रिया से उसकी खाल शरीर से अलग हो जाती है।

घुंघराले बालों की टोपियाँ बनाने के लिए भेड़ के कोमल बच्चों को मार दिया जाता है।

मूक पशुओं की हिंसा कहाँ का न्याय ?

यह तो कुछ उदाहरण मैं आपके सामने दे रहा हूँ। ऐसी अनेक विविध हिंसाएँ आज के अहिंसक मनुष्यों के लिए की जा रही हैं। आर्य कहलाने वालों को विचार करना है। जो एक कीड़े को मारने में भी हिचकते हैं, वहाँ आज उनकी फैशन के पीछे कितनी घोरतम हिंसा की जा रही है। आज का बढ़ता हुआ हिंसात्मक प्रवाह उसे कहाँ से कहाँ तक ले जाएगा, कुछ कहा नहीं जा सकता ? जीवन की चन्द खुशियों के लिए किसी का प्राणापहरण कर लेना, कहाँ का न्याय है ? कौनसा धर्म है ? कौनसी नैतिकता है ? जरा हृदय में विचार कीजिए।

अण्डा शाकाहारी नहीं है

आधुनिक युग के कुछ अनुसन्धानकर्ता स्वार्थ के प्रवाह में बहकर कुछ अन्यथा कथन भी कह डालते हैं। कई डॉक्टर अण्डों को सब्जी आहार में शामिल कर उसे शाकाहारी बतलाने का व्यापक प्रचार कर रहे हैं। इसके पीछे राजनैतिक सत्ता भी काम कर रही है, ऐसा महसूस होता है।

स्वार्थ लिप्सा में व्यक्ति कृत्य-अकृत्य, हिंसा-अहिंसा आदि को भूलकर अकरणीय को करने में भी नहीं हिचकता है। आज तो अण्डे को

शाकाहारी बतलाने की हविस में कहीं चित्रपटों पर वृक्षों पर अण्डे के चित्र बतलाये जा रहे हैं जिससे जनता यह समझे कि जब अण्डा वृक्ष पर लगता है तो फिर शाकाहारी ही है । लेकिन ये सभी धारणाएँ भ्रान्त हैं ।

अण्डा मांसाहारी है, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से

इन सब हिंसात्मक स्थिति के अतिरिक्त एक बड़ा कुकरणीय कार्य यह हो रहा है कि अण्डे को शाकाहारी बतलाकर भोली जनता को भ्रमित करने का प्रयास किया जा रहा है ।

अण्डे को शाकाहारी बतलाने के लिए आधुनिक युग के लोगों द्वारा अनेक कुतर्क दिये जाते हैं । उनकी विचारणा के पहले सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को समझ लेना आवश्यक होगा ।

प्रभु महावीर ने त्रस जीवों की गणना करते हुए सबसे पहले अण्डे का नाम लिया है ।

तसा पाणा - अंडया पोएया जराउया……..

त्रस प्राणी में सबसे पहले अण्डा लिया गया है । जिससे कबूतर, मयूर, मुर्गी आदि की उद्भूति होती है । अतः इस दृष्टिकोण से अण्डे को माँसाहारी ही माना जाता है ।

इसमें आज के लोगों का यह तर्क है कि वही अण्डा माँसाहारी हो सकता है, जो नर-मादा के संयोग से उत्पन्न हो, किन्तु जो बिना नर-मादा के संयोग से पैदा होता है उसका माँसाहारी होना आवश्यक नहीं है । उन लोगों का यह मानना सर्वथा असंगत है क्योंकि पुरुष-स्त्री के बिना शारीरिक संयोग से अण्डे की बात तो जाने दीजिये, सिद्धान्त की दृष्टि से मनुष्य भी पैदा हो सकता है ।

एक बहिन नदी में स्नान कर रही है, पानी में पैठ करने के बाद कदाचित् वह निर्वस्त्र हो जाती है । इधर प्रवाहमान पानी की ऊँचाई पर एक भाई स्नान कर रहा है, संयोगवश उसके प्रजनन शक्ति के पुद्गल बाहर निकल गए और पानी के प्रवाह में वहते हुये स्त्री की योनि में प्रवेश

कर जाय तो स्त्री के विना पुरुष संयोग के इस प्रकार से गर्भाधान हो सकता है। विना पुरुष संयोग के भी संतानोत्पत्ति के पांच कारण स्थानाङ्ग सूत्र में स्पष्ट रूप से बतलाये गये हैं—

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धि असंवसमाणी
विगब्भ धरेज्जा-तंजहा इत्थो दुव्वियडा दुण्णिसण्णा
सुक्कपोग्गले अहिट्ठिज्जा सुक्को पोग्गल संसिट्ठे
व से वत्थे अंतो जोणीए, अणुपवे सेज्जा सइं वासा
सुक्क पोग्गले अणुपवेसेज्जा, परोव से सुक्कपोग्लले
अणुणवेसेज्जा सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए
सुक्क पोग्गला अणुपवेसेज्जा। इच्चेहिं पंचहिं ठाणेहिं
इत्थी पुरिसेणं सद्धि अवसमाणि विगब्भ धरेज्जा।

पाँच कारणों से स्त्री, पुरुष के साथ सहवास न करने पर भी, गर्भ धारण करती है—

१—जिस स्त्री की योनि अनावृत्त हो, और वह जहाँ पर पुरुष का वीर्य स्खलित हुआ है, ऐसे स्थान पर इस प्रकार बैठे कि जिससे शुक्राणु योनि में प्रविष्ट हो जायें तो गर्भाधान हो सकता है।

२—शुक्र लगा हुआ वस्त्र योनि में प्रवेश कर जाय तो गर्भाधान हो सकता है।

३—जानबूझ कर स्वयं शुक्राणुओं को योनि में प्रवेश करावे तो गर्भाधान हो सकता है।

४—दूसरे के कहने पर शुक्राणुओं को योनि में प्रवेश करावे तो गर्भाधान हो सकता है।

५—नदी नाले के शीतल जल में स्नान करने के लिये कोई स्त्री जावे और उस समय उसकी योनि में शुक्राणु प्रवेश कर जायें तो गर्भाधान हो सकता है।

यह तो शास्त्र की बात है, आज के वैज्ञानिक लोग ऐसे एक नहीं अनेक प्रयोग कर चुके हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह जाना जा सकता है

कि कितने पुद्गलों (कोशिकाओं की सामग्री में) के प्रक्षेप से पुरुष की उत्पत्ति होगी। कितने पुद्गलों के प्रक्षेपण से स्त्री की तथा कितने पुद्गलों के प्रक्षेपण से नपुंसक की उत्पत्ति होगी।

इसके साथ ही यह भी जान लिया जाता है कि कितनी मात्रा में पुद्गल प्रक्षेपण से उसमें विकास होता है और कितनी मात्रा में पुद्गल न डालने पर विकास अवरुद्ध हो जाता है।

बिना शारीरिक संयोग से मुर्गी के द्वारा अण्डा देने से अण्डे को निर्जीव शाकाहारी नहीं माना जा सकता। क्योंकि बिना संयोग के मात्र इन्जेक्शन द्वारा इन तत्त्वों को शरीर के भीतर पहुँचाने से गाय, भैंस के भी गर्भ रह जाता है, और बच्चा भी पैदा हो जाता है। अतः बिना संयोग से होने वाले अण्डे को निर्जीव नहीं कहा जा सकता। मुर्गी को सम्भव है कि इंजेक्शन से यह तत्त्व पहुँचा कर उसकी खाद्य सामग्री द्वारा यह तत्त्व पहुँचा दिये जाते होंगे, ऐसा लगता है, क्योंकि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। कार्य की निष्पत्ति में उपादान, निमित्त तथा समर्थ सहकारी कारण सामग्री की अपेक्षा रहती है। उन मुर्गियों द्वारा रोजाना अण्डे दिये जाते हैं, उनके लिए उसी प्रकार की खाद्य सामग्री भी तैयार की जाती है। वैज्ञानिकों को यह ज्ञान रहता है कि कितना तत्त्व मिलाया जाय कि जिससे मुर्गे का वीर्य और मुर्गी का रज यथायोग्य मिश्रित हो जाय। मुर्गी के खाने में उतनी मात्रा में वे तत्त्व मिला देते होंगे, जिससे वे तत्त्व अण्डा का रूप तो ले सकें, लेकिन विकसित न हो पावें, उस अण्डे को मुर्गी कितना ही पोषण कर ले किन्तु उसका विकास हो नहीं सकता। जिस मनुष्ययोनि के गर्भ से छः सात मास में ही कोई गर्भाशय से बाहर आ जाता है उस बच्चे को माता कितना ही पोषण दे तो क्या वह परिपूर्ण विकसित हो पाएगा? यदि नहीं, तो उसी प्रकार मुर्गी के विषय में भी जानना चाहिये, इतने मात्र से अण्डे को निर्जीव नहीं कहा जा सकता। बिना जीव के संयोग से ही यदि अण्डा बनाया जा सकता है तो क्यों न वैज्ञानिक बाहर ही, प्रक्रिया से अण्डा पैदा कर लेते? क्यों उन्हीं मुर्गियों के लिए मुद्दाम तौर से खाद्य सामग्री बनाई जाती है? और क्यों मुर्गियों के पालन आदि की कठिनाई करनी पड़ती है? इन सभी कारणों से स्पष्ट है कि बिना गर्भाशय के उस प्रकार का आकार तैयार नहीं हो सकता।

जिस प्रकार सभी प्रकार की सामग्री तो पड़ी है किन्तु उसे उपयोग में लेने वाला कोई नहीं है तो वह सामग्री कार्यकारी नहीं हो सकती, ठीक इसी प्रकार अण्डे की सारी ही सामग्री विद्यमान हो लेकिन यदि उसको व्यवस्थित रूप देने वाला कोई जीव नहीं है तो वह सामग्री अण्डे का रूप नहीं ले सकती। यदि कारीगर नहीं है तो ईंट, चूना, पत्थर आदि मकान का रूप नहीं ले सकते। कारीगर आ भी जाय लेकिन सामग्री में छत निर्माण की वस्तुएँ नहीं हैं तो वह मकान का पूर्ण रूप नहीं बना सकता है वैसे ही अण्डे उत्पन्न की सारी सामग्री मुर्गी के भीतर में जाती है और योनि से सम्बन्धित होती है तब उसमें जीवोत्पत्ति होती है। वह जीव उस सामग्री को ग्रहण कर उसका परिणमन इस प्रकार करता है कि जिससे वह सामग्री अण्डे का रूप ले लेती है। किन्तु उस सामग्री में अण्डे के विकास के तत्त्वों का अभाव होने से अण्डा बनने के बाद भी अण्डे का विकास नहीं हो पाता इसलिए अण्डा निर्जीव और शाकाहारी है, यह कतई नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसामाना जाएगा तो अविकसित गर्भ को भी निर्जीव और निर्मांस मानना होगा।

वीतराग देव के वचनों पर श्रद्धा रखने वाला कभी भी अण्डे को शाकाहारी या निर्जीव नहीं कह सकता। भगवद् वाणी असंदिग्ध सत्य है। उन्होंने जो कुछ रहस्यमय अनेक वर्णन किये हैं जिनमें से अनेक रहस्यों की खोज आज तक वैज्ञानिक लोग नहीं कर पाए हैं। जहाँ शास्त्र में वर्णन आता है कि एक गर्भ लगातार बारह वर्ष तक रह सकता है। उसके बाद मरकर पुनः वहीं उत्पन्न होकर बारह वर्ष और रह सकता है। इस प्रकार एक जीव गर्भ में चौबीस वर्ष तक रह सकता है। इस शास्त्रीय बात को वैज्ञानिक आज तक स्पष्ट रूप से खोज नहीं कर पाए, जबकि आज के युग में भी ऐसी अवस्था देखने को मिली है।

जब मेरा चातुर्मास राजनांदगांव में था। उस समय गोंदिया की एक प्रौढ़ बहिन आई और दीक्षा लेने की विचारणा व्यक्त करने लगी मैंने ज्ञान-ध्यान सिखाने एवं उसकी जानकारी करने के लिये शासन प्रभाविका महासती श्री नानू कँवर जी को संकेत किया। महासती जी ने एक-दो दिन में ही उसकी स्थिति देखकर बताया कि यह तो गर्भवती है और उसका गर्भ पाँच-सात महीने का नहीं अपितु १४ वर्ष का है।

वहाँ गर्भ १४ वर्ष तक जीवित न होता तो गर्भवती माता के शरीर में जहर फैल जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ, और गर्भगत जीव की अभिवृद्धि भी नहीं हुई जिससे गर्भगत जीव बाहर आ सके। अतः स्पष्ट है कि गर्भ की ऐसी अवस्था भी हो जाती है कि पोषण होने पर भी अमुक तत्त्व की कमी से गर्भ विकसित नहीं हो पाता है। इतने मात्र से वह निर्जीव तथा निर्मांस नहीं कहा जा सकता। अविकसित अण्डों की भी यही स्थिति समझनी चाहिए। क्योंकि वह भी गर्भ निर्मित है, वैसा निर्माण जीव के बिना नहीं होता।

ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं। वैज्ञानिकों की कसौटी पर भी प्रभु द्वारा प्रतिपादित कितने ही सिद्धान्त सत्य सिद्ध हो चुके हैं। जो सत्य है, वह सत्य ही रहेगा। हमारे समझने में विलम्ब हो सकता है किन्तु प्रभु के सिद्धान्त तो असंदिग्ध सत्य हैं। प्रभु ने स्पष्ट रूप से अण्डे में जीवत्व का प्ररूपण किया है और उसे पंचेन्द्रिय बतलाया है।

अण्डा-आहार : नरकगमन में हेतु

शास्त्रकार ने नरकगमन के चार कारण बताए हैं—१. महारंभ २. महापरिग्रही ३. पंचेन्द्रिय का घात करने वाला ४. मांसाहार करने वाला।

उपर्युक्त चार कारणों में दो कारण तो मुख्य रूप से अण्डाहार में आ जाते हैं। क्योंकि अण्डा पंचेन्द्रिय जीव है। उसको खाने वाला पहले उसका हनन करता है तो पंचेन्द्रिय जीव की हिंसा का प्रसंग बनता है। फिर उसको खाता है तो मांसाहार का प्रसंग बनता है। इस प्रकार एक अण्डे का आहार करने में नरकगमन के दो हेतु बन जाते हैं।

अतः आर्य संस्कृति के उपासकों को तो कभी भी अण्डे का सेवन करना ही नहीं चाहिये। सामान्य अवस्था की बात तो दूर रही, शरीर में भयानक रोग भी आ जाय, मारणांतिक कष्ट की स्थित हो, तथाकथित डाक्टर का परामर्श हो कि अण्डे लेने से ठीक हो जायेगा तथापि आर्य पुरुषों को मांसाहार से दूर ही रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त जिन वस्तुओं के निर्माण में महापाप हो और जो वस्तु जीवन के लिए अनिवार्य उपयोगी नहीं हो, उसका भी परित्याग कर देना चाहिए। आज फैशनेबल

चीजों से कितनी क्या हिंसा हो रही है, इस पर आप सभी को गहराई से विचार करना आवश्यक है।

वैज्ञानिक सभी अभिमत सत्य नहीं होते

वैज्ञानिकों के अभिमत को स्पष्ट सत्य नहीं माना जा सकता। छद्मस्थ व्यक्ति कितना ही ज्ञानी हो, आखिर है तो अपूर्ण ही। और भौतिक विज्ञान में निमग्न रहने वाले वैज्ञानिकों के पास में आत्म अनुभूतिपरक ज्ञान तो होता नहीं है। भौतिक अनुसंधानों के माध्यम से ही उनके निर्णय होते हैं। अतः सिर्फ उनको सत्य मानकर चलना कतई अभीष्ट नहीं रहता। अनेक विचारशील वैज्ञानिकों का तो यह स्पष्ट कहना है कि हमारी खोज अपूर्ण है। हम निर्णयात्मक रूप से सत्य नहीं कह सकते। वैज्ञानिक जेम्सजीन्स ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"कोई भी व्यक्ति हम वैज्ञानिकों को सत्य मानने की भूल कभी नहीं करे। क्योंकि हमारे वहुत से सत्य असत्य हो चुके हैं।"

वैज्ञानिकों का भी जव इतना स्पष्ट कथन है, तव उनकी वात को लेकर प्रभु के सिद्धान्तों को संदिग्ध दृष्टि से देखना कहाँ तक उपयुक्त है। वैज्ञानिक जिस सिद्धान्त को आज स्पष्ट करते हैं, उसे कल की खोज पर बदल भी सकते हैं। अण्डे आदि का प्रचलन प्रायः विदेशों से हुआ है। वहाँ कृषि कर्म के लिये क्षेत्रफल कम होने से अण्डा उद्योग, मछली उद्योग आदि का कार्य प्रारम्भ किया गया। भारतीयों ने उन्हीं विदेशो लोगों की नकल कर ली, लेकिन यह नहीं सोच पाये कि यह हमारी संस्कृति से विपरीत है। उनके पास तो क्षेत्रफल कम है कृषि के लिए, जबकि भारतीयों के पास पर्याप्त क्षेत्रफल है।

लगता है कि अण्डे का प्रचार-प्रसार करने के लिये ही उसे शाकाहारी तथा निर्जीव बतलाया जा रहा है। भोली जनता को इस कुचक्र से बचना चाहिये तथा प्रचार-प्रसार का अहिंसक रूप से विरोध होना आवश्यक है। जब तक जनमानस जागृत नहीं होगा, तब तक यही स्थिति चलती रहेगी।

अण्डा मांसाहार है : वैज्ञानिक दृष्टि से भी

कई तटस्थ वैज्ञानिकों ने तो अण्डे को माँसाहारी तथा सजीव बतलाया है और उसे शरीर के लिए घातक भी सिद्ध किया है।

वैज्ञानिकों ने अपनी खोज में बतलाया है—

अण्डों में अब तक छ: प्रकार के विष पाये गये हैं—१. कोलेस्टरोल २. लाइपोप्रोटीन्स ३. सैच्युरेटिड फैटी एसिड्स ४. एस. आर. फ्रेक्शन १० से २० तक ५. माइक्रोग्लोब्युलिन्स ६. डी. डी. टी.[1] ये विष अण्डे के माध्यम से शरीर के भीतर जाकर धमनियों, हृदय, मस्तिष्क, गुर्दा, जिगर आदि को हानि पहुँचाते हैं। इसके अतिरिक्त हृदय रोग, पक्षाघात, रक्त चाप वृद्धि, पैरों में दर्द, पित्ताशय में पथरी जैसे भयंकर रोग भी अण्डे के खाने से उत्पन्न हो जाते हैं। ये रोग पाचन शक्ति को नष्ट करते हैं और आयु को घटाते हैं। आज के लोग जो यह समझकर अण्डे खाते हैं कि हमें इससे शक्ति मिलेगी। लेकिन वैज्ञानिकों ने इस बात को भी अपने अनुसंधान के द्वारा स्पष्ट कर दिया कि—अण्डे में शक्तिदायक तत्त्व शर्करा (कार्बोहाइड्रट्स) तथा विटामिन "सी" बिल्कुल नहीं होते। कैलशियम और बी कम्पलैक्स विटामिन भी नहीं के बराबर होते हैं। शक्तिदायक तत्त्वों की कमी होने के कारण तथा विषैले तत्त्वों की बहुलता से आंतड़ियों में सड़ान पैदा कर देते हैं। जिस अण्डे से मुर्गी उत्पन्न नहीं होती, प्रचार के लिये कुछ लोग उसको अपने व्यापार की बिक्री बढ़ाने हेतु "शाकाहारी अण्डा" बतौर उपनाम भी कह देते हैं। वास्तव में यह मुर्गी का गर्भपात होता है जो खून, मलमूत्र आदि से भीगा होकर मुर्गी के पेट से बाहर निकल पड़ता है। इसमें साधारण अण्डे की अपेक्षा बीमारी पैदा करने की अधिक शक्ति होती है।[2]

---

1. Modern science has found the following harmful substances in egg which damage the organs of the human body in different ways and cause many diseases in the human beings : 1. CHOLESTEROL 2. LIPOPROTEINS 3. SATURATED FATTY ACIDS 4. S. R. FRACTION 10 TO 20 5. MICRO GLOBULINS. 6. D. D. T.

2. "Egg food which a chicken does not come out some people also call it, by nick name, "Vegetarian egg" for business purpose to increase their sale. In reality it is a type of abortion of a hen which is moistened with urine, blood and faecul matter. It has more potential of creating diseases in human body than an ordinary egg. It is not a vegetable substance. Normalty such type of eggs are not producted. They are not available in the market and an average person can not recognise them.

जीवों की उत्पत्ति मुख्यतया दो प्रकार से होती है। आबी और पेशाबी। आबी जिसे शाकाहारी कहा जाता है, जिसमें फल, फूल आदि वनस्पति ली जाती है। पेशाबी को मांसाहार कहा जाता है—उसमें अण्डा, मांस, मछली आदि आती है। इस दृष्टिकोण से भी अण्डा मांसाहार ही है। मांस खाना मानव की प्रकृति के भी प्रतिकूल है। पशुओं की प्राकृतिक रचना को देखकर इस बात का स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। मांसाहारी पशु जो होते हैं उनके दाँत, नाखून तीव्र, तीखे और भिन्न प्रकार के होते हैं; जबकि शाकाहारी पशु गाय, भैंस, बकरी आदि में वैसी स्थिति नहीं होती। शाकाहारी पशु होठ से पानी पीते हैं जबकि मांसाहारी पशु जिह्वा से पानी पीते हैं। मानव की प्राकृतिक रचना भी शाकाहारी पशुओं जैसी ही है।

राबर्ट ग्रीस, डा.जे. अनन आदि ने अण्डे से कोलेस्ट्रोल की अधिकता के कारण हार्ट अटेक, हाई ब्लड प्रेशर, पथरी आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति बताई है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाय तो आप देखेंगे जब एक मनुष्य के शरीर में दूसरे मनुष्य का रक्त भी दिया जाता है, तब डाक्टरों द्वारा उसका भी मिलान किया जाता है, यदि नहीं मिलता है तो रक्त नहीं दिया जाता। दे देने पर घातक स्थिति आ सकती है। अब आप विचार कीजिए कि मानव का खून भी मानव के लिये घातक बन सकता है, तो जो पशु के खून और मांस हैं, उनके तत्त्वों से बना अण्डा वह मानव के लिये आरोग्यप्रदायक एवं अनुकूल कैसे हो सकता है?

मारगरेट अस्पताल के वरिष्ठ डा० ओल्ड फील्ड का कहना है कि—मांस मनुष्य के लिये अप्राकृतिक खाद्य है। ऐनीबीसेण्ट ने एक जगह लिखा है कि पशु हत्या से मानवी प्रकृति में क्रोध, आवेश, कामुकता, ईर्ष्या, प्रतिरोध, जैसे अमानुषी तत्त्व बढ़ते हैं। अमेरिका के आहार शास्त्री एल० एच० एण्डरसन ने अपने भोजन विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थ में लिखा है कि—"हम सभ्यताभिमानियों के हाथ मूक और उपयोगी पशुओं के रक्त से रंगे हैं। हमारे माथे पर उनके खून का कलंक है। हमारा पेट एक घिनौना कब्रिस्तान है। शरीर की दुर्गन्ध हमारे मुख से निकल रही है। क्या यही हमारा मानवोचित आहार है? यह राक्षसी वितृष्णा का परिपोषण करना है।"

इसके साथ ही यह बात भी स्पष्ट कही गई है—

मांस में ४० प्रतिशत विषाक्त एवं मल वर्ग का पदार्थ विभिन्न नस-नाड़ियों में भरा रहता है। खाने वालों को जहाँ ६० प्रतिशत पोषक पदार्थ मिलते हैं वही १० प्रतिशत विकृत वर्ग का आहार भी उदरस्थ करना पड़ता है।

मांसाहार से होने वाले परिणाम को डाक्टर रोगर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"कुछ चूहों को अनाज पर और कुछ को मांस पर रखा। मांसाहारी चूहों का पेशाब बदबूदार, मल काला और गुर्दा सूजा हुआ पाया गया, जबकि अन्नाहारी चूहे पूर्ण स्वस्थ थे।"

शाकाहारी को अधिक क्षेत्रफल चाहिये या मांसाहारी को, इस बात को स्पष्ट करते हुए डा० रिचार्ड वी ग्रेक ने अपने सर्वेक्षण में लिखा है कि शाकाहारी व्यक्ति के लिए डेढ़ एकड़ जमीन से गुजारे लायक खाद्य सामग्री प्राप्त हो सकती है, जबकि मांसाहारी के लिये ढाई एकड़ प्रति व्यक्ति जमीन चाहिए। कारण यह है कि पशु मनुष्य की तुलना में प्रायः बीस गुना भोजन करते हैं। वे अपने जीवन काल में जितना चारा खाते हैं उसका दो हजारवां भाग खाने योग्य मांस दे पाते हैं। काटने पर भी उनका ६५ प्रतिशत भाग तो चमड़ी, हड्डी, सींग, खुर, आंतें, रक्त, मल आदि भाग अखाद्य रहता है। खाने योग्य मांस तो २० प्रतिशत ही पड़ता है। इस तरह मांस की दृष्टि से पाले गये पशु अधिक उपज खाते हैं और कम मात्रा में खाद्य उत्पन्न करते हैं। अतः वे खाद्य समस्या को सुलझाते नहीं, उलझाते अधिक हैं।

सज्जनो ! ऐसे एक नहीं अनेक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अण्डा सजीव एवं मांसाहार हैं।

प्रभु की वाणी से भी अण्डा जीवन के लिये महान् हानिकारक एवं नरक गमन हेतु है तो वैज्ञानिकों की वाणी से भी अण्डे से शारीरिक एवं मानसिक हानि स्पष्ट हो गई है। आप लोगों में भी इस विषय की काफी चर्चा चल रही थी कि अण्डा मांसाहारी है या नहीं ? अतः मैंने आज इस बात को स्पष्ट करना अधिक उपयुक्त समझा।

जागृत हो जाइए

सज्जनो ! इस आधुनिक युग में भ्रामक प्रचारों से अपने आपको बचाना एवं अन्य मानवों को बचाना आपका कर्त्तव्य हो जाता है। कहीं-कहीं विदेशों में तो मांसाहार का प्रचार कम हो रहा है। डेनियल पी० हाक ने यहाँ तक कहा है कि अमेरिका में शाकाहार इतना विस्तार पा चुका है कि मांस विक्रेताओं को अपना माल खपाने के लिये विज्ञापन व प्रलोभन देने को बाध्य होना पड़ता है।

बन्धुओ ! जागिये। आप सबको श्रमण संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिये तत्पर हो जाना चाहिए। आप आत्म-शांति चाहते हैं लेकिन……खान पान में भी यह शुद्धता नहीं आई तो आत्म-समीक्षण कैसे हो सकता है ? आत्म-समीक्षण के लिये खान-पान एवं जीवन में नैतिकता तथा प्राणियों के प्रति आत्मीयता आना आवश्यक है।

भारतीय एवं अहिंसक संस्कृति के सभी अनुयायियों से यह अनुरोध है कि वे इस संस्कृति की विशुद्ध परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जागृत हो जायें। अब तक तो अण्डे को शाकाहारी रूप में स्पष्ट मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, लेकिन शाकाहारी जनता यदि जागरूक नहीं हुई और अहिंसक असहयोग का रूप नहीं लिया तो निकट भविष्य में ही वह स्थिति आ सकती है। और उसका शाकाहारी समाज पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा, आने वाले सन्तान की क्या स्थिति बनेगी तथा भारतीय संस्कृति की क्या दशा होगी ? कुछ कहा नहीं जा सकता।

अण्डे के विरोध में अहिंसक रूप से यथायोग्य असहयोग का रूप, आर्य संस्कृति के सभी धर्माधिकारी तथा प्रबुद्ध एवं अनुयायी वर्ग लें—चाहे जैन हों या जैनेतर, जनता हो या शासक वर्ग। क्योंकि यह प्रश्न किसी धर्म या सम्प्रदाय का नहीं है बल्कि मानवीय संस्कृति का है। मानवीय संस्कृति को देखते हुए मांस व अण्डाहार मानव की प्रकृति के प्रतिकूल है। अनेक रोग एवं व्याधियों का उत्पादक है। इन सब रोगों से मानव को उभारना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होता है। शासक वर्ग को तो इस विषय पर विशेष गौर करना चाहिए। इनमें जो खाद्य समस्या का हल करने वाले महानुभाव हैं, वे इस विषय पर विशेष ध्यान दें।

इस अहिंसक महायज्ञ में अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए दृढ़ संकल्प के साथ अविरल रूप से आगे बढ़ेंगे तो अवश्य ही कुछ सुखद क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित होगा। □

[२४]

मानव और मानवता

(जोश और होश का समन्वय)

- अन्तरंग का विज्ञान बाह्य जीवन से
- अमूल्य मानव तन
- गरीब कौन ?
- दुर्लभता : मानव जीवन की
- मानव की इतनी पैदाइश कैसे ?
- मानवता की खोज
- अन्तरंग जीवन के चित्र
- आज के लोगों का मस्तिष्क
- युवकों की धर्म के प्रति अरुचि का मूल
- जल प्रवाह और मानव
- जनसत्ता क्या नहीं कर सकती ?
- मानवता–परीक्षक नीतिवाहन
- आवश्यकताएं किसके कितनी
- मानवता का ज्वलन्त प्रतीक : एक किसान
- चार अंगों की स्थिति कितनी क्या है मानवों में ?
- अभिषेक एक किसान द्वारा
- समीक्षण करो जीवन का



जागृत हो जाइए

सज्जनो ! इस आधुनिक युग में भ्रामक प्रचारों से अपने आपको बचाना एवं अन्य मानवों को बचाना आपका कर्त्तव्य हो जाता है। कहीं-कहीं विदेशों में तो मांसाहार का प्रचार कम हो रहा है। डेनियल पी० हाक ने यहाँ तक कहा है कि अमेरिका में शाकाहार इतना विस्तार पा चुका है कि मांस विक्रेताओं को अपना माल खपाने के लिये विज्ञापन व प्रलोभन देने को बाध्य होना पड़ता है।

बन्धुओ ! जागिये। आप सबको श्रमण संस्कृति एवं भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिये तत्पर हो जाना चाहिए। आप आत्म-शांति चाहते हैं लेकिन......खान पान में भी यह शुद्धता नहीं आई तो आत्म-समीक्षण कैसे हो सकता है ? आत्म-समीक्षण के लिये खान-पान एवं जीवन में नैतिकता तथा प्राणियों के प्रति आत्मीयता आना आवश्यक है।

भारतीय एवं अहिंसक संस्कृति के सभी अनुयायियों से यह अनुरोध है कि वे इस संस्कृति की विशुद्ध परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जागृत हो जायें। अब तक तो अण्डे को शाकाहारी रूप में स्पष्ट मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, लेकिन शाकाहारी जनता यदि जागरूक नहीं हुई और अहिंसक असहयोग का रूप नहीं लिया तो निकट भविष्य में ही वह स्थिति आ सकती है। और उसका शाकाहारी समाज पर कितना बुरा प्रभाव पड़ेगा, आने वाले सन्तान की क्या स्थिति बनेगी तथा भारतीय संस्कृति की क्या दशा होगी ? कुछ कहा नहीं जा सकता।

अण्डे के विरोध में अहिंसक रूप से यथायोग्य असहयोग का रूप, आर्य संस्कृति के सभी धर्माधिकारी तथा प्रबुद्ध एवं अनुयायी वर्ग लें—चाहे जैन हों या जैनेतर, जनता हो या शासक वर्ग। क्योंकि यह प्रश्न किसी धर्म या सम्प्रदाय का नहीं है बल्कि मानवीय संस्कृति का है। मानवीय संस्कृति को देखते हुए मांस व अण्डाहार मानव की प्रकृति के प्रतिकूल है। अनेक रोग एवं व्याधियों का उत्पादक है। इन सब रोगों से मानव को उभारना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य होता है। शासक वर्ग को तो इस विषय पर विशेष गौर करना चाहिए। इनमें जो खाद्य समस्या का हल करने वाले महानुभाव हैं, वे इस विषय पर विशेष ध्यान दें।

इस अहिंसक महायज्ञ में अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हुए दृढ़ संकल्प के साथ अविरल रूप से आगे बढ़ेंगे तो अवश्य ही कुछ सुखद क्रान्तिकारी परिवर्तन घटित होगा। □

[२४]

मानव और मानवता

(जोश और होश का समन्वय)

- अन्तरंग का विज्ञान बाह्य जीवन से
- अमूल्य मानव तन
- गरीब कौन ?
- दुर्लभता : मानव जीवन की
- मानव की इतनी पैदाइश कैसे ?
- मानवता की खोज
- अन्तरंग जीवन के चित्र
- आज के लोगों का मस्तिष्क
- युवकों की धर्म के प्रति अरुचि का मूल
- जल प्रवाह और मानव
- जनसत्ता क्या नहीं कर सकती ?
- मानवता-परीक्षक नीतिवाहन
- आवश्यकताएं किसके कितनी
- मानवता का ज्वलन्त प्रतीक : एक किसान
- चार अंगों की स्थिति कितनी क्या है मानव में ?
- अभिषेक एक किसान द्वारा
- समीक्षण करो जीवन का



चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणिय जंतुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ।।

—उत्तराध्ययन सूत्र–३/२

इस आत्मा को चार अंगों की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है—मनुष्यत्व, धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा, संयम के प्रति पराक्रम ।

मनुष्य जन्म प्राप्त करने में जितनी कठिनाई नहीं होती उससे भी अधिक कठिनता मनुष्यत्व प्राप्त करने में है ।

जब तक मानव में मानवता नहीं आती, तब तक वह सच्चे अर्थों में मानव कहला नहीं सकता । जिस मानव तन में पशुत्व वृत्ति, दानवीय वृत्ति रही हुई है वह मानव तन में रहकर भी एक दृष्टि से पशु या दानव है ।

मानव में मानवता को उभारने के लिए यथायोग्य सामंजस्य की आवश्यकता है ।



वासुपूज्य जिन त्रिभुवन स्वामी, घन नामी पर नामी रे ।
निराकार साकार सचेतन, करम करम फल गामी रे ।।
निराकार अभेद संग्राहक, भेद ग्राहक साकारो रे ।
दर्शन ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तु ग्रहण व्यापारो रे ।।१।। वासु.......

बन्धुओ ! जिसका कथन नहीं किया जा सके ऐसा अनिर्वचनीय उपकार करने वाले परम पवित्र तीर्थङ्कर देव के चरण कमलों में स्तुति के माध्यम से समर्पण भाव लेकर उनके उपदेश का उनके द्वारा प्ररूपित, शास्त्र वाणी का विश्लेषण भव्य जनों के समक्ष करने का प्रसंग वर्तमान में आता है । मानव तन के अन्दर रहने वाली आत्मा अपने समग्र स्वरूप को परिपूर्ण रूप से समझ नहीं पा रही है । उसके अन्दर समझने का सामर्थ्य है । वह स्व-पर विज्ञान के साथ अपने स्वरूप को भली भाँति समझ सकती है । परन्तु जब समझने का प्रयास सद्भावना के साथ दृढ़ संकल्प पूर्वक किया जाए तो कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो मनुष्य से अज्ञात रह सके । ज्ञानी जनों का संकेत है कि—

"बुज्झ ! बुज्झ किं न बुज्झह"

हे भव्य प्राणियो ! बोध पाओ ! बोध पाने का तात्पर्य है कि आत्म जागरण से सम्पन्न बनो ।

अन्तरंग का विज्ञान बाह्य जीवन से

बोध पाने का सम्यक् अवसर, वास्तविक समय मनुष्य जीवन में मिला है । मनुष्य जीवन की ही ऐसी विशेषता है कि जिसमें आत्मा समग्र विश्व का विज्ञान और उस विज्ञान के अन्तर्गत आत्मा और परमात्मा का विज्ञान भी प्राप्त कर सकती है । इस मनुष्य तन को यह आत्मा अंगीकार करके चल रही है परन्तु मनुष्य जीवन के योग्य कर्त्तव्य कर्म को जानने की बहुत कम कोशिश करती है । मानव दो हाथ, दो पैर, नेत्र, कर्ण, नाक, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के साथ सर्वत्र परिलक्षित होता है । उन संचालित अवयवों से उसकी भीतरी शक्ति का पता लग सकता है कि वह स्वयं अपने आप में क्या है और बाहर में किस रूप में है ? बाहरी वस्तु को बाहर से देखने पर बाहर का स्वरूप ही ज्ञात हो सकता है । भीतर में अनुमानतः कुछ ज्ञान किया जा सकता है । व्यक्ति आम के

मौसम में जब आम देखता है तो यह ठीक है या वो ठीक है, उसकी पहचान ऊपर के आकार प्रकार से ही होती है । आम के ऊपरी स्वरूप को ठीक तरह से पहचान करके वह उसको खरीदता है और अनुमान करता है । इसका आकार प्रकार ऊपर का ठीक है तो इसमें रस भी मीठा होगा, और अच्छा होगा । बहुलता उसी की रहती है। और जैसा वह अनुमान करता है वैसा ही आम का रस निकल जाता है । बाहर की प्रक्रिया, बाहर का आकार-प्रकार, उसके भीतर की वृत्ति को प्रायः प्रकट करने वाला बनता है । मनुष्य की आकृति जिस रूप में आज दृष्टिगत हो रही है उस आकृति का ज्ञाता जिसने मनुष्य जीवन का विज्ञान पढ़ा है, मनुष्य जीवन सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं को जानता है तो वह पुरुष उसकी भीतरी आत्मा का अनुमान कर सकता है ।

अमूल्य मानव तन

परन्तु जिनका ध्यान, जिनके विचार मनुष्य शरीर के भीतरी तत्त्वों की तरफ नहीं हैं और बाहरी पदार्थों को जानने में ही सारी शक्ति लगाते हैं वे मानव की पहचान सही रूप में नहीं कर पाते हैं और जहां मानव की पहचान नहीं होती वहां मानव के साथ क्या व्यवहार करना चाहिए, इसका भी विज्ञान नहीं होता । वे बाहरी दृश्यों को ही लेकर चलते हैं और वर्तमान जीवन के बहुत मूल्यवान क्षण, जीवन की बहुमूल्य थाती, बहुमूल्य उपलब्धि वैसे ही गँवा देते हैं । जिस प्रकार एक गंवार चिन्तामणि रत्न को बिना पहचाने पत्थर समझ कर फेंक देता है । चिन्तामणि रत्न की पहचान जौहरी ही कर सकता है । रत्न तो मूल्यवान ही है परन्तु एक दृष्टि से देखा जाय तो मानव तन मूल्यवान ही नहीं, अमूल्य है । इसका एक-एक अवयव भी कहीं सहज में उपलब्ध नहीं होता । इतने बड़े शहर में यदि कोई बाहर का व्यापारी आकर जीवित मनुष्य के दो नेत्र मांगना चाहे कि मुझे दो नेत्र चाहिए और एक-एक नेत्र के दस-दस लाख रुपये देने को तैयार हूं, तो कहिये ! इस अहमदाबाद शहर में नेत्र देने वाले कितने व्यक्ति मिल जायेंगे ? क्या कुछ आप कह सकते हैं ? नजदीक से तो आवाज आई कि एक भी नहीं

मिल पाएगा। क्यों ? क्या मनुष्य के नेत्रों की दस लाख से भी अधिक कीमत है ? और अधिक देने को तैयार हो जाय, तब तो मिल जायेंगे ? नहीं मिलेंगे।

एक दूसरा व्यापारी कदाचित पहुंचा और वह चाहे कि मनुष्य की जिह्वा—जवान जिससे वह बोलता है, चखता है, वह तालवे से लेकर सारी चाहिये और उसके लिये भी वह बीस लाख रुपये देने को तैयार है। तो है कोई देने को तैयार ? कोई देने वाला मिलेगा ? नहीं। इतने में तीसरा व्यापारी आया—और वह चाहे कि आजकल कई व्यक्तियों के हार्ट कमजोर हो गये हैं उनके लिये हार्ट चाहिये। यदि कोई जिन्दा मनुष्य हार्ट देता है तो दस अरब रुपये देने को तैयार है। क्या मिल सकेगा हार्ट देने वाला ? नहीं। तो अब कल्पना कीजिये ! मानव जिसकी उपलब्धि को लेकर चल रहा है, उसका मूल्यांकन करिये। इन अवयवों की इतनी-इतनी धन राशि देने पर भी उन्हें देने वाला नहीं मिल सकता तो आज के मानव का मूल्यांकन किस रूप में किया जाये ?

गरीब कौन ?

कई भाई अपने अन्दर इन भावों को लेकर चल रहे हैं कि हम गरीब हैं, हम कमजोर हैं, हमारे पास सम्पत्ति नहीं है और अमुक के पास धन है। मैं सोचता हूं कि यह भावना कहां से प्रवेश कर गई ? शरीर में भिन्न तत्त्वों का वह मूल्यांकन कर रहा है। चन्द चांदी के टुकड़ों को वह महत्त्व दे रहा है और उसके पीछे बहुमूल्य जिन्दगी का अवमूल्यन कर रहा है। क्या यही इस मानव तन में रहने वाली आत्मा का विज्ञान है ? हर आत्मा को विवेक की आवश्यकता है। इस अमूल्य जीवन का यदि मानवता के धरातल पर सदुपयोग किया जाय और आध्यात्मिक धरातल तक अन्तर शक्ति का समीक्षण किया जाय तो यह बाहरी सम्पत्ति, वैभव उसके चरणों में लोट-पोट हो जायेगा। वह ठोकर मारेगा तो भी उसके साथ पड़ेगा। स्वर्ग का राजा इन्द्र भी नतमस्तक हो जायेगा। विश्व का वैभव एक तरफ, विश्व की सारी सम्पत्ति एक पलड़े में रख दी जाय और इधर मानव जीवन का मूल्य, मानव जीवन की गरिमा दूसरे पलड़े में रख दी जाये, तब भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इतना बहुमूल्य जीवन अन्य प्राणियों

को उपलब्ध नहीं हुआ है । पशु योनि में रहने वाले वे पशु, उनमें भी आत्मा है । परन्तु विवेक-ज्ञान नहीं । स्वर्ग की आत्मा शारीरिक दृष्टि से सौन्दर्य से असाधारण है । परन्तु जो क्षमता मानव तन में है वह उनमें नहीं है । नरक में रहने वाली अनेक आत्मायें इस मनुष्य तन का दुरुपयोग करके दण्ड भोग रही हैं, सजा भोग रही हैं । वहां भी उसके विकास का प्रसंग नहीं है जो इसी तन में मानव जातीय जीवन में है । परन्तु इसका सदुपयोग तभी हो सकता है, जबकि वह विवेक का दीपक लेकर चले ।

दुर्लभता : मानव जीवन की

भगवान् महावीर ने स्वयं ने उद्‌घोषित किया है कि—

चत्तारि परमंगाणि दुल्हहाणि य जंतुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा संजमम्मि य वीरियं ।।

जिन्होंने समग्र ज्ञान को प्राप्त कर लिया है । केवल ज्ञान, केवल दर्शन से सम्पन्न बने । अर्थात् आध्यात्मिक उपलब्धि से जो ज्ञान प्राप्त किया वही भव्य प्राणियों के लिए उपस्थित किया । इस प्राणी को चार अंगों का मिलना बड़ा दुसाध्य है । अंग का तात्पर्य तो आप समझ गये होंगे । जैसे मनुष्य के शरीर के अंग, हाथ पैर, सीना वगैरह सारे अंग हैं वैसे ही जीवन के चार अंग बताये हैं, उनमें सबसे पहला अंग "माणुसत्त" मनुष्यपना, मानवता, इन्सानियत है । जिसमें मानवता ठीक तरह से व्याप्त हो गई, मानवता से जो व्यक्ति लबालब भर गया, वह मनुष्यपने की स्थिति को वर सकेगा । मनुष्य जीवन की दुर्लभता सिर्फ दो हाथ, दो पैर, दो आंखें, दो कान आदि की उपलब्धि मात्र ही नहीं है ।

मानव की इतनी पैदाइश कैसे ?

शास्त्रीय वचनों को सुनकर कई महानुभावों के मस्तिष्क में प्रश्न उपस्थित होगा कि शास्त्रकार मनुष्य जीवन की दुर्लभता बता रहे हैं । परन्तु आज के युग में मनुष्य बहुत पैदा हो रहे हैं । परन्तु बन्धुओ ! अपने कर्त्तव्य कर्मों से वे ऐसे ज्ञात हो रहे हैं, जो मनुष्य के सर्वथा योग्य

नहीं हैं। पशु जगत से भी वदतर कार्य हो रहे हैं। राक्षसी वृत्ति आज के वहुतांश मनुष्यों में व्याप्त हो रही है। कुकर्म करने वाले मनुष्य, मनुष्य होते हुए भी पशु, राक्षस हैं। मनुष्तत्व की प्राप्ति तो पुण्यवानी से मिलती है। मनुष्य तन मिलने में इतनी कठिनाई नहीं, जितनी कठिनाई मनुष्यत्व के मिलने में है। अत: संख्या को देखते हुये आपकी दृष्टि में दुर्लभ मानव तन सुलभ बनता जा रहा है। सरकार संतति नियन्त्रण कर रही है, आपके विचार बनते होंगे कि गत वर्षों से इन वर्षों में मानवों की संख्या वहुत वढ़ गई है। बन्धुओ! इस जिज्ञासा तृप्ति के लिए शास्त्रीय वचनों पर ख्याल करना है। शास्त्रकारों ने दो हाथ, दो पैर के मनुष्य की बात नहीं कही है। ऐसी आकृति के तो बहुत सारे मनुष्य पैदा हो सकते हैं। उनमें अपेक्षाकृत पुण्यवानी की तो आवश्यकता है। वास्तव में मनुष्यपने की दुर्लभता है। आज मनुष्य बहुत हैं, परन्तु मानवता कितनी है? एक-एक मानव की पिक्चर देखी जाय, एक-एक मानव के जीवन का चलचित्र लिया जाय और जीवन का कुछ न कुछ निचोड़ रखा जाय तो पता लगेगा कि मानव किस तरह चल रहा है?

मानवता की खोज

फॉरेन में एक वहुत वड़े दार्शनिक कुछ वस्तुओं की खोज करने के लिये निकले। मध्याह्न का सूर्य तप रहा था, सूर्य का स्पष्ट प्रकाश होते हुये भी अपने हाथ में जलता हुआ गैस लेकर चल रहे थे। साथ ही आने-जाने वाले व्यक्ति को देखने के लिये वार-वार गैस उठा रहे थे। यह देखकर नागरिकों ने आपस में कहा कि ये कौन हैं? कहां से पागल आ गया है? अरे! सूर्य का तेज प्रकाश मौजूद है तो भी यह पागल गैस जला कर चल रहा है। वस्तु का दुरुपयोग कर रहा है और समय को व्यर्थ में नष्ट कर रहा है। दूसरों को गैस से देख रहा है तो पागल नहीं तो क्या है?

परन्तु चिन्तक व्यक्तियों ने गहराई से इसका चिन्तन किया। और उससे पूछा कि आप यह क्या कर रहे हैं? हँसी की वात वन रही है, लोग मजाक उड़ा रहे हैं कि दिन में गैस जलाकर क्या देखने की चेष्टा कर रहे हैं? उस दार्शनिक ने कहा—मैं मानवता की खोज

कर रहा हूं। जहां नदी के प्रवाह की तरह जो मानव समुदाय चल रहा है, उसमें वास्तविक मानव कितने हैं, सूर्य का प्रकाश कम पड़ जाय तो गैस जलाकर बारीकी से देखना चाहता हूं कि मानवता दिख पाती है या नहीं ? पर उस दार्शनिक को मानवता दृष्टिगत नहीं हुई।

अन्तरंग जीवन के चित्र

बन्धुओ ! आप चिन्तन कीजिये कि आज मानव क्या सोचता है और क्या नहीं सोचता ? आज का विज्ञान किस रूप में दुनिया के सामने आ रहा है ? जहाँ विज्ञान का आविष्कार भौतिकता की दृष्टि से हुआ तो कम्प्यूटर भी दुनिया के सामने आ गये। और कुछ ऐसी मशीनें भी सामने आ चुकी हैं कि व्यक्ति के विचारों को वह जान सके। व्यक्ति चलता फिरता ही अपने विचारों के अनुरूप अपने फोटू तैयार करता है और वह इस वायु मण्डल में छोड़ देता है। इस वायु मण्डल में, इस आकाश में प्रत्येक व्यक्ति का मानसिक चित्र आज का वैज्ञानिक देखने की चेष्टा कर रहा है।

वह देखना चाह रहा है कि मनुष्य किस चित्र वाला है ? बाहरी स्थूल शरीर का तो फोटू लिया जाता है। इसका चित्र लेकर मनुष्य खुश होता है कि मेरी ऐसी सुन्दर आकृति है परन्तु उसके पीछे उसका जीवन कितना सुन्दर और पवित्र है, उसकी आकृति तो बाहर के इन फोटुओं से नहीं देख सकते। डाक्टर लोग भीतर के कुछ फोटू उतार सकते हैं। फोटू उतारने वाले डॉक्टर सा० भी आ गये हैं। जिन्होंने न मालूम कितने फोटू उतार लिये होंगे। परन्तु मनुष्य के मानसिक विचारों का एक भी फोटू यथार्थ रूप में लिया या नहीं ? इसमें सन्देह है। फॉरेन के लोग अन्तरंग के फोटू खींचने के लिये त्वरित गति से बढ़ रहे हैं। परन्तु याद रखिये, आगे बढ़ने वाला यह शरीर नहीं, आत्मिक शक्ति है। मनुष्य के जीवन में विचारों को समझने की क्षमता आ जाय तभी कह सकते हैं कि आगे बढ़ रहा है। परन्तु वह तभी आ सकती है जब समता को जीवन में स्थान दें।

आज के लोगों का मस्तिष्क

आकृति के मनुष्य दीख पड़ते हैं। परन्तु भीतर से कैसे दिखते हैं ? मैं इस सूक्ष्म चर्चा को विज्ञान और आध्यात्मिकता की दृष्टि से

ज्यादा रखने की स्थिति में नहीं हूं क्योंकि आप जानते हैं कि आज अवकाश का दिन है और अवकाश के दिन कई भाई अपने अन्य कार्यों को छोड़कर आये हैं। वे सोचते होंगे कि महाराज अन्तरंग जीवन का फोटो बतलाने लगे हैं। हमें तो कुछ समझ में नहीं आता, क्योंकि अधिकांश मानवों की ऊर्जा अपनी पारिवारिक समस्याओं में ही उलझी हुई है। उसे गहन विषय समझाना बहुत मुश्किल है। भौतिकता की उलझनों से आज के बुजुर्ग और युवकों में कैसी मायूसी छाई हुई है ? वे अपने कार्यक्षेत्र में गति नहीं कर पा रहे हैं। आज लोगों में चाहिये जैसा उत्साह नहीं है। वे अलग पड़ रहे हैं। बुजुर्ग और युवकों के बीच एक दीवार सी खड़ी हो रही है।

युवकों की धर्म के प्रति अरुचि का मूल

बन्धुओ ! सोचने का विषय है कि बुजुर्ग आज युवकों की गलतियां निकालते हैं कि वे आज बिगड़ गये। वे कॉलेज में अपनी जिन्दगी व्यतीत कर रहे हैं। वे धर्म-कर्म को भूल गए। न माँ-बाप की सेवा करते हैं और न विनय धर्म को समझते हैं। अपनी स्वच्छन्दता से ही चलते हैं। इस प्रकार के आरोप बुजुर्गों के चलते हैं। तो युवक लोग भी पीछे नहीं रहते हैं। वे कहते हैं कि हम क्या धर्म-कर्म करें ? धर्म कर्म का स्वरूप तो पहले हमें समझाया जाए।

आज के युग में बौद्धिक धरातल का बहुत विकास हुआ है। वे अपने बौद्धिक विकास से आत्मा और परमात्मा के विषय में प्रश्न करते हैं। भगवान् ने कहा "माणुसुत्तं दुल्लहा" मनुष्यत्व दुर्लभ है तो सिद्ध कीजिए। साधु क्या है ? आचरण क्या है ? ऐसे कई प्रश्न युवकों के होते हैं। वे उनका समाधान चाहते हैं। उनके मन में जिज्ञासा है। जिज्ञासा से ही वे माता-पिता के सामने पेश आते हैं। पर जब बुजुर्ग लोग समाधान नहीं कर पाते और डांट देते हैं कि तुम नास्तिक हो गए हो जबकि वे नास्तिकता से प्रश्न नहीं करते, परन्तु समझने के लिए प्रश्न करते हैं। यदि उनका समाधान योग्य स्थल पर हो जाय— माता-पिता कर दें तो वे कभी धर्म से विमुख नहीं बनते। मैं कभी-कभी सोचता हूं कि बड़े बुजुर्गों में जितनी तत्त्वों की रुचि नहीं है, उतनी आज के पढ़े-लिखे युवकों में है।

वे समझना चाहते हैं। उनकी भाषा में उनको समाधान मिलना चाहिए। माता-पिता यदि समाधान नहीं दे पायें तो उनको सौम्य शब्दों में समझाना चाहिए कि तुम्हारे प्रश्न उत्तम हैं, परन्तु मेरे अन्दर इतनी योग्यता नहीं है। तुम नोट कर लो, कोई अच्छे सन्त आयेंगे तब तुम्हें ले जाकर तुम्हारे प्रश्नों का समाधान कराऊंगा। इस प्रकार से समझाया जाय तो वे धर्म से किनारा नहीं करेंगे। ऐसे शब्दों के बजाय यदि आप उन्हें डांट देते हैं, उनकी जिज्ञासावृत्ति को ठुकरा देते हैं तो वे धर्म के नजदीक भी होते हैं तो हट जाते हैं। कभी युवक सन्तों के पास पहुंचें और वे उनका समाधान नहीं कर पायें तो सन्त सरलता से कह दें कि जितना मेरे में ज्ञान है उसी से समाधान कर रहा हूं फिर भी तुम्हारा समाधान नहीं हो पाया हो तो कोई बड़े विद्वान् सन्त आयें तो उनसे अपनी तृप्ति कर लेना। इस प्रकार सरलता से व्यवहार हो जाता है तो कभी वे धर्म से दूर नहीं भागते हैं। परन्तु जो स्वयं भी समाधान नहीं करते और तिलमिला जाते हैं, उसे डांटने लगते हैं कि तुम तो बिगड़ गए हो, तो युवक नजदीक आते हुए भी दूर भाग जाते हैं।

युवकों में कई खूबियां भी हैं, परन्तु बुजुर्गों का क्रियाकलाप क्या हो रहा है? जब उनका व्यवहार भी ठीक नहीं बनता है, उनकी धार्मिक क्रिया भी ठीक नहीं बनती है। सामायिक संवर, पोषध धार्मिक क्रियायें करते हुए कहीं त्रुटि रह गई हो तो उसे सरलता से स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार करने पर युवक और बुजुर्गों में अच्छी तरह समझौता हो सकता है। युवक सोचें कि ये बुजुर्ग हैं, अनुभवी हैं, और इनमें होश है तो हम युवक जोश के साथ इनकी छत्रछाया में क्रान्ति करें। परिवार, समाज और देश—राष्ट्र में क्रान्ति करें। इस प्रकार दोनों परस्पर समझ कर चलें तो दोनों में समन्वय सध सकता है। अलग-अलग कड़ी हो जाय तो समन्वय नहीं सध सकता। मानव अपने जीवन को निखार सकता है, अपनी लाइट जगा सकता है। परन्तु जगेगी कब? जबकि खुद की तैयारी होगी। भगवान् महावीर ने इसीलिए पहले मानवता की बात कही। इसके लिए सबसे पहले खूबी आनी चाहिए कि युवक और बुजुर्गों का जो संघर्ष है वह समन्वय के रूप में परिणित हो जाय। बुजुर्गों के क्या विचार हैं, इसे युवक समझें, और युवकों के क्या विचार हैं इसे बुजुर्ग समझने की क्षमता रखें। यह नहीं कि जरा-जरा

सी वात पर तिलमिला उठें। वुजुर्ग उनकी वात पूरी तरह सुनें और शांति के क्षणों में उनका उत्तर दिया जाय। इस प्रकार समन्वयता का मार्ग निकल आता है।

आज के युवकों को मानवता के धरातल पर विशेष आदर्श प्रस्तुत कर एकता का भव्य प्रसंग उपस्थित करना चाहिए। जव तक उनमें एकता नहीं आएगी, तव तक युवक भी कुछ नहीं कर पायेंगे। अमूल्य मानव तन निरर्थक चला जाएगा। मैं तो चाहता हूं कि युवक धक्के खायें तव भी आगे वढ़ें। मैं कभी-कभी रूपक दे दिया करता हूं कि प्रगतिशील युवक है तो वह अपने रास्ते पर चलता रहता है। कितनी ही आपत्तियां आयें परन्तु हतोत्साहित नहीं हों, अवाध गति से चलते रहें, लेकिन जोश और होश वरावर रखें। केवल होश रखें, जोश नहीं रखें या केवल जोश रखें परन्तु होश नहीं रखें तो काम नहीं चलेगा। जव दोनों आ जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि गति और प्रगति में रुकावट हो।

जल प्रवाह और मानव

विज्ञान की दृष्टि से मनुष्य के शरीर में पानी का भाग ज्यादा है। पानी से शिक्षा लेनी चाहिए। पानी गतिशील होता है, पानी कहीं भी गिरे, रास्ता वना लेता है। कितना ही वड़ा पहाड़ आए परन्तु वह अपना रास्ता वना कर चला जाता है। वड़ी से वड़ी चट्टान आ जाय तो उसको भी भींगी कर देता है और जिधर से रास्ता मिलता है चला जाता है। पानी की गति की तरह यदि मानव की गति वन जाए, वह शीतल ठण्डा वन जाय, क्षमाशील होकर चल पड़े तो उसकी गति कैसे रुक सकती है? कई देशों की घटनायें हैं कि युवकों ने वहुत कुछ करके दिखाया है। परन्तु जीवन की दृष्टि से तो जिसमें पानी की तरह तरलता और ठण्डक हो तो वे चाहें वृद्ध हों, वच्चे हों, सव तरुण हैं। अहमदावाद जैसे शहर में युवा और वुजुर्गों के मन में समन्वयता नहीं हो तो विचारणीय विषय वन जाता है। मैं तो परामर्श देता हूं कि सभी अपने यथायोग्य कर्तव्यों को निभायें। वुजुर्ग अपने कर्तव्यों का पालन करें और युवक अपने कर्तव्यों का।

जन सत्ता क्या नहीं कर सकती ?

कल कुछ प्रकरण चला कि अण्डे का प्रचार हो रहा है। वह अण्डे की बात शास्त्रीय दृष्टि से, विचारों की दृष्टि से, कोई व्यक्ति कदाचित् अलग विचार रखे। परन्तु मानवता की दृष्टि से, सद्विचारों की दृष्टि से मानव-मानव को एकता की भावना से चलना चाहिए। कल अण्डे आदि को लेकर प्रसंग चला था तो मन्त्रीजी कहने लगे कि हमारी संख्या (राजस्थानियों की) थोड़ी है। मैं सोचता हूं कि राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात, कुछ भी हो। परन्तु आप दिशा-भेद से अपने मनों में भेद मत डालिए। यह तो प्रान्तों की वजह से अलग-अलग भाषा भेद है। परन्तु मानवता में भेद नहीं आ सकता। विचारों में स्वतन्त्रता हो सकती है परन्तु ऐसी चीजों में सभी मानवीय संस्कृति वाले मानव एक हो सकते हैं। मैंने सुझाव दिया था जैसा कि आपने बताया कि यहां पांच लाख जैन हैं। और जहां इतने जैन रहते हों उन सब की एक आवाज हो तो दुनियां को गुंजा सकते हैं, सरकार को हिला सकते हैं।

जो अग्रवाल, ओसवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण हैं वे सब भी इसमें एक हो सकते हैं। और एक स्वर से इसका बहिष्कार करना चाहिये। अरे! जहां सरकार भी बदली जा सकती है तो यह तो कुछ ही वस्तुओं के उपयोग-अनुपयोग की बात है। अभी-अभी इन वर्षों में सरकार में कितना उठाव-पटक हुआ है। इस परिवर्तन का मुख्य आधार जन सत्ता ही तो रही हुई है। लेकिन आज तो क्या हो रहा है, भाई-भाई से भी बोलता नहीं है। बीच में संघर्ष की दीवार खड़ी है। समझ में नहीं आता? क्या चन्द चांदी के टुकड़ों को साथ में लेकर जाना है? आप इन बातों पर गौर कीजिए। यथा-योग्य समन्वय का भव्य प्रसंग उपस्थित करिये। जो व्यक्ति अपने मानवीय धरातल पर रहता है तो वह सारे राष्ट्रों को झुका सकता है। वह सबको नतमस्तक करा सकता है।

मानवता–परीक्षक नीतिवाहन

बनारस–काशी नगरी के नरेश विजय वाहन जब स्वर्गस्थ हो गये उनका सुपुत्र जो नीतिवाहन था, बड़ा बुद्धिमान था। उसमें बड़ी

सकता थी। उसने विचारा कि राज्य मुझको प्राप्त हुआ तो इसे बेकार न करूँ। यह सोच में चलते जाता था। उसने सोचा कि राज्य का तिलक इस प्रकार से चला आ रहा है कि पूर्व का राजा [illegible] हो जाय तो उसके सिंहासन पर युवराज बैठकर राजा बनता है। उसका राज्याभिषेक पुरोहित, सेनापति, दीवान और उच्चवर्गीय अधिकारी लोग करते हैं। यह रूढ़ राज्य की परम्परा है। परन्तु यह परम्परा मानवता के अनुकूल नहीं है। यह विचार मैं अब तक कर रहा हूँ। यह दीवान है, सेनापति है, इनका तो नाम ऊँचा है और दूसरे नीचे हैं तो उनके हाथों से अभिषेक नहीं हो सकता है। यह लोगों के मन में हीन भावना पैदा करने वाली है। मैं राजा बनने वाला हूँ, अभिषेक होने वाला है। परन्तु किससे अभिषेक कराऊँ? जो मानवता के उच्च स्तर पर नैतिकता को बहुत [illegible] [illegible] [illegible] हैं। मैं उन्हीं व्यक्तियों को अधिकारी और एकाधिकारी समझता हूँ जिनमें मानवता है। परन्तु जो मानवता के स्तर से गिरे हुए हैं, वे चाहे सेनापति हों या दीवान परन्तु उनमें मानवता की भूमिका नहीं है, ऊँच और नीच की स्थिति नहीं है जो मैं ऐसे व्यक्ति को ऊँची स्थिति में रहे समझता हूँ। उनके हाथ से अभिषेक नहीं कराना चाहता हूँ। यह निर्णय [illegible] होगा, पर मैं इसे तोड़ना चाहता हूँ। इससे मैं मानवीय कर्तव्य से विचलित नहीं होता हूँ।

निश्चय कर लिया मन में कि इनसे अभिषेक [illegible] [illegible] से नहीं कराना। और जब दीवान जी कहने लगे कि युवराज! राज्याभिषेक का मुहूर्त निकलवाता है? तो [illegible] ने कहा कि [illegible] ठीक है। पर मैं कुछ और ही सोच रहा हूँ। दीवान ने पूछा—आप क्या सोच रहे हो? तब युवराज ने कहा—यह समय पर बताऊँगा। [illegible] परन्तु राज्य में एक ऐलान कराना चाहता हूँ कि जिनको भी [illegible] [illegible] हो मानवीय दृष्टि से जीवन गुजारने के लिए मैं उन व्यक्तियों की लिस्ट बनाइए और मेरे सामने पेश करें। मैं उनका [illegible] कराने के लिए सोचूँगा। यह सुनकर दीवान जी आश्चर्य में पड़ गये और कहने लगे कि आप यह कार्य कर रहे हैं तो क्या [illegible] [illegible] [illegible] जोगी करना चाहते हैं? युवराज ने कहा—दीवान जी! मैं और [illegible] [illegible] का प्रार्थी हूँ। आप मेरी आज्ञा का पालन कीजिये। और तब [illegible]

के कर्णगोचर यह ऐलान हुआ कि राजकुमार राज्याभिषेक कराने से पहले जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहते हैं। वे लिस्ट पेश करें। परन्तु ईमानदारी से करें।

आवश्यकतायें किसके कितनी ?

अब कौन क्या सोचे ? जब मिलने वाला था तो जिसको आवश्यकता न थी, उसने भी आवश्यकता लिख दी। और जनता के अन्दर से जो लिस्ट मिली तो देख कर सब हैरान हो गए। अरे ! गरीबों को तो आवश्यकता थी वह तो ठीक है, उचित है। परन्तु धनवानों ने भी अपनी आवश्यकतायें लिख दीं। जो इस लिस्ट को ले रहा था वह हैरान हो गया। उसने सारी लिस्टें युवराज के सामने रखीं और कहने लगा कि आप देख लीजिए। आप तो मानवों में समानता लाना चाहते हैं, आप किसे इन्कार करेंगे ? इसमें अफसर, दीवान वगैरह सब कोई आ गए। यहां भी यदि कोई ऐलान किया जाय कि अपनी-अपनी आवश्यकता की लिस्ट रख दें तो पता लग जायेगा। और यदि यहां के दलाल, दयापौषध की लिस्टें बनाने लगें तो कितनी लिस्टें आयेंगी। जहां मानवता लाना है वहां तो मानव जरा सिकुड़ता है।

खैर ! युवराज के सामने दीवान जो बैठे और कहा—हुजूर ! इन लिस्टों के मुताबिक तो यह खजाना जितना है उतना उलटना पड़ेगा। गरीब बनना पड़ेगा। और फिर अभिषेक होगा तो आपको राजा कौन मानेगा ? परन्तु उस समय युवराज बड़े गम्भीर थे। क्योंकि उनके सामने मानवता की समान भूमिका थी। जोश के साथ होश के समन्वय की दृष्टि से चले, मानव के साथ मानवता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। रास्ता ढूंढ़ना चाहते थे कि कैसे क्या करूं ? लिस्ट देखकर युवराज ने दीवान को उत्तर दिया कि आपकी बात मान्य है। लिस्ट तो देख ली, परन्तु एक बार फिर सर्वे करो कि गरीब या अमीर कोई बाकी तो नहीं रह गया है ? सरकारी कर्मचारी घर-घर पहुंचने लगे। सारे गांवों में घूम गए।

मानवता का ज्वलन्त प्रतीक : एक किसान

एक गांव में एक किसान जो पढ़ा-लिखा था और घास-फूस की झोंपड़ी में रहता था। उसके थोड़ी सी खेती थी, जिससे जीवन निर्वाह

भी पूरा नहीं होता था। लकड़ियां काट कर बेचता था। वस्त्र भी पूरे तन पर नहीं थे। इसलिए फटे पुराने वस्त्र पहन रखे थे। पैरों में जूतियां और सिर पर पगड़ी नहीं थी। उसके गांव में कर्मचारी पहुंचे और पूछा कि इस गांव में—तुम्हारे गाँव में कोई निवेदन करने वाला अवशेष तो नहीं रहा ? गांव के सदस्यों ने कहा—हां हुजूर ! एक बुद्धिहीन किसान गांव के बाहर झोंपड़ी बना कर रहता है। वह बाकी रह गया है। वह तो इतना बुद्धू है कि निवेदन नहीं दे रहा है। हम उसके पास निवेदन लिखाने के लिए पहुंचे तो उसने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं तो अपने पुरुषार्थ बल पर विश्वास करता हूं। मानवता की भूमिका पर मानवता को तिलाञ्जलि देने वाला कार्य नहीं कर सकता हूं। हां ! पुष्टि करने वाला कार्य कर सकता हूं। सरकार देना भी चाहे तो भी मैं कुछ नहीं लेना चाहता। यह सुनकर पुलिस के जवान उसके यहां पहुंचे, उनको देखकर किसान ने मानवता के नाते सत्कार किया। इस दृष्टि से नहीं कि सरकारी पुलिस है। किसान ने एक चटाई डाल दी और बैठाया। और कहने लगा कि आप दूर से चल कर आये हैं तो कुछ प्यास लगी होगी। सचमुच वे प्यासे थे। उनकी प्यास बुझाई। पुलिस ने कहा—हम यहां इसलिये पहुंचे हैं कि अजीव राजकुमार मानवों में एकता लाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि निवेदन करने में कोई भी अवशेष नहीं रहना चाहिये। अतः तुम भी अपनी मांग को पेश करो। उसने कहा कि मुझे नहीं करना है। उन्होंने कहा—मत करो। परन्तु युवराज के सामने तो चलो। तो वह उनके साथ चला गया। शिष्टाचार साधा। युवराज ने उसकी तरफ एक दृष्टि डाली। सिर से पैर तक उसको देखा। वे युवराज आज की पढ़ाई वाले युवराज नहीं थे। उन्होंने सरकारी नीतियों के अलावा मानवीय धरातल पर मानवता को पहचानने की कला भी सीखी थी। उन्होंने जब अवलोकन किया तो ऊपरी आकृति की सौम्यता है, फटे वस्त्र हैं, पैरों में जूतियाँ नहीं हैं, ब्याऊँ फट रही हैं, सिर पर कुछ नहीं है। परन्तु उत्साह का पुतला है।

युवराज उसको देखकर जोश में आ गया कि मेरे नगर में ऐसा उत्साह रखने वाला गरीब मनुष्य भी मिल सकता है। तब युवराज ने कहा—भाई ! तुमने आवेदन पत्र क्यों नहीं पेश किया ? जबकि तुम्हारी ऊपरी आकृति बता रही है कि तुमको बहुत कुछ आवश्यकता

है। परन्तु तुम क्यों नहीं लिस्ट पेश कर रहे हो ? तब उसने कहा—हुजूर ! आपकी कृपा दृष्टि चाहिये। मेरे पास ऊपरी स्थिति तो नहीं है। परन्तु मानवता की थाती है। मेरे शरीर के अंग-उपांग आप देख रहे हैं। इनमें सब कुछ पूर्ति करने की क्षमता है। मैं नैतिक तरीके से प्राप्ति करता हूं। अनैतिक तरीके से मुफ्त का नहीं लेना चाहता हूं। यह आपके खजाने की जो चीजें हैं वे आपकी नहीं, जनता की हैं उन्हें यों ही नहीं लुटा दें। मानव-मानव में दरारें पड़ रही हैं, उनको पाटने के लिये यह खजाना है। ये दीवान, ऑफीसर, धनवान यदि और लेना चाहते हैं तो ये मुफ्त खोरे नहीं तो और क्या हैं ?

मैं यही कहना चाहता हूं कि जनता सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करें। आप इन पुरुषों के पीछे यदि जनता के पैसों को खर्च करेंगे तो बड़ी अराजकता फैल जायेगी। यह सुनकर युवराज सोचने लगा कि मैंने कल्पना भी नहीं की थी कि कोई मुझको भी उपदेश दे सकेगा। युवराज ने कहा—भाई ! यह तो तुम्हारा सुझाव ठीक है कि जो कर्मचारी हैं, ऑफीसर हैं, उन्होंने जनता से और मुझसे लेकर घर भर लिया है और अब इसकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु तुम तो आवश्यकता वाले हो। तुम क्यों नहीं निवेदन करते हो ? तब उसने कहा—हुजूर ! आपकी बात ठीक है। परन्तु मैं घरेलू निवेदन करना चाहता हूं, क्योंकि मेरे पास तो भुजबल है। मुझे केवल पेट की आवश्यकता है, पेटी की आवश्यकता नहीं, वह मैं पुरुषार्थ द्वारा लेता हूं। और जिस दिन पेटी के पीछे पड़ गया तो मानव न रह कर दानव बन जाऊँगा।

चार अंगों की स्थिति कितनी क्या है मानवों में ?

बन्धुओ ! सोचो कि भगवान् महावीर के यही तो वचन हैं—"माणुसत्तं सुइ सद्धा" जब तक मानवता नहीं आयेगी तो सच्चे माने में शास्त्र का श्रवण नहीं होगा। आज तो शास्त्र श्रवण भी दुर्लभ हो रहा है। चन्द चाँदी के टुकड़ों की जो लालसा लग रही है, उसके पीछे एक घण्टा भी वीतराग वाणी का श्रवण नहीं कर पा रहे हैं। श्रवण करलें तो जल्दी श्रद्धा नहीं जगती और श्रद्धा आ जाय तो आचरण जल्दी

से नहीं बनता। वीतराग सर्वज्ञ तो मानव की अन्तरंग और बाहरी बातों को जानने वाले थे। उन्होंने जो कुछ कहा है वह तहमेव में सत्य है।

अभिषेक एक किसान द्वारा

हाँ तो युवराज उस किसान—फटे हाल की मानवता से ओत-प्रोत वाणी को सुनकर फूला नहीं समाया। और उसी समय दीवान, सेनापति, अफसरों को सामने बुलयाया और कहने लगा कि आज आप ऊँची-ऊँची पदवियाँ लेकर चल रहे हो और ऊँचे-ऊँचे कहलाते हो परन्तु आप में मानवता कितनी है और इसमें मानवता कितनी भरी हुई है? जबकि इसको हर चीज की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु आग्रह करने पर भी नहीं ले रहा है। और आप लोगों ने इतनी लम्बी लिस्ट बनाकर भेज दी। मैं पूछता हूं कि आप इनका क्या करोगे? यह सम्पत्ति तो एक दिन नष्ट हो जायेगी पर मानवता अमर रहेगी। अब मैं राजा बनना चाहता हूं। पर मेरा राज्याभिषेक आप से नहीं होगा। मानवता के प्रतीक, नैतिक, प्रामाणिक इस पुरुष से होगा।

जब उस नीति वाहन ने यह ऐलान करवाया तो सब ठण्डे हो गये। लोग उसे कहने लगे कि अब तो तुझे ही अभिषेक करना है। कुछ कपड़े तो अच्छे पहन ले। तो वह कहने लगा – नहीं! मैं तो इन वस्त्रों में ही करूंगा। उसने अभिषेक किया। सबके मुँह से निकला कि मानवता की जीती जागती मूर्ति यह किसान है। सब ने सोचा कि अब हमको भी जीवन में जीवित मानवता लाने की चेष्टा करनी चाहिये। देखिये! कितना भी प्रलोभन आने पर भी उस किसान ने अपनी नैतिकता और मानवता नहीं छोड़ी।

समीक्षण करो जीवन का

बन्धुओ! आप यह बात तो सुन गए। मैं तो युवकों और बुजुर्गों को कहूंगा कि वे समन्वयात्मक स्थिति पैदा करें। मानवता अपनायें, समीक्षण जीवन पद्धति से चलें। चाहे कितनी ही धक्का-मुक्की मिले, आपत्तियां आयें, परन्तु एकता के सूत्र में बंधे हैं तो एक दिन वे सारे संसार को एकता के सूत्र में बांध सकते हैं। आज क्यों अलग होते हैं युवक और बुजुर्ग लोग? यह प्रसंग प्रत्येक व्यक्ति के लिए सोचने का है।

मैं पहले बोल गया था कि वैज्ञानिक मानसिक चित्र ले सकते हैं, परन्तु वे क्या, आप भी ले सकते हैं। आप आँखें बन्द करके देखिए कि आपकी मन की वृत्तियां कैसी हैं ? वे मानव की हैं या दानव की हैं ? आप तटस्थ रूप में समता के साथ, समीक्षण ध्यान पूर्वक देखेंगे तो आपको ज्ञात हो जाएगा। इस ध्यान साधना में आगे बढ़ेंगे तो अन्यों के भी चित्र उतारने लगेंगे।

बन्धुओ ! आप इस मनुष्य जीवन का अवमूल्यन नहीं करें। चन्द चांदी के टुकड़ों के पीछे अपमान नहीं करें। मानवता से न गिरें। मानवीय धरातल के साथ, समता के साथ एक होकर इन सब बातों का चिन्तन करें कि हमको समाज में क्या सुधार करना है ? धार्मिक क्रियाओं के लिए, स्वाध्याय के लिए आपको सयय क्यों नहीं मिल रहा है ? ऐसे ही जिन्दगी क्यों बर्बाद कर रहे हैं ? जब तक मानवता के धरातल पर तैयारी नहीं होगी तो मानव के अन्दर का आतमराम प्रकट नहीं होगा।

बल्ब का घेरा है, तभी तो उसमें बिजली का प्रकाश आता है। उस समता के बल्ब समीक्षण ध्यान के माध्यम से मानवता का प्रकाश फैलाना है। जो अपने जीवन में मानवता और समता लाने का प्रयत्न करेंगे और जीवन का मूल्यांकन करेंगे तो उनका जीवन इस लोक में और परलोक में, उभय लोक में आनन्दमय बनेगा।

